संस्कृत-विमर्शः

नवशृङ्खला

अङ्कः - 12 (जनवरी-जून) वर्षम् 2017

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

(भारतशासन-मानवसंसाधनविकासमन्त्रालयाधीनः

राष्ट्रियमूल्याङ्कन-प्रत्यायनपरिषदा 'ए'-श्रेण्या प्रत्यायितः मानितविश्वविद्यालयः)

नवदेहली

प्रकाशकः
कुलसचिवः
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
56-57, इन्स्टीट्यूशनल एरिया
जनकपुरी, नवदेहली-110056

e-mail : rsksrp@yahoo.com
website : www.sanskrit.nic.in

© राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

ISSN : 0975-1769

संस्करणम् : 2017

प्रत्यङ्कम् - 50.00

मुद्रकः
डी.वी. प्रिंटर्स
97-यू.बी., जवाहर नगर, दिल्ली-110007
मो.: 9818279798, 9990279798

SAṂSKṚTA-VIMARŚAḤ

New Series

Vol.-12 **(January-June)** **Year 2017**

Rashtirya Sanskrit Sansthan
(Deemed to be University)
Under Ministry of Human Resource Development
Govt. of India
Accredited by NAAC with 'A' Grade
New Delhi

Publisher :
Registrar
Rashtriya Sanskrit Sansthan
Deemed University
56-57, Institutional Area,
Janakpuri, New Delhi-110056

e-mail : rsksrp@yahoo.com
website : www.sanskrit.nic.in

© Rashtirya Sanskrit Sansthan

ISSN : 0975-1769

Edition : 2017

Rs. 50.00

Printed :
D.V. Printer
97, UB, Jawahar Nager, Delhi-110007
Mob. 9818279798, 9990279798

परामर्शदातृ-समितिः

1. **प्रो. वी. कुटुम्ब शास्त्री,**
   36, एवरग्रीन अपार्टमेण्ट, प्लॉट न. 9,
   सेक्टर-7, द्वारका, नई दिल्ली-110075

2. **प्रो. के.वी. रामकृष्णमाचार्युलु,**
   4-45 अपोजिट सत्य सांई मंदिर,
   सत्य सांई नगर, सांई नगर पंचायत,
   तिरुपति (आन्ध्र प्रदेश) - 517503

3. **प्रो. रामचन्द्रपाण्डेयः**
   38, मानसनगर दुर्गाकुण्डः, वाराणसी (उ. प्र.)

4. **प्रो. किशोरचन्द्रमहापात्रः**
   श्री जगन्नाथसंस्कृतविश्वविद्यालयः, पुरी (उड़ीसा)

5. **प्रो. आजादमिश्रः**
   2/239, विरामखण्डः-2, गोमतीनगरम्
   लखनऊ, (यू. पी.) 226010

6. **प्रो. जि.एस्.आर. कृष्णमूर्तिः**
   राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्,
   तिरुपतिः - 517507 (आन्ध्रप्रदेशः)

7. **प्रो. श्रीपादभट्टः**
   राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्,
   तिरुपतिः - 517507 (आन्ध्रप्रदेशः)

✦✦✦

Advisory-Board

1. **Prof. V. Kutumba Sastry,**
   36, Evergreen Appartment Plot-9
   Sect. 7, Dwarka, New Delhi-110075

2. **Prof. K.V. Ramakrishnamacharyalu,**
   4-45, opp. Satyasai Mandir
   Stayasai nagar, Satya Sainagar panchayat
   Tirupati (A.P.) - 517503

3. **Prof. Ram Chandra Pandey**
   38, Manas Nagar, Durgakund
   Varanasi (U.P.)

4. **Prof. Kishor Chandra Mahapatra**
   Sri Jagannath Sanskrit Vishvavidyalaya
   Puri (Odisha)

5. **Prof. Azad Mishra**
   2/239, Viramkhand-2
   Gomatinagar, Luknow-226010

6. **Prof. G.S.R. Krishnamurty**
   Rashtriya Snaskrit Vidyapeetha
   Tirupati - 517507 (A.P.)

7. **Prof. Shripada Bhat**
   Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha
   Tirupati - 517507 (A.P.)

✦✦✦

विषयानुक्रमाणिका

1. **विज्ञानवाद और वेदान्त की दृष्टि में दृश्य जगत्** 01
—डॉ. अजय कुमार झा

2. **भावादिचर्वणायां चित्तदशा** —पंकजकुमारबालाणः 09

3. **मानवीय मूल्य तथा स्वास्थ्य का सम्बन्ध** 16
—डॉ. राजकुमारी त्रिखा

4. **वैदिक साहित्य में विहित पर्यावरण संरक्षण की परिकल्पना-वर्तमान संदर्भ में** —अजय कुमार 22

5. **उत्तरनैषधीयचरिते रसयोजना** —ममता पाठक 32

6. **संस्कृतवाङ्मये डॉ. नन्दकिशोरगौतमप्रणीतयौतुकनर्तनम् इति कथायाः लोकोपयोगिता** —मुनेशकुमारः 39

7. **शान्तिशिक्षा : शिक्षायां नवीनोपागमः** —सविता राय 43

8. **संस्कृत वाङ्मये आधुनिकमहाकाव्ये डॉ० निरञ्जन मिश्र विरचितं "गङ्गापुत्रवदानम्" इति महाकाव्यस्य महत्वम्** -जगदीशचन्द्रकाला 51

9. **The Spirituality of the Vedic Sacrifice** 55
-Hriday R. Sharma

10. **संस्कृतकाव्यशास्त्र में काव्यप्रयोजन विमर्श** 66
—हरिद्वार वर्मा

11. Concept of Irrigation as Depicted in Sanskrit Texts 71
-Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

12. **'आजादचरितम्' महाकाव्य में चन्द्रशेखर 'आजाद' का नायकत्व** 91
—रवि कुमार

13. **शङ्कराचार्यस्य अद्वैतदर्शने जीवन्मुक्तिः** —रविः 103

14. **महाभारताधारित-सिन्धुराजवधमहाकाव्यस्य लोकोपयोगिता** 110
—पूजा

15. **डॉ. हरिनारायणदीक्षितविरचितस्य भारतमाताब्रूते महाकाव्ये वर्णितसामाजिकदशायाः समीक्षात्मकमध्ययनम्** 115
—विष्णु-दत्त-तिवारी

16. **भक्तिस्वरूपं तद्भेदाश्च** —प्रवीण कुमार राय 118

17. **संस्कृतवाङ्मये आधुनिकनाटकेषु श्रीरामेश्वरदयालुविरचितं "शान्तामङ्गलम्" इति नाटकस्य प्रासङ्गिकता** 125
—मनोजकुमारः

18. **व्याकरणशास्त्रे शब्दः प्रमाणम्** —डॉ. सुरेश पाण्डेय 128

19. **वेदेषु राष्ट्रचिन्तनम्** —विकासकोठारी 141

20. **पञ्चमहायज्ञानां वर्णनम्** —डा. रामबाबू पाण्डेयः 147

21. **नाडीदोषस्तु विप्राणाम्....** —डॉ. गणेशत्रिपाठी 154

22. **पाणिनिजैनेन्द्रयोः सन्धिसिद्धान्तदिग्दर्शनम्** 159
—डॉ. गजाननधरेन्द्रः

23. **संस्कृत कविता के कुछ अनालोचित पक्ष** 174
—डॉ. अजय कुमार मिश्र

24. **Challenges of Modern Life Style And Vedānta** 193
-Dr. Satyamurti

25. **व्याकरणस्य सर्ववेदपारिषदत्वम्** —डॉ. रामनारायणद्विवेदी 203

26. **नञर्थसमीक्षणम्** —डॉ. अशोककुमारमिश्रः 213

27. **पुस्तकालय का सामान्य परिचय एवं प्रकार** 217
—रामरूप

28. **उपनिषत्सु मोक्षस्य अवधारणा** —अखिलेशकुमारपटेलः 227

29. **औचित्यप्रस्थानविमर्शः** —डॉ. राजकुमारमिश्रः 232

30. **व्याकरणदर्शनाभिमतसमासशक्तिविवेचनम्** 240
—श्री शेषमणिशुक्लः

31. **पातञ्जले महाभाष्ये उपवर्णितं कृषिविज्ञानम्** 246
–डॉ. मधुकेश्वरभट्टः

32. **प्राचीनभारतीयभाषाविद्वद्भिः प्रदत्तम् अमूल्यं योगदानम्** 252
संस्कृतशास्त्रे रसायनविज्ञानम् –डा. रावूरि गायत्रीमुरलीकृष्णः

33. **महाभारतीया वैदेशिकनीतिः** –डा. टी. महेन्द्रः 259

34. **An Appraisal of Indian Culture in Sanskrit** 268
Inscriptions of Cambodia -Prof. Dr. C. Upender Rao

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

विज्ञानवाद और वेदान्त की दृष्टि में दृश्य जगत्

डॉ. अजय कुमार झा
सत्यवती महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

चाहे पाश्चात्य दर्शन हो या पौर्वात्य, चाहे आस्तिक दर्शन हो या नास्तिक, प्रत्येक इस दृश्य जगत् की व्याख्या करने का प्रयास करता है। करे भी क्यों न, मनुष्य इसी जगत् में जन्म लेता है, इसी में सुख एवं दुख का भोग करता है तथा इसी में मृत्यु को प्राप्त करता है। दर्शन ही क्यों, ज्ञान की प्रत्येक विधा विज्ञान से लेकर काव्य तक इसकी व्याख्या करने का प्रयास करती है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में हमारा प्रथम लिखित ग्रन्थ वेद है, जिसे आर्ष परम्परा में अपौरुषेय तथा वन्दनीय माना जाता है। इसी ग्रन्थ का नासदीय सूक्त[1] जगत् विषयक हमारे चिन्तन की प्राचीनता तथा इसको सुलझाने की हमारी आतुरता का प्रमाण है। वैदिक नासदीय सूक्त से प्रारम्भ हुआ यह भारतीय दर्शन की प्रत्येक धारा के लिए अत्यन्त प्रिय परन्तु जटिल चिन्त्य विषय बन गया।

बौद्ध दर्शन के शून्यवादी विचारकों की दृष्टि में दृश्य और अदृश्य सब कुछ शून्य है।[2] परन्तु इसी धारा के विज्ञानवाद को सर्वशून्यता का यह सिद्धान्त ठीक प्रतीत नहीं होता है। सर्वशून्यता को मानने पर इस मत के प्रतिपादक विचार एवं सिद्धान्त भी शून्य सिद्ध हो जायेंगे और असत् विचार किसी सत् सिद्धान्त का निर्माण नहीं कर सकता है। विज्ञानवाद का दर्शन इसी पूर्वी पीठिका पर खड़ा है। इसलिए वह शून्यता के सिद्धान्त का खण्डन करता है।

बौद्ध दर्शन के दार्शनिक सम्प्रदायों में योगाचार या विज्ञानवाद एक प्रमुख तार्किक सम्प्रदाय है। आचार्य अश्वघोष, आर्य असंग, आचार्य वसुबन्धु तथा आचार्य स्थिरमति ने इस सम्प्रदाय को दर्शन के तार्किक धरातल पर परिनिष्ठित किया।

विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान के अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् तथा इसमें

---

1. ऋग्वेद, नासदीय सूक्त, मंत्र-10/129
2. तथागतो निःस्वभावो निःस्वभावमिदं जगत्। म.का. 22/16

उपलब्ध समस्त पदार्थ असत् हैं।[3] इस जगत् में जो कुछ हमें विविध नाम एवं रूप में दिखाई पड़ता है, वह मृगमरीचिका एवं स्वप्न के समान असत् है।[4] एक मात्र सत् पदार्थ है-विज्ञान। आचार्य वसुबन्धु के अनुसार समस्त भासमान विषय असत् है तथा विज्ञान मात्र ही है।[5] विविध शास्त्रों में आत्मा एवं धर्म सम्बन्धी विविध व्यवहार विज्ञान मात्र का परिणाम है।[6] इस प्रकार विज्ञानवाद के अनुसार एक मात्र विज्ञान सत् है तथा अन्य समस्त दृश्य एवं अदृश्य पदार्थ विज्ञान का परिणाम है। विज्ञानवाद के प्रतिपादक ग्रन्थों में इसको ही चित्त, मन, विज्ञप्ति, धर्मकाय तथा धर्मधातु कहा गया है।

विज्ञानवाद जिसको विज्ञान कहता है वस्तुतः वह हमारे शरीर के अन्दर का पदार्थ है। उसी पदार्थ की उपस्थिति के कारण यह शरीर गतिशील एवं सक्रिय है। ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय की गति उसी पर आश्रित है। आर्ष परम्परा में उसी को 'आत्मा' शब्द से सम्बोधित किया जाता है, परन्तु विज्ञानवाद उसको आत्मा नहीं कहता है और न ही उस पर आत्मा के गुणों का आरोप करता है। इसी आन्तर पदार्थ को विज्ञानवाद विज्ञान नाम से सम्बोधित करता है।

किसी भी दार्शनिक धारा के लिए दृश्य जगत् की सत्ता को अस्वीकार करना एक कठिन कार्य है। इसकी अनुभूति मूढ़ और बुद्धिमान् दोनों ही करते हैं। सतही स्तर पर इसको नकारना सम्भव नहीं है। अतः प्रत्येक दार्शनिक धारा अपनी मूल संकल्पना के अनुरूप दृश्य जगत् की व्याख्या के लिए सिद्धान्तों का निर्माण करता है।

इस समस्या के समाधान के लिए विज्ञानवाद त्रिस्वभाव का सिद्धान्त प्रतिपादित करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मूल तत्त्व एक है। वह विज्ञान है परन्तु उसकी प्रतीति अनेक रूपों में होती है। कभी-कभी हमें सत्ताहीन तत्त्व की प्रतीति होने लगती है। यथा-भ्रम की अवस्था में रज्जु में सत्ताहीन तत्त्व सर्प की प्रतीति। इसी प्रकार कभी-कभी हमें विद्यमान तत्त्व की भी प्रतीति नहीं होती है। यथा-भ्रम की अवस्था में हमें विद्यमान रज्जु नहीं सर्प प्रतीति होता है। विज्ञानवाद

---

3. विकल्पमात्रं त्रिभवं ब्राह्यमर्थं न विद्यते।
   चित्तमात्रावतारेण प्रज्ञा तथागती मता। लंकावतारसूत्र, पृ.160
4. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकारिका।
5. वही कारिका।
6. आत्माधर्मोचारो हि विविधोः यः प्रवर्तते।
   विज्ञानपरिणामोऽसौ।। त्रिं.का. 1

के अनुसार से समस्त प्रतीतियाँ विज्ञान का परिणाम मात्र है। विज्ञान के इस परिणाम को विज्ञानवादी त्रिस्वभाव कहता है।[7]

त्रिस्वभाव अर्थात् तीन स्वभाव, ये हैं-परिकल्पित, परतन्त्र तथा परिनिष्पन्न।[8]

परिकल्पित-

कभी-कभी हमें ऐसी वस्तु की सत्ता का आभास होता है जिसकी सत्ता कथमपि नहीं है। रज्जु में सर्प की प्रतीति इसका प्रमुख दृष्टान्त है। रज्जु में सर्प की स्थिति कथमपि नहीं होती है, परन्तु भ्रम की अवस्था में हमें रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है। ऐसी प्रतीतियों को विज्ञानवाद परिकल्पित कहता है। त्रिंशिकाविज्ञप्ति-कारिका में कहा गया है कि जिस-जिस विकल्प से जिस-जिस वस्तु का विकल्प होता है, वह परिकल्पित स्वभाव है।[9] कल्पना पर आश्रित होने के कारण ये विद्यमान नहीं हैं। अतः इनकी सत्ता भी नहीं है। ऐसी वस्तुएँ सदा मिथ्या होती हैं परन्तु विकल्प गौरव से वस्तुवद् प्रतिभासित होती हैं। जिस प्रकार शशश्रृंग एवं आकशकुसुम त्रिकाल असत् होते हैं, उसी प्रकार परिकल्पित वस्तुओं की सत्ता त्रिकाल असत् होती है। परिकल्पित केवल भ्रम है। भ्रम के निराकरण होते ही परिकल्पित की सत्ता निर्मूल सिद्ध हो जाती है। विज्ञानवाद की दृष्टि में लोक व्यवहार के समस्त पदार्थ, आत्मा, बाह्य तथा मानस् पदार्थ, इन्द्रियाँ, मन आदि सभी परिकल्पित हैं।[10] विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में आचार्य वसुबन्धु ने कहा है कि जिस प्रकार पीलियाग्रस्त रोगी को सब पदार्थ पीले दिखाई पड़ते हैं या दृष्टिदोष के कारण सभी वस्तुएँ केशवत् पतले और उड़ते हुए दीखते हैं या एक चन्द्रमा के स्थान पर दो चन्द्र दिखाई देते हैं, उसी प्रकार अविद्याग्रस्त प्राणियों को बाह्य पदार्थों की प्रतीति होती है।[11]

परतंत्र-

परतंत्र वे पदार्थ हैं जिनकी सत्ता तो नहीं होती परन्तु उनकी उपस्थिति सापेक्षता के कारण होती है। इनकी सत्ता मूल पदार्थ की अपेक्षा से होती है। त्रिंशिकाविज्ञप्तिकारिका में कहा गया है, परतंत्रस्वभावस्तु विकल्पः प्रत्ययोद्भवः।[12]

---

7. त्रयः स्वभावा उक्ताः परिकल्पित परतंत्रतः परिनिष्पन्नश्च। त्रिं.का.आ. पृ.88
8. वही
9. येनकेन विकल्पेन यद्यद् वस्तु विकल्पते परिकल्पित एवऽसौ-त्रिं.का, 20
10. अर्थः परिकल्पित स्वभावः - मध्यान्तविभागटीका पृ. 19
11. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि कारिका 1
12. त्रिं.का. - का. 21

अर्थात् वे विकल्प जो प्रत्यय से उत्पन्न होते हैं, परतंत्रस्वभाव वाले होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जिनका अस्तित्व अपने से भिन्न प्रत्ययों पर निर्भर है, वे परतंत्र हैं। स्वभिन्न हेतु प्रत्यय से उत्पन्न होने के कारण वे परतंत्र हैं। वस्तुतः परिनिष्पन्न में जब अविद्या का स्फुरण होता है तब वह परतंत्र के रूप में प्रतीत होता है। परतंत्र भ्रम का आश्रय होता है तथा अर्थाकार प्रतीत होता है। जब रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है तब रज्जु की सर्प रूप में प्रतीति परिकल्पित है तथा सर्पाकार प्रतीति परतंत्र है। यह सर्पकार प्रतीति वस्तुतः कर्मसंस्कार एवं वासनाओं का प्रतिफल है। सर्पाकार प्रतीति ही परिकल्पित का आश्रय है।

परिनिष्पन्न-

परिनिष्पन्न विज्ञान है। विज्ञानवाद इसी परिनिष्पन्न की सत्ता को स्वीकार करता है। यही उसका मूल पदार्थ है, अन्य सभी दृश्य पदार्थ अवास्तविक हैं। इसके विषय में त्रिंशिकाविज्ञप्तिकारिका में कहा गया है-निष्पन्नस्तस्य पूर्वेण सदा रहितता तु या।[13] अर्थात् परिकल्पित ग्राह्यग्राहक भाव से सर्वदा रहित पदार्थ परिनिष्पन्न है। इसी के भाष्य में कहा गया है-अविकरपरिनिष्पत्या स परिनिष्पन्न-स्वभावः।[15] इसको आकाश के समान सर्वव्यापी और निर्मल कहा गया है।[16] विज्ञानवादी इसी को तथता, भूतकोटि अनिमित्त, धर्मधातु, धर्मता, शून्यता, विज्ञप्ति-मात्रता और परमार्थ कहते हैं। आचार्य वसुबन्धु ने इसे अत्यन्त विशुद्ध, अनास्रव, धातु, अचिन्त्य, कुशल, ध्रुव, सुख, विमुक्तिकाय तथा महामुनि भगवान् बुद्ध का धर्मकाय कहा है।[17]

इस प्रकार यह त्रिस्वभाव न तो तीन सत् है, न ही तीन सत्ता है और नहीं सत्ता के तीन स्तर हैं। इनमें परिनिष्पन्न एक मात्र सत् है। परतंत्र और परिकल्पित असत् है। परन्तु इनकी प्रतीति होती है, अतः इन्हें स्वभाव के अन्तर्गत रखा गया है।

विज्ञान के इन त्रिस्वभाव की तुलना अद्वैत वेदान्त के प्रतिभास, व्यवहार एवं परमार्थ से की जा सकती है। वेदान्त दर्शन में ब्रह्म को एक मात्र सत् माना जाता है। ब्रह्म को ही वहाँ परमार्थ कहा गया है। स्वप्न और रज्जु में सर्प की

---

13. वही - का. 21
14. त्रिं का भाष्य - पृ. 40
15. मध्यान्तविभागटीका, पृ. 19
16. आकाशवद् एकरसं ज्ञानं। त्रिंशिकाभाष्य, पृ. 40
17. त्रिंशिका, का. 30

प्रतीति जैसी प्रतीतियों को वेदान्त में प्रतिभास कहा गया है और जागतिक प्रतीतियों को व्यवहार कहा जाता है। प्रतिभास और व्यवहार दोनों ही असत् हैं, परन्तु जब तक सत् का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक ये असत् होते हुए भी सत् प्रतीत होते हैं।

वेदान्त दर्शन के इस सिद्धान्त को सत्ता-त्रय भी कहा जा सकता है। प्रातिभासिक सत्ता के अन्तर्गत क्षणिक अस्तित्व वाले विषय आते हैं। स्वप्न तथा भ्रम की अवस्था में रज्जु में सर्प की प्रतीति का शुक्ति में रजत् की प्रतीति इसका प्रमुख दृष्टान्त है। प्रतीतिकाल में इनका स्वरूप यथार्थ प्रतीत होता है किन्तु जागृत-काल या भ्रम निवृत्ति के बाद इनका बाध हो जाता है। इनकी मिथ्या सिद्धि हो जाती है।

व्यवहारिक सत्ता के अन्तर्गत आने वाले विषय व्यवहार रूप से सत् प्रतीत होते हैं, व्यवहारिक स्तर पर उनकी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। इनके अर्न्तगत समस्त सांसारिक पदार्थ-जीव-जगत् तथा इनके अवयव आते हैं। इनका इन्द्रियों से स्पष्ट प्रत्यक्षीकरण होता है। अतः इनकी सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता है। परन्तु वेदान्त दर्शन इनकी सत्ता को सत् नहीं मानता है। व्यवहारिक स्तरपर ये सत् हैं परन्तु अविद्या के विनाश तथा ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही इनकी सत्ता असत् सिद्ध हो जाती है। प्रातिभासिक सत्ता की अपेक्षा इसका अस्तित्व अधिक स्थायी होता है।

परमार्थिक सत्ता परम सत् है। यह त्रिकाल सत् है। किसी भी क्षण, किसी भी अवस्था में यह बाधित नहीं होती है।[18] इसके अन्तर्गत एकमात्र ब्रह्म की सत्ता आती है। इस सत्ता का वास्तविक ज्ञान होते ही व्यवहारिक सत्ता का क्षय हो जाता है। जैसे स्वप्न से जागे हुए व्यक्ति को स्वप्न के मिथ्यात्व का अनुभव होता है उसी प्रकार ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर जगत् के मिथ्यात्व का अनुभव होता है। आदिशंकराचार्य ने स्वयं कहा है-एकमेव हि परमार्थसत्यं ब्रह्म।[19]

विज्ञानवाद और वेदान्त की इन दोनों अवधारणाओं की विवेचना करने पर इन दोनों में कुछ समानताएँ एवं विषमताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। कुछ प्रमुख समानताएँ निम्नांकित हैं :

– विज्ञानवाद परिकल्पित को असत् मानता है। वेदान्त भी प्रतिभास को असत् मानता है।

---

18. एक रूपेण हृदयवस्थिता यो अर्थः स परमार्थ। शं आ. 2-1
19. तै.उ., शां., आं. 2/6

- विज्ञानवाद के अनुसार यह सम्पूर्ण जगत् परिनिष्पन्न (विज्ञान) का प्रतिभास मात्र है। वेदान्त भी इस जगत् को ब्रह्म का प्रतिभास कहता है।
- विज्ञानवाद के अनुसार अनादि ग्राहकग्राह्य वासना के कारण परिनिष्पन्न (विज्ञान) जीव और जगत् के रूप में आभासित होता है। वेदान्त के अनुसार भी अनादि माया शक्ति के कारण ब्रह्म जीव और जगत् के रूप में प्रतीत होता है।
- विज्ञानवाद का परिनिष्पन्न (विज्ञान) निरपेक्ष, अज, नित्य, अचल, अपरिणामी, ज्ञातृज्ञेयभेदरहित, ग्राहकग्राह्यद्वैतरहित, अद्वय, अद्वैत, अनाभास, असंग, स्वप्रकाश, स्वयं-ज्योति, परम विशुद्ध, औतिन्द्रय, निर्विकल्प, अनिर्वचनीय, अपरोक्षानुभूतिगम्य, अनास्रव, लोकोत्तर ज्ञान, अखण्ड, आनन्द तथा अनिर्वचनीय सुखस्वरूप है। वेदान्त दर्शन में भी पारमार्थिक सत्ता 'ब्रह्म' को इन विशेषताओं से युक्त माना गया है।
- विज्ञानवाद के अनुसार सम्पूर्ण द्वैत संसार परिनिष्पन्न (विज्ञान) का आभास है। वेदान्त के अनुसार सम्पूर्ण द्वैत जगत् ब्रह्म का आभास है।
- विज्ञानवाद का परतंत्र वासना की अपेक्षा से है। वेदान्त का व्यवहार अविद्या की अपेक्षा से है।

दोनों अवधारणाओं में कुछ विषमताएँ निम्नांकित हैं :-

- विज्ञानवाद इस जगत् की सत्ता को किसी भी रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं है। वह इसे परिकल्पित कहता है। इसके विपरीत अद्वैत वेदान्त इस जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करता है। वह इसे व्यवहार कहता है।
- विज्ञानवाद समस्त दृश्य पदार्थों एवं क्रियाओं को असत् तथा उन्हें अर्थाकार विज्ञानों की प्रतीति मानता है। उनके अनुसार जो कुछ अनुभव होता है, वह अर्थाकार विज्ञानों का अनुभव है। पदार्थ एवं क्रियाएँ परिकल्पित हैं तथा पदार्थाकार विज्ञान परतंत्र हे। अद्वैत वेदान्त के अनुसार व्यवहार में हमें पदार्थों का अनुभव होता है, परमार्थ या परमार्थ के प्रवाह का नहीं। इसको वह व्यवहार कहता है।
- विज्ञानवाद में रज्जु-सर्प की प्रतीति, स्वप्नपदार्थ की प्रतीति एवं जागतिक प्रतीति सबके सब परिकल्पित हैं अर्थात् समान रूप से असत् हैं। इन सब में विज्ञान ही अर्थों का आकार लेकर प्रतीत होता है। वेदान्त स्वप्नपदार्थ की प्रतीति एवं जागतिक पदार्थों की प्रतीति में भेद मानता है। स्वप्नपदार्थ

को यह वह प्रतिभास कहता है तथा इसकी निवृत्ति को व्यवहार कहता है। इसकी निवृत्ति परमार्थ से होती है।

- विज्ञानवाद में परिनिष्पन्न और परतंत्र वस्तुतः परम सत् तत्व (विज्ञान) के दो रूप हैं। वेदान्त में परमार्थ का कोई रूप नहीं है। वह अखण्ड है।
- विज्ञानवाद में परिकल्पित और परतंत्र एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दृश्य जगत् के पदार्थ परिकल्पित हैं परन्तु उनका आकार परतंत्र हैं। वेदान्त का प्रतिभास एवं व्यवहार इस तरह सम्बद्ध नहीं है। दोनों की सत्ता अलग-अलग है।
- विज्ञानवाद के अनुसार विशुद्ध विज्ञान रूप परिनिष्पन्न अधिष्ठान है। उस पर अर्थाकार विज्ञान रूप परतंत्र का आरोप होता है। पुनः परतंत्र पर असत् परिकल्पित का आरोप होता है। वेदान्त परमार्थ पर व्यवहार का आरोप स्वीकार करता है। परन्तु व्यवहार पर प्रतिभास को नहीं।
- विज्ञानवाद के अनुसार त्रिस्वभाव वासना-भेद का परिणाम है। वेदान्त के अनुसार सत्तात्रय (परमार्थ, व्यवहार, प्रतिभास) पदार्थ-भेद के कारण है।
- विज्ञानवाद का परतंत्र परिनिष्पन्न की अपेक्षा से है। वेदान्त का व्यवहार परमार्थ की अपेक्षा से नहीं है।

इस प्रकार विज्ञान का त्रिस्वभाव एवं वेदान्त का सत्तात्रय भारतीय दार्शनिक चिन्तन के क्रमिक विकास का सोपानद्वय है। चूँकि विज्ञानवाद वेदान्त से पूर्व का दर्शन है, अतः यह वेदान्त के लिए दर्शानिक चिन्तन की पृष्ठभूमि तैयार कर देता है। वेदान्त के समक्ष इसकी विशेषताएँ एवं कमियाँ होती हैं और वह इन दोनों का भरपूर लाभ उठाता है तथा जगत् की व्यवहारिक व्याख्या करने का प्रयास करता है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि चाहे आस्तिक दर्शन हो या नास्तिक दोनों के समक्ष विशाल उपनिषद् साहित्य उपलब्ध था। सभी ने प्रतिपादित दार्शनिक अंकुरों का खूब पल्लवन किया। यहाँ साक्ष्य के रूप में कुछ उदाहरण प्रस्तुत है-

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव॥[20]

---

20. कठोपनिषद्, 2/2/9-10

यहाँ अग्नि एवं वायु के उदाहरण से समझाया गया है कि एक ही अग्नि अथवा वायु अनेक रूपों को धारण करती है तथा तदाकार प्रतीत होती है। विज्ञानवाद की दृष्टि से विचार करने पर अग्नि अथवा वायु विज्ञान (परिनिष्पन्न) है, उसकी वस्त्वाकारता परतंत्र है तथा वस्तु परिकल्पित है। वेदान्त की दृष्टि से विचार करने पर अग्नि अथवा वायु ब्रह्म है तथा उसका अनेक रूपों में प्रतीत होना व्यवहार है। अतः हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि उपनिषदें दार्शनिक चिन्तन की प्रस्थान बिन्दु हैं।

संग्रन्थावली

1. भारतीय दर्शन, शर्मा चन्द्रधर - मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1995
2. भारतीय दर्शन, हिरयन्ना एम - लंदन, 1956
3. भारतीय दर्शन एवं इतिहास, दासगुप्ता एन.एम. - राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1989
4. लंकावतारसूत्र, वैद्य, प.ल. - दरभंगा, 1963
5. महायानसूत्रालंकार, वागची - दरभंगा, 1971
6. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, तिवारी, महेश - चौखम्बा विद्या भवन, 1967
7. मध्यान्तविभागटीका, पाण्डेय, रामचन्द्र - विद्या भवन, 1967
8. शरीरिक भाष्य, - निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई
9. कठोपनिषद्, शास्त्री, सुरेन्द्र देव - चौखम्बा विद्या भवन, 1967
10. अद्वैत-वेदान्त, मिश्र, अर्जुन एवं दीक्षित, हृदय नारायण - मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1990

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

भावादिचर्वणायां चित्तदशा

पंकजकुमारबालाणः

शोधच्छात्रः(साहित्यविभागः)
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् (मा.वि.)
नव देहली

उत्तमकाव्यस्य लक्षणं कथ्यते ध्वन्यालोककारेणाऽऽनन्दवर्धेन -

यत्रार्थो शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथित।।[१]

यत्र शब्दार्थावुपसर्जनीकृतस्वार्थौ प्रतीयमानमर्थमभिव्यङ्क्तः तत्काव्यं ध्वनिर्भवति। ध्वनेरस्य भेदद्वयं वर्तते - अविवक्षितवाच्यध्वनिर्विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिश्चेति। अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनेर्द्वौ भेदौ वर्तेते - असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिः संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यध्वनिश्चेति। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यविषय आनन्दवर्धनो ध्वन्यालोके -

मुख्यतया प्रकाशमानो व्यङ्ग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा।
स च वाच्यापेक्षया कश्चिदलक्ष्यतया प्रकाशते।।[२]

अर्थाद् यत्र शतपत्रपत्रशतभेदन्यायेन व्यङ्ग्यार्थो वाच्यापेक्षयाऽलक्ष्यतया प्रकाश्यते तत्रासंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो भवति। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो रसादिर्वर्तते। रसादिरष्टधा भवति - रसः, भावः, रसाभासः, भावाभासः, भावशान्तिः, भावोदयः, भावसन्धिर्भावश-बलत्वञ्चेति। सम्प्रति रसविषये जिज्ञासा भवति तदाह काव्यप्रकाशकारो मम्मटः -

कारणान्यथ कारणानि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।।[३]

अर्थाद् लोके रत्यादेः स्थायिनः कारणानि कार्याणि, सहकारीणि च भवन्ति तानि नाट्यकाव्ययोर्विभावाः, अनुभावा व्यभिचारिणश्च कथ्यन्ते। तैर्विभावाद्यैर्व्यक्तः स्थायिभावो

---

१. ध्वन्यालोकः, उद्योतः - 01, कारिका- 13, पृ.सं. - 37
२. ध्वन्यालोकः, उद्योतः - 02, कारिका- 02, पृ.सं. - 74
३. काव्यप्रकाशः, उल्लासः - 04, सूत्र- 43, कारिका- 27-28, पृ. सं. - 95

रसो भवति। नव रसा भवन्ति – शृङ्गारः, हास्यः, करुणः, रौद्रः, वीरः, भयानकः, वीभत्सः, अद्भुतः शान्तश्चेति।

भावादिचर्वणायां चित्तदशा

सम्प्रति रतिहासहर्षशङ्कादिभावानां चर्वणायां चित्तदशा मया प्रतिपाद्यते।

भावः

भावविषये कथ्यत आचार्यमम्मटेन –

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।[१]

यत्र देवादिविषया रतिरपुष्टा स्थायिभावो वा भवति यत्र च प्राधान्येन व्यभिचारिभावोऽञ्जितो भवति, तत्र भावो भवति। अत्रादिपदान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया रतिर्गृह्यते।

अत्र देवविषया रतिर्यथा –

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते।।[२]

अत्र महादेव आलम्बनविभावः, ईशप्रतिपाद्यव्यवहितैश्चमुद्दीपनविभावः, स्तवोऽनुभावः, धृतिमाहात्म्यस्मरणादयो व्यभिचारिभावा एतैर्विभावादिभिर्व्यक्ता रतिर्व्यज्यते।

रतेर्लक्षणं साहित्यदर्पणे यथा –

रतेर्मनोऽनुकूलऽर्थे मनसः प्रवणायितुम्।[३]

मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितुं रतिर्जायते।

मुनिविषया रतिर्यथा –

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम्।।[४]

अत्र मुनिरालम्बनविभावः, दर्शनयोग्यताव्यञ्जनमुद्दीपनविभावः, श्रीकृष्णस्येयमुक्तिरनुभावः, तद्व्यङ्ग्यहर्षो व्यभिचारिभावः, तैर्मुनिविषयकरतिज्ञे सामाजिके भावो व्यज्यते।

---

१. काव्यप्रकाशः, उल्लासः – 04, सूत्र– 49, पृ. सं. – 141

२. परमेश्वरस्तोत्रावलिः, स्तोत्रम्– 13 / काव्यप्रकाशः, उल्लासः – 04, उदा.– 45, पृ. सं. – 48

३. साहित्यदर्पणः, परिच्छेदः– 03, कारिका– 176, पृ.सं. 225

४. शिशुपालवधम्, सर्गः –01, पद्यम् –26, पृ. सं. – 19

कान्ताविषयाऽपुष्टा रतिर्यथा –

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयमास विलोचनानि।।[१]

अत्र पार्वत्यालम्बनविभावः, वसन्तादि–ऋतुरुद्दीपनविभावः, विलोचनव्यापारानुभावः, चापल्यावेगादयो व्यभिचारिभावाः। तैर्विभावादिभिरपुष्टा रतिर्व्यज्यते।

अङ्गितव्यभिचारिभावो यथा –

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
मां मां संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता पुरः।
नो यावत्परिरभ्य चाटुशतकैराश्वासयामि प्रियां,
भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः।।[२]

अत्र विधिरालम्बनविभावो नायकस्योक्तिरनुभावः। ताभ्यां विभावादिभ्यां विधिं प्रत्यसुया व्यज्यते। तस्याऽसूयाः स्वरूपम् –

असूयान्यगुणर्द्धिनामौद्धत्यादसहिष्णुता।
दोषोद्घोषभ्रूविभेदावज्ञाक्रोधेङ्गितादिकृत्।।[३]

असहिष्णुताऽसूया जायते। अङ्गिताऽसूया भवो जायते। इत्थं भावो जायते सर्वत्र।

रसाभासः

रसाभासस्य स्वरूपं यथा –

अनौचित्यप्रवृत्यत्व आभासो रसभावयोः।[४]

रसस्यानौचित्यत्वो रसाभासो भवति। भरतादिप्रणीतलक्षणानां विभावादिरूपसामग्रीकारणासत्वे सत्येकदेशयोगित्वोपलक्षणानामनौचित्यं भवति। आलम्बनं कथमनौचित्यं भवति तदा कथ्यते–

उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्।।

प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते।
शृङ्गारेऽनौचित्यं रौद्रे गुर्वादिगतकोपे।।

---

१. कुमारसम्भवम., सर्गः – 03, पद्यम् – 67, पृ.सं. – 91
२. काव्यप्रकाशः, उल्लासः – 04, उदा.– 47, पृ. सं. – 49
३. साहित्यदर्पणः, परिच्छेदः– 03, कारिका– 166, पृ.सं. 217
४. साहित्यदर्पणः, परिच्छेदः– 03, कारिका– 262, पृ.सं. 285

शान्ते च हीननिष्ठे गुर्वाद्यालम्बने हास्ये।
ब्रह्मवधाद्युत्साहेऽधमपात्रगते तथा वीरे।।
उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ज्ञेयमेवमन्यत्र।[१]

अर्थाद् शृङ्गारे उपनायकगता, मुनिगुरुपत्नीगता, बहुनायकगता, नायकनायिकागता, प्रतिनायकनिष्ठा, अधमपात्रतिर्यगादिगतरतिर्भवति, तदानौचित्यं भवति। हास्ये गुर्वादिगतो हासो भवति, तदानौचित्यं भवति। रौद्रे गुर्वादिगत क्रोधो भवति, तदानौचित्यं भवति। वीरे ब्रह्मवधादिगते नीचपात्रगत उत्साहो भवति तदानौचित्यं भवति। भयानके उत्तमपात्रगतो भयो भवति तदानौचित्यं भवति। शान्ते हीननिष्ठः शमो भवति तदानौचित्यं भवति। बहुनायकनिष्ठा रतिर्यथा –

स्तुमः कं वामाक्षि! क्षणमपि विना यं न रमसे,
विलेभे कः प्राणान्, रणमखमुखे यं मृगयसे।
सुलग्ने को जातः, शशिमुखि! यमालिङ्गसि बलात्
तपःश्रीः कस्यैषा, मदननगरि! ध्यायसि तु यम्।।[२]

अत्र बहुनायका आलम्बनविभावः, नायिकान्वेषणालिङ्गनध्यानादिरनुभावः, औत्सुक्यादयो व्यभिचारिभावाः। तैर्विभावादिभिः रतिर्व्यज्यते। एवमन्यत्र भवति रसाभासः।

भावाभासः

भावाभासस्य लक्षणमुक्तम् –

अनौचित्यप्रवृत्यत्व आभासो रसभावयोः।[३]

भावस्यानौचित्यत्व आभासो भावाभासो भवति। यथा –

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी,
सा स्मरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गी।
तत्किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं,
तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः।।

अत्र सीताऽऽलम्बनविभावः, रावणस्य वचनमनुभावः। ताभ्यां चिन्ता व्यज्यते। चिन्तायाः स्वरूपं साहित्यदर्पणे –

ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत्।[४]

---

१. साहित्यदर्पणः, परिच्छेदः- 03, कारिका- 263-266, पृ.सं. 286- 287
२. अमरुकशतकम् / काव्यप्रकाशः, उल्लासः - 04, उदा. -48, पृ. सं. - 49
३. साहित्यदर्पणः, परिच्छेदः- 03, कारिका- 262, पृ.सं. 285
४. साहित्यदर्पणः, परिच्छेदः- 03, कारिका- 171, पृ.सं. 221

अत्र कथमनौचित्यं तदा कथ्यते –

आदौ वाच्ये स्त्रियो रागः पश्चात्पुंसस्तदिङ्गितैः।[१]

अत्र रावणस्यादौ सीतां प्रति रागो वर्तते। अस्मात् कारणादत्र भावभासो वर्तते। एवमन्यत्रापि भवति।

भावशान्तिः

भावशान्तेः स्वरूपं रसगङ्गाधरे जगन्नाथ आह –

भावस्य प्रागुक्तस्वरूपस्य शान्तिर्नाशः।[२]

यत्र व्यभिचारिभावेषु भावस्यैकस्य नाशो व्यज्यते, तत्र भावशान्तिर्जायते। यथा –

मुञ्चसि नाद्यापि रुषं भामिनि! मुदिरालिरुदियाय।
इति तन्व्याः पतिवचनैरपायि नयनाब्जकोणशोणरुचिः।।[३]

अत्र तादृशप्रियवचनश्रवणं विभावः, नयनकोणगत – शोणरुचेर्नाशः तदभिव्यक्तः प्रसादोऽनुभावः। ताभ्यामुत्पत्तिकालावच्छिन्नो रोषनाशो व्यङ्ग्यः। एवमन्यत्रापि भवति।

भावोदयः

भावोदयस्य स्वरूपं पं. राजजगन्नाथ आह –

भावोदयस्य भावस्योत्पत्तिः।[४]

यत्र भावस्योत्पत्तिर्भवति तत्र भावोदयो भवति यथा –

वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनी – हारलक्ष्म दयितस्य भामिनी।
असंदेशवलयीकृतां क्षणदाचकर्ष निजबाहुवल्लरीम्।।[५]

अत्र दयितवक्षागतागतविपक्षकामिनीहारलक्ष्मीदर्शनं विभावः, प्रियासंदेशवलयीकृतनिजबाहुलताऽऽकर्षणमनुभावः, ताभ्यां रोषोदयो भवति। एवमन्यत्रापि भवति।

भावसन्धिः

भावसन्धेः स्वरूपं रसगङ्गाधरे –

भावसन्धिरन्योन्यानभिभूतयोरन्योन्याभि-

---

१. साहित्यदर्पणः, परिच्छेदः- 03, कारिका- 195, पृ.सं. 237
२. रसगङ्गाधरः, आननम् -01, पृ.सं. 377
३. रसगङ्गाधरः, आननम् -01, पृ.सं. 378
४. रसगङ्गाधरः, आननम् -01, पृ.सं. 378
५. रसगङ्गाधरः, आननम् -01, पृ.सं. 379

भवनयोग्ययोः सामानाधिकरण्यम्।[१]

यत्राऽन्योन्यनभिभूतयोरन्योन्यानभिभवनयोग्ययोर्द्वयोर्भावयोः सामानाधिकरण्यं जायते तत्र भावसन्धिर्जायते। यथा –

यौवनोद्गमनितान्तशङ्किताः शीलशौर्यबलकान्तिलोभिताः।
सङ्कुचन्ति विकसन्ति राघवे जानकीनयननीरजाश्रियः।।[२]

अत्र भगवद्दाशरथिगतस्य लोकोत्तरयौवनोद्गमस्य तादृशस्यैव शीलशौर्यादेश्च दर्शनं विभावः, नयनगतसङ्कोचविकासानुभावः, ताभ्यां व्रीडौत्सुक्ययोः सन्धिर्व्यज्यते। व्रडीयाः स्वरूपं यथा –

स्त्रीणां पुरुषावलोकनादेः पुंसां च प्रतिज्ञाभङ्गपराभवादेरुत्पन्नो
वैवर्ण्याधोमुखत्वादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो व्रीडा।[३]

औत्सुक्यस्य स्वरूपं यथा –

अधुनैवास्य लाभो ममास्त्वतीच्छा, औत्सुक्यम्।[४]

एवमन्यत्रापि भवति।

भावशबलत्वम्

भावशबलत्वस्य स्वरूपम् –

भावशबलत्वं भावानां बाध्यबाधक-
भावामापन्नामुदासीनानां वा व्यामिश्रणम्।[५]

यत्र बाध्यबाधकभावप्राप्तानां तटस्थानां वा भावानां योगो भवति, तत्र भावशबलत्वं भवति। यथा –

पापं हन्त मया हतेन विहितं, सीताऽपि यद्यापिता
सा मामिन्दुमुखी विना वतवने, किं जीवितं धास्यति।
आलोकेयं कथं मुखानि कृतानां, किं ते वदिष्यन्ति मां
राज्यं यातु रसातलं पुनरिदं, न प्राणितुं कामये।।[६]

---

१. रसगङ्गाधरः, आननम् -01, पृ.सं. 380
२. रसगङ्गाधरः, आननम् -01, पृ.सं. 380
३. रसगङ्गाधरः, आननम् -01, पृ.सं. 304
४. रसगङ्गाधरः, आननम् -01, पृ.सं. 347
५. रसगङ्गाधरः, आननम् -01, पृ.सं. 381
६. रसगङ्गाधरः, आननम् -01, पृ.सं. 382

अत्र मत्यसूयाविषादस्मृतिवितर्कव्रीडाशङ्कानिर्वेदानां मिश्रणं व्यज्यते। अतोऽत्र भावशबलत्वं जायते। एवमन्यत्रापि भवति।

इत्थं देवादिविषया रतिरपुष्टा स्थायिभावो वा प्राधान्येन व्यभिचारिभावोऽञ्जितो भवति, तत्र भावचित्तदशा मयोदाहरणैः प्रतिपादिता। रसभावयोरनौचित्यत्व आभासो रसाभासो भावाभासश्च मयोदाहरणाभ्यां प्रतिपादितौ। भावशान्तिचित्तदशा, भावोदयचित्तदशा, भावसन्धिचित्तदशा भावशबलत्वचित्तदशा च मयोदाहरणैः प्रतिपादिताः।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

मानवीय मूल्य तथा स्वास्थ्य का सम्बन्ध

डॉ. राजकुमारी त्रिखा

पूर्व प्रोफेसर, मैत्रेयी कॉलेज

मानवीय मूल्यों से ही मनुष्य की पहचान होती है। उचित, अनुचित, धर्म, अधर्म को परखने का मानदण्ड मानवीय मूल्य ही होते हैं। इन मूल्यों का पालन ही मनुष्य की विशेषता है। अन्यथा मनुष्य व पशु में क्या अन्तर? आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि जीवनधारण की आवश्यक क्रियाएँ तो पशुओं में भी होती है। धर्माचरण से ही सामाजिक पशु रूपी व्यक्ति मनुष्य कहलाता है।

मानवीय मूल्य ऐसे सद्गुण हैं जो व्यक्ति और समाज की सर्वांगीण तथा आत्यन्तिक उन्नति व विकास करते हैं तथा अन्य प्राणी के विकास में बाधा नहीं डालते। महाभारत में भी उसी धर्म को श्रेष्ठ कहा गया है, जो दूसरो के विकास में बाधा न डाले।[1] भारतीय परम्परा में इन सद्गुणों को धर्म कहा गया है तथा अनेक धर्मशास्त्रज्ञो, स्मृतिकारों, महापुरुषों ने अपने-अपने मत के अनुसार इनकी सूची दी है। मनु ने दस धर्मों का उल्लेख किया है-धैर्य, क्षमा, आत्मनियन्त्रण, चोरी न करना, स्वच्छता रखना, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य तथा क्रोध का अभाव।[2] इनके अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीता में दैवी सम्पद् के अन्तर्गत अनेक मानवीय मूल्यों का उल्लेख किया है। मन की निर्मलता, सरलता, त्याग, अभिमान का अभाव, चंचलता का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, किसी से द्रोह न करना, अभय का भाव-ये सब सद्गुण दैवी सम्पद् के अन्तर्गत गिनाये जाते हैं।[3]

---

1. धर्मं यो बाधते, धर्मो न,सः धर्मः कुधर्मस्तत्।
   अविरोधात् तु यो धर्मः, सः धर्मः सत्यविक्रमः।। महा. वनपर्व 131.11
2. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
   धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। -मनुस्मृति 6.92
3. अभयं सत्त्वसंशुद्धिः ज्ञानयोगव्यवस्थितिः,
   दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जम्।।
   अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशनुम्,
   दयाभूतेष्वलोलुपत्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।
   तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता,
   भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।। -श्रीमद्भगवद्गीता 16.1-3

पद्मपुराण में तो अत्यन्त संक्षिप्त एक ही गुण सर्वश्रेष्ठ कहा गया है, "किसी से वह व्यवहार न करो, जो तुम्हें अच्छा नहीं लगता।"[1] सारांश ये है कि अनेक सद्गुणों व धर्मों का उल्लेख है और महाभारत का कथन है कि तुम्हें जो रुचिकर लगे, तुम उसी धर्म का अनुसरण करो, परन्तु मनसा वाचा कर्मणा सर्वथा उस धर्म का पालन करो, उसे जीवन में उतारो तथा दिखावा मत करो।[2] मानवीय मूल्यों का व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र की उन्नति में बहुत योगदान है। इन मूल्यों के पालन से सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन सुव्यवस्थित, नियन्त्रित तथा निर्बाध गति से चलता है। ये मूल्य ऐसे सार्वभौम नियम है, जिनका पालन सम्पूर्ण सृष्टि को सुचारु रूप से चलाता है।

जब-जब समाज तथा व्यक्ति के जीवन से मानवीय मूल्य लुप्त होते है, तब-तब समाज में सर्वत्र आपाधापी, छीना, झपटी, चोरी, ठगी, रिश्वतखोरी आदि आर्थिक अपराधों के साथ रोड-रेज, स्त्रियों का उत्पीड़न यौनापराध इत्यादि बढ़ जाते हैं। राष्ट्र की सुरक्षा भी खतरे में पड़ जाती हैं, क्योंकि शत्रु से धन पाने के लोभ में लालची आफिसर देश की सुरक्षा से भी खिलवाड़ करने लगते हैं। इसीलिए महाभारत में पवित्र आचरण की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि राष्ट्र भी धर्मपालन से ही सुरक्षित रहता है।[3]

मानवीय मूल्यों के पालन में शिथिलता के मुख्य रूप से दो कारण है-राग व द्वेष। इन दोनों की अभिव्यक्ति काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद, मात्सर्य से व्याप्त क्रियाकलापों से होती है। श्रीमद्भगवद्गीता में आसुरी सम्पद् के वर्णन में इस मनस्थिति का विस्तृत मनोवैज्ञानिक वर्णन है।[4] इसका सारांश है कि आसुरी वृत्ति के मनुष्य, उचित, अनुचित का विचार न करते हुए अधिक से अधिक, धनोपार्जन, इन्द्रियविषयों का उपयोग तथा अपना वर्चस्व कायम करने में लगे रहते हैं।

---

1. श्रूयतां धर्म सर्वस्वं, श्रुत्वा चानुवर्त्यताम्।
   आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।। पद्मपुराण, सृष्टि 19.357-358
2. बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया। शान्ति. 174.2
3. अष्टांगे राजशार्दूल राज्ये धर्मपुरस्कृते।
   तत्तु शक्यं महाराज रक्षितुम् पाण्डुनन्दन।
   राज्यं धर्मेण कौन्तेय, विद्धानसि निबोध तत्।। -महाभारत आश्रमवासिक पर्व-5.8-9
4. द्रष्टव्य श्रीमद्भगवद्गीता 16 अध्याय 4-24

मनुस्मृति में धर्म के लक्षणों का उल्लेख करते हुए अधर्म के भी 10 लक्षण बताये हैं।[1] तीन मानसिक अधर्म है-पराये द्रव्य का ध्यान करना, मन से किसी का अनिष्ट चिन्तन करना तथा असत्य बातों में भाग लेना।

चार वाचिक अधर्म है-कटुभाषण, मिथ्याभाषण, चालाकी से बोलना (चुगली अथवा चापलूसी हेतु) तथा सम्बन्ध न होने पर भी प्रलाप अर्थात् किसी पर मिथ्या दोषारोपण करना।

तीन शारीरिक अधर्म है-किसी व्यक्ति की वस्तु स्वयं ही उठा लेना, निर्दोषों की हिंसा, तथा परस्त्री सेवन। आचार संहिता के अनुसार ये सभी कार्य मानवीय मूल्यों के अभाव में ही किए जाते हैं। इन कार्यों से समाज में अराजकता फैलती है।

अतः शास्त्रों में सदाचार संहिता के पालन को परम कल्याणकारी कहा गया है। अन्यथा तो जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली परिस्थिति बन जाती है। आश्चर्य की बात है कि सभी लोग मानवमूल्यों का पालन चाहते हैं परन्तु स्वयं शुरूआत न करके, वे दूसरों को उपदेश देकर उनसे सन्मार्ग पर चलने की इच्छा करते हैं। जब खुद कहीं मुसीबत में पड़ जायें तो आदर्श आचार संहिता नहीं यथाकथित अपनी स्वार्थ पूर्ति ही लक्ष्य होता है। महाभारत में कहा है[2]-जब स्वयं पर विपत्ति आये, तो लोग धर्म की दुहाई देते हैं, पर जब वे उच्च पदों पर आसीन होते हैं, तो उन्हें परलोक का द्वार बन्द दिखाई देता है।

मूल्यपरक जीवन शैली का, मनुष्य के सम्पूर्ण क्रियाकलापों, व्यक्तित्व तथा शरीर व मन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। धर्म का मार्ग कठिन परन्तु श्रेयस्कर है। अधर्म का मार्ग सरल, छोटा, प्रारम्भ में सुखद परन्तु अन्त में दुःखदायी होता है। सज्जन, ईमानदार तथा सत्यभाषी व्यक्ति को समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता है। उसका मन शान्त, बुद्धि कुशाग्र तथा शरीर स्वस्थ होता है। हमारी

---

1. परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
   वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्।।
   पाररुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
   असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्यात्चतुविधिम्।।
   अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
   प्ररदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्।। -मनुस्मृति 12.5-7
2. सर्वो विमृशतो जन्तुः कृच्छ्रस्थो धर्म दर्शनम्।
   पदस्थः विहितं द्वारं परलोकस्य पश्यति।। -महा. शल्यपर्व 32.59

भावनाओं का रोगों से गहरा सम्बन्ध है। चरक संहिता में[1] ईर्ष्या, शोक, भय, क्रोध, मान, द्वेष आदि भावों को मनोविकार माना गया है तथा ये गलतफहमी से उत्पन्न होते हैं। महाभारत युद्ध के पूर्व धृतराष्ट्र विदुर से पूछते हैं कि मनुष्य की आयु 100 वर्ष कही गई है, तो वह पूरा जीवन जीये बिना ही क्यों मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। विदुर उत्तर देते हैं-मनुष्य को मृत्यु नहीं मारती, बल्कि उसका अभिमान, वाचालता, क्रोध, अपनी बात जबरदस्ती मनवाना, तथा मित्र से द्रोह रूपी छः तीखी तलवारें ही उसका जीवन काटती हैं।[2] पी.जी.आई. चण्डीगढ़ के डाक्टरों के शोध का परिणाम भी कहता है कि बेईमान लोगों को तनाव, हार्टअटैक, और कैन्सर अधिक होता है। यह समाचार हिन्दुस्तान दैनिक में 13 दिसम्बर 2001 अंक में इस प्रकार छपा "पड़ोगे बीमार, गर किया भ्रष्टाचार"। डॉ. जैफ्री ट्रेस्टर नामक चीनी विद्वान् भी अनेक शोधों के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भावनाओं का रोगों से सम्बन्ध होता है। पारम्परिक चाइनीज़ मेडिसिन का भी यही मत है। तदनुसार हर्ष, क्रोध, चिन्ता, दुःख अत्यधिक सोच विचार, भय तथा आकस्मिक किसी घटना से उत्पन्न असीम भय (Joy, Anger, Anxiety, Grief, Pensiveness, Fear, Fright) - ये सातों भाव हमारे शरीर के आन्तरिक अंगों को हानि पहुँचाकर अनेक रोग उत्पन्न करते हैं।[3]

1. हर्ष - असीम आकस्मिक हर्ष, हृदय पर प्रभाव डालता है। अनिद्रा, धड़कन बढ़ना, ज्वर, हृदय रोग भी इससे उत्पन्न होते हैं।
2. क्रोध - क्रोध का सम्बन्ध लिवर तथा गाल ब्लेडर से है (यकृत व पित्ताशय से है) इससे सिरदर्द, उच्च रक्त चाप, एसिडिटी होती है।
3. चिन्ता - अधिक चिन्ता से फेफड़ों से सम्बन्धित रोग होते हैं, जैसे साँस फूलना। इससे, 'बड़ी आँत' में सूजन भी आती है।

---

1. ईष्याशोकभयक्रोधमानद्वेषादयश्च ये।
   मनोविकारास्तेऽप्युक्ताः सर्वे प्रज्ञापराधजाः।। -चरकसंहिता सूत्रस्थानम् 7.51
2. शतायुरुक्तः पुरुषः सर्ववेदेषु वै यदा।
   नाप्नोत्यथ च तत् सर्वमायुः केन हेतुना।।
   अतिमानोऽतिवादश्च तथा त्यागो नराधिप।
   क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट्।।
   एते एवासयस्तीक्ष्णाः कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम्।
   एतानि मानवान् घ्नन्ति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते।। -महाभारत उद्योगपर्व 37.9-11
3. www.livestrong.com. Dr. Jeffrey Traister's artical on "Seven Emotions and organ pairs".

4. दु:ख – इससे भी फेफड़ों के रोग होते हैं तथा जिजीविषा समाप्त हो जाती है।

5. अति सोचविचार – इससे तिल्ली के रोग, आलस्य, थकान तथा एकाग्रता की कमी होती है।

6. भय – इससे गुर्दो का कार्य अवरुद्ध होता है तथा मूत्राशय व गुर्दों पर नियन्त्रण न होने के कारण, मूत्र पर नियन्त्रण नहीं रहता। डॉ. बी.एन. गुप्ता के अनुसार मलत्याग भी ठीक से नहीं होता।[1]

7. असीम भय – अचानक, अप्रत्याशित हुई किसी बात से बेहद डर जाने से प्रारम्भ में हृदय रोग, तथा पुराना होने पर गुर्दों के रोग होते हैं।

आयुर्वेद कुपित हुए कफ, वात व पित्त को सभी रोगों का कारण मानता है। गोस्वामी तुलसी दास भी कहते हैं–

काम वात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा।

अर्थात् बढ़ी हुई कामनाओं से वात कुपित होता है, लोभ बढ़ने पर कफ, तथा क्रोध बढ़ने पर पित्त का प्रकोप होता है।

तात्पर्य यह है कि जब व्यक्ति मानवीय मूल्यों की अवहेलना करते हुए अधर्म में प्रवृत्त होता है, तो उसके मूल में तीन प्रवृत्तियाँ ही मुख्य होती हैं काम, क्रोध, लोभ। अतः इनको श्रीमद्भगवद्गीता में नरक का द्वार कहा है।[2]

स्वाभाविक रूप से बुद्धिजीवी वर्ग के मन में जिज्ञासा होती है कि नकारात्मक विचारों व भावनाओं से स्वास्थ्य क्यों बिगड़ता है। इस दृष्टि से चिन्तन व अनुसन्धान करने पर शास्त्रों से स्पष्टीकरण मिल जाता है।

सामान्य मनःस्थिति में श्वास नाक से शरीर में प्रवेश कर गुदा स्थान स्थित अपान वायु से टकराता है। प्राण अपान को ऊपर अपनी ओर खींचता है तथा अपान प्राण को अपनी ओर नीचे की तरफ खींचता है। प्राणापान के इस घर्षण में नाभिस्थित जठराग्नि/समानवायु इस वायु की टकराहट से अधिक प्रदीप्त होती

---

1. Psycho-Analysis - Dr. B.N. Gupta, Pub. Kurukshetra, Third Eye Foundation.
2. त्रिविध नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
   कामः क्रोध स्तथा लोभस्तमादेत् त्रयं त्यजेत्।।
   –श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय 16.21

है, जिससे ग्रहण किया हुआ भोजन सुचारू रूप से पच जाता है।[1] खाये हुए भोजन से सातों धातुएँ पुष्ट होती हैं। गहरे श्वास के कारण शरीर में ऑक्सीजन की मात्रा ठीक रहती है। रक्त में भी उचित मात्रा में ऑक्सीजन रहती है। ऐसा रक्त जिस जिस अंग में संचार करता है उसे पुष्ट व स्वस्थ बनाता है।

भोजन का निस्सार भाग मल मूत्र के रूप में आँतों तथा गुर्दों के द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है।

परन्तु जब काम, क्रोध, ईर्ष्या, भय आदि का भाव प्रबल हो, तो सर्वप्रथम श्वास ही अनियन्त्रित हो जाती है। वह छाती तक ही रह जाती है, अपानवायु से नहीं मिल पाती। यहीं से रोगों का चक्रव्यूह प्रारम्भ हो जाता है। प्राणापान के घर्षण के अभाव में जठराग्नि मन्द पड़ जाती है, जैसे चूल्हे की आग में फूँक न मारें, तो वह मन्दी हो जाती है। फिर भोजन ठीक से नहीं पचता, सातों धातुएँ निर्बल रह जाती हैं। रक्त में ऑक्सीजन की कमी हो जाती है, जिससे सम्बन्धित अंग दुर्बल हो जाते हैं। भोजन का व्यर्थ भाग भी मलमूत्र के रूप में भली प्रकार बाहर नहीं निकल पाता। वह आँतों में सड़ता रहता है व अनेक रोग उत्पन्न करता है।

दुर्भावनाओं से हमारी ग्रन्थि तन्त्र भी क्षतिग्रस्त हो जाता है। सकारात्मक भावनाएँ व्यक्ति के शरीर तथा मन के स्वस्थ रखती हैं। ग्रन्थि तन्त्र भी सुचारू रूप से कार्य करता है।

व्यक्ति परिवार, समाज तथा राष्ट्र तक मानवीय मूल्यपरक जीवनशैली से स्वस्थ, शान्त, तेजस्वी व भ्रष्टाचार मुक्त बनता है। मानवीय मूल्यों के अभाव में विश्वबन्धुत्व, मानवतावाद, समताभाव, मानवाधिकार, प्रेम, त्याग, विश्वशान्ति, अन्तरराष्ट्रिय सहयोग तथा मैत्री की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आज विश्वमानव विश्वयुद्ध की आशंका से भयग्रस्त है। इस विभीषिका से मानवीय मूल्यों का आचरण ही मानव की रक्षा कर सकता है।

✦✦✦

---

1. अपाने ऊर्ध्वगे याते, सम्प्राप्ते वह्निमंडले।
ततोऽनलशित्वा दीर्घा वर्धते वायुना हता।।
ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्।
तेनात्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा। –योगकुण्डल्युपनिषद् 1.43–44

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

वैदिक साहित्य में विहित पर्यावरण संरक्षण की परिकल्पना-वर्तमान संदर्भ में

अजय कुमार

शोधच्छात्र-गंगानाथ झा परिसर इलाहाबाद

'परितः आवरणम् इति पर्यावरणम्'

पर्यावरण शब्द परि तथा आ उपसर्गपूर्वक 'वृ' धातु से ल्युट लगने से व्युत्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ है-'चारो ओर का आवरण या आच्छादन' तो इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह वस्तु जो हमें चारों ओर से घेरती है हम पर सीधा प्रभाव डालती है, पर्यावरण कहलाती है। 'पर्यावरण' शब्द फ्रेञ्च भाषा के 'इन्वारोरेन' से बना है, जिसका अंग्रेजी रूपान्तरण 'द राउण्ड' है जिसका अर्थ है चतुर्दिक दिशाएँ अथवा चारों ओर की आवृत्ति या घेरा है। पर्यावरण की समस्या से मुक्ति पाने के लिये हमें वेद की शरण में जाना होगा। 'वेद' ईश्वरीय वाणी है एवं अक्षय ज्ञान के स्रोत हैं। जीवन से सम्बन्धित सभी पक्ष वैदिक संहिताओं में वर्णित है। पर्यावरण को शुद्ध रखने के लिए वैदिक काल में लोग वैदिक रीति से यज्ञ-विधान से हवन करते थे। वैदिक ग्रन्थों के अनेक मंत्रों में पर्यावरणीय संचेतना के बीच परिलक्षित होते हैं। पर्यावरण सन्तुलन में वृक्षों का बहुत महत्त्व है। सृष्टि की सर्वोत्तम कृति, मानव है। मानव पृथ्वी का भूषण है। पृथ्वी ने मानव को सजाया है। आज मानव अपनी भौतिक सुख-सुविधाओं के लिये वृक्षों की कटान कर रहा है। वृक्षों को प्राचीन वैदिक साहित्य में पुत्रों से भी बढ़कर माना गया है। तुलसी, पीपल, बरगद आदि वृक्षों को पवित्र माना गया है, जिसके माध्यम से हमारी संस्कृति पल्लवित और पुष्पित होती है। स्वार्थी मानव अन्धाधुन्ध वृक्षों एवं वनों की कटाई कर रहा है। काटे गये वृक्ष के स्थान पर अन्य वृक्ष नहीं लगाये जा रहे हैं। वनस्पतियों, वृक्षों, वनों की हमें रक्षा करनी चाहिये। वृक्ष कार्बन-डाईआक्साइड के रूप में विषपान करते हैं और आक्सीजन के रूप में जीवनदान करते हैं। यदि संतुलन बिगड़ गया तो मानव शुद्ध वायु को प्राप्त नहीं कर सकेगा। विकासशील मानव ने प्रकृति की निःशुल्क निधि वसुन्धरा का मनमाना दोहन शुरू किया। विस्तृत निर्मल नीर संकुचित और दूषित होने लगा। लहलहाती वनस्पतियों से भरा धरातल वीरान होने लगा। वन्य जीवों का आबाद

आवास उजाड़ कर मानव अपनी अट्टालिकाएं बनाने लगा। तन-मन को प्रफुल्लित करने वाली स्वच्छ वायु विषैली लगने लगी। कृषि, उद्योग, व्यापार, चिकित्सा, यातायात, राजनीति आदि नाना क्षेत्रों में विकास की अन्धाधुन्ध दौड़ से ऐसी गर्दगुबार उठने लगी जिसने जल, थल एवं नभ की सहजता को नष्ट करने के साथ ही मानवीय विचारों को मानवीय विचार नहीं रहने दिया। प्रत्येक वस्तु की सहजता का हनन, स्वच्छता में गन्दगी को हम दोष कह सकते हैं। यह सब विशेष ढ़ं से हुआ अतः इसे प्रदूषण कहा गया है। वर्तमान में पर्यावरण प्रदूषण एक गम्भीर समस्या है। पर्यावरण एवं प्रदूषण काया-छाया की भांति हुए हैं। आज हम स्वच्छ वायु के लिए परेशान हैं, स्वच्छ जल के लिए तरस रहे हैं। शान्त स्थान के लिए व्यग्र हैं। वेदों में वृक्षों की स्तुति करते हुए प्रार्थना की गयी है कि वे हमारी रक्षा करें, हमें वरदान दें-

या ते रूद्र शिवा तनूः शिवा विश्वहा भेषजी।
शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे॥[1]

पौधे पृथ्वी की रक्षा करते हैं। हरियाली धरा का शृंगार है। हरी-भरी वृक्ष वनस्पतियों से युक्त भूमि को सुखदायिनी बताते हुए स्वागत योग्य बताया गया है-

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहाः।
पृथिवी विश्वधायसं घृतामच्छावदामसि॥[2]

पृथिवी को वेदों में ईश्वर का स्वरूप माना गया है। भूमि की रक्षा पूजा का एक अविभाज्य अंग था। अथर्ववेद के भूमिसूक्त में यह उपदेश दिया गया है कि अपनी मातृभूमि के प्रति मनुष्यों में श्रद्धा का भाव होना चाहिये। वहाँ भूमि को माता समझने एवं उसके प्रति नमस्कार करने का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया गया है-सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय में पयः।[3] अर्थात् पृथिवी माता मुझे पुत्र के लिये दुग्ध आदि पुष्टिकारक पदार्थ प्रदान करें। नाना प्रकार के फल, औषधियाँ, फसलें, पेड़-पौधे इसी भूमि पर उत्पन्न होते हैं। पृथिवी सभी वनस्पतियों की माता एवं मेघ पिता है, क्योंकि वर्षा के रूप में पानी बहाकर मेघ पृथिवी का गर्भाधान करता है। अतः वर्षा से स्नेह रखने वाली मेघ से पालन की गयी उस भूमि को हमारा नमस्कार होवे।[4] भूमि का प्रदूषण से बचाव करके

---

1. यजुर्वेद 16/49
2. अथर्ववेद 12/1/27
3. अथर्ववेद 12/1/10
4. अथर्ववेद 12/1/42

पर्यावरण की रक्षा करना पूजा का एक अविभाज्य अंग था, जैसा कि कहा गया है-

यस्य भूमिः प्रभाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मण नमः॥[1]

अथर्ववेद में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जो औषधियाँ एवं वनस्पतियों को मारकर पृथिवी को सताता है, उन्हें पृथिवी हिला देती है, पीड़ित करती है एवं नष्ट कर देती है-

ये ग्रामाः यदरण्यं या सभा अधि भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितय्स्तेषु चारु वदेम ते॥[2]

आज जल भी प्रदूषण से अछूता नहीं है। भागीरथी गंगा का जल भी प्रदूषित हो चुका है। जल ही जीवन है। यदि हम प्रदूषित जल का सेवन करेंगे तो हमारे स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। प्रदूषित जल अनेक रोगों का मूल कारण है। कारखानों से निकलने वाला रसायन जल प्रदूषण का मूल कारण है- अप्स्वन्तरमृतमप्सुभेषजम्।[3] वेदों में घर के समीप शुद्ध जलाशय को आवश्यक बताया गया है क्योंकि शुद्ध जल मनुष्य को दीर्घ आयु प्रदान करने वाला, प्राणों का रक्षक एवं कल्याणकारी है। इस प्रकार शुद्ध जल के बिना जीवन अधूरा है। वैदिक ऋचाओं में जल संरक्षण की संचेतना दिखायी देती है। जल शुद्धि के साथ ही साथ वायु की शुद्धि भी जीवन के लिये सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अतः वायु भी शुद्ध रूप से प्रवाहित होकर हमें रागरहित बनाये। श्वास लेने योग्य शुद्ध वायु समस्त रोगों से हमारी रक्षा करे एवं औषधियाँ प्रवाहित करके हमारे समीप लाये-

आ वात वाहि भेषजं हि वात वाहि यद्भूपः।
त्वं हि विश्वभेषजं देवानां दूत ईयसे॥

त्रायन्तमिमं देवास्त्रायन्ता मरुता गणाः।
त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरण असत्॥[4]

वायुमण्ड शुद्धिकरण हेतु 'यज्ञ' को वेदों में सर्वश्रेष्ठ साधन बताया गया है। यज्ञ में 'हवि' के रूप में डाले गये पदार्थ अग्नि में जलकर सूक्ष्म रूप में परिणत हो वायुमण्डल में प्रदूषण को नष्ट करते है। यज्ञीय अग्नि के द्वारा वायु,

---

1. अथर्ववेद 10/7/32
2. अथर्ववेद 12/1/97
3. अथर्ववेद 1/4/4
4. अथर्ववेद 4/13/3-4

जल, पृथिवी आदि का प्रदूषण नष्ट हो जाता है। वैदिक साहित्य में यज्ञीय द्रव्यों से वातावरण को संभूषित करने वाला पुरुष पीड़ा से दूर रहकर शक्तिवान होकर पाप कर्मों से विमुख रहता है-

व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पाप त्यया।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेणसमायुषा।।[1]

पृथ्वीसूक्त में अथर्ववेद में ऋषियों ने कहा है कि 'हे धरती माँ! जो कुछ भी तुझसे लूँगा, वह उतना ही होगा जिसे तू पुनः पैदा कर सके। तेरे मर्मस्थल पर या तेरी जीवन शक्ति पर कभी आघात नहीं करूँगा। 'ऋग्वेद में कहा गया है कि हमारी दैवीय नदियाँ हमारी रक्षा के लिए दयामय बनी रहें, वह हमें पीने के लिए जल प्रदान करती रहें और हम पर आनन्द और खुशियाँ बरसाती रहें। हमारी बहुमूल्य निधियों और मानव की भी विधाता, हे नदियाँ! हम तुम्हारे जल के, अरोग्यकर जल के आकाँक्षी हैं। ऋग्वेद के ऋषि केवल पंच भूतों के माहात्म्य से ही अवगत नहीं थे, अपितु वे औषधियों तथा पादपों के गुणों से भी पूर्णतः अभिज्ञ थे। एक मंत्र में ऋषि औषधियों से फूलों एवं फलों से लदे रहने की कामना करता है-

औषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवती प्रसूवरीः।
अश्वः इव सजित्वरीर्वीरुधः पारमिष्णवः।।[2]

ऋग्वेद के अरण्यानीसूक्त '10-16' में ऋषि देवमुनि ने अरण्यानी को वन की देवी के रूप में चित्रित किया है। उन्होंने छह मंत्रों में 'अरण्यानी' की स्तुति की है। इन मंत्रों में ऋषि के पर्यावरण के प्रति उत्कृष्ट मनोभावों को देखा जा सकता है। वह घोषित करता है, जब तक कोई अन्य 'अरण्यानी' पर आक्रमण कर उसे हानि नहीं पहुँचाता है तब तक वह भी किसी को कष्ट नहीं पहुँचाती है-

न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं निपद्यते।।[3]

यजुर्वेद में 'वृक्षाणां पतये नमः' कहकर वृक्षों की रक्षा करने वालों के प्रति सत्कार प्रदर्शित किया गया है। आयुर्वेद में रोग निवारण के लिए प्रयोग में आने वाली वनस्पति कब, कैसे, किसके द्वारा उखाड़ी जाय, जिससे कोई अयोग्य पुरूष

---

1. अथर्ववेद 3/31/2
2. ऋग्वेद 10/97/2
3. ऋग्वेद 10/146/5

उस वनस्पति का वंश नष्ट न कर दे। ऋग्वेद का 'अरण्यानी' सूक्त वनों की रक्षा के लिए प्रेरणादायक है। जिस संस्कृति के मानने वालों की आयु का 3/4 भाग वन में ही व्यतीत होता हो जहां आज भी पीपल, बरगद, बेल और तुलसी जैसे वृक्षों का इस देश में पूजन होता हो, उससे अधिक वनों के महत्व को कौन जान सकता है? वृक्ष, वनस्पतियों को पृथ्वी की लोम राशि कहा गया है। वृक्षों में सबसे अधिक प्राण-वायु पीपल का वृक्ष देता है। इसलिए हमारे वेदों में पीपल वृक्ष की पूजा की जाती है और इसको काटना घोर अपराध बताया गया है। उन्हें जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए प्रयुक्त तो किया जा सकता है किन्तु भोग, विलास, वैभव प्रदर्शन के लिए काटना पाप है। इससे पर्यावरण बिगड़ता है और संतति पर संकट आते हैं। प्रकृति का सौंदर्य बिगाड़ने का प्रयास पाप कर्म है। प्राकृतिक सम्पदा का उपयोग हो, उपभोग कदापि न हो। जो देता है वही देवता है इसलिए वह पूज्य भी है और संरक्षणीय भी। वैदिक मंत्र हमारी मानसिकता बताते हैं कि नदियाँ देवी रूपा हैं, वृक्ष देवता हैं, पहाड़ देवता हैं, उनका निर्मल तन्मात्र स्वरूप श्रेयस्कर है। वैदिक अनुष्ठानों में पदार्थों की शुद्धता पर विशेष बल दिया गया है। क्योंकि शुद्धता नत्रलन चक्र एवं पर्जन्य चक्र को निर्मित करती है और इन्हीं से सृष्टि का अस्तित्व बना हुआ है। ऋग्वेद के एक मंत्र में इसी भाव को इंगित करते हुए जल देवियों के शोधिका, सदा गमनशील, दिव्य, पवित्र रूप का उल्लेख है-

या आपो दिव्या उत वा स्त्रवन्ति
खनित्रिमा उत वा याः स्वयन्जा।
समुद्रार्था या शुचयः पावकास्ता
आपो देवीरिहमामुवन्त॥[1]

यहाँ ऋषि को मानव मात्र के रोगमुक्त, जीवन के प्रति उतनी ही चिन्ता है जितनी कि प्रकृति के प्रति मैत्री और अहिंसक भाव की। वन में मृग भी है और सिंह भी। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य मानो प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से यही रेखांकित करता सा प्रतीत होता है कि जीवों का वनों में निर्भय विचरण ही जीवन है-

मा त्वा श्येन उद्वधीन्मा सुपर्णो मा त्वा विददिषुमान्वीरो अस्ता।
पित्र्यामनु प्रदिशं कनिक्रदत्सुमंगलों मद्रवाही वदेह॥[2]

---

1. ऋ.सं. 3 मं. 7 सू. 101-5932
2. ऋ.सं. 1 मं. 2 सू. 42-2431.2

पर्यावरण संतुलन के मूल में जीव वनस्पति आदि के सह अस्तित्व का भाव है। प्रकृति का दिव्य संतुलन भी इसी आधार पर निर्भर है। शाश्वत एवं सर्वोपरि प्रथम नियमों का विवरण जो दैवी नियमों की मर्यादा में बंधे हैं, स्थिर पर्वत कभी झुकते नहीं, द्रोह रहित द्यावा-पृथ्वी भी उनका उल्लंघन नहीं करते ऐसा उल्लेख भी वेदों में मिलता है। इस मंत्र में बुद्धिमानों से अपेक्षा की गयी है कि वे प्रकृतिगत दैवी नियमों में रहे अर्थात् प्रकृति के दिव्य संतुलन को न बिगाड़े-

न ता मिनन्ति मायिनो न धीरा व्रता देवानां प्रथमा ध्रुवाणि।
न रोदसी अदुहा वेद्याभिर्न पर्वता निनमे तस्थिवांसः।।[1]

ऋग्वेद में वर्णन आया है कि ऋतुगणों ने पृथ्वी और आकाश के बीच सुरक्षा कवच के रूप में आयन मण्डल का निर्माण करने के साथ ही कवचों का निर्माण किया। ये सुरक्षा कवच वे हैं, जिन्हें आज का विज्ञान ओजोन पर्त के रूप में जान पाया है। जो सूर्य से आती पराबैगनी किरणों को परावर्तित और निष्प्रभावी बनाने का कार्य करती है। हमारे प्रगतिशील वैज्ञानिक जिस खतरे को ओजोन क्षय के रूप में 70 दशक में जान पाये उसका पूर्वाभास हमारे वेदज्ञ मनीषियों को युगों पूर्व हो चुका था। प्रकृति में देवों से प्रेरित यह अन्तरिक्ष कवच आकाश के अवांक्षनीय प्रवाहों से भूमण्डल की रक्षा करता है। यह मंत्रों से पुष्ट होता है। अथर्ववेद में मिलता है कि यज्ञ से यह कवच पुष्ट हो सकता है यह विस्तृत देवी स्वरूपा पृथ्वी शुभ संकल्पों से युक्त होकर चर्म रूपी ढाल धारण करें। जिससे हम पुण्य प्राप्त करें।

पर्यावरण को क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा का मिला रूप कहा गया है। ऋग्वेद में इनको देवता माना गया है और उनकी स्तुति का वर्णन है। यास्क ने निरूक्त अध्याय 7 से 12 दैवत-काण्ड में वैदिक देवताओं पर विवेचन प्रस्तुत करते हुए तीन देवों को मुख्य माना है 1. पृथ्वीस्थानीय-अग्नि, 2. अन्तरिक्षस्थानीय-इन्द्र, वायु, 3. द्युस्थानीय-सूर्य। तिस्त्र एवं देवता इति नैरूक्ताः। संस्कृत वाङ्मय प्रधानतया तीन रूपों में जाना जाता है-1. वैदिक साहित्य, 2. लौकिक साहित्य, 3. अर्वाचीन साहित्य। वैदिक साहित्य अनन्त ज्ञान राशि के अक्षय भण्डार है। इनमें निहित वैदिक मन्त्रों का मूल मानव कल्याण और पर्यावरण संरक्षण है।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः.....।
विश्वानि देव.....आसुवः।।[2]

---

1. ऋ.सं. 2 मं. 3 सू. 56-2989.1
2. महानारायणोप 9/7-11

अथर्ववेद के उपवेद आयुर्वेद में वृक्षों लताओं की जड़ों से असाध्य रोगों को जड़ से समाप्त के उपाय लिखे हुए हैं, पर यह तभी सम्भव है जब उस पौधे की रक्षा वर्तमान प्रदूषण से बचाते हुए की जाय। कवियों में अग्रगण्य कालिदास ने पर्यावरण पर अप्रतिम उद्धरण अपने नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दिया है, शकुन्तला के विदाई के अवसर पर केवल ऋषि कश्यप ही नहीं अपितु तपोवन के सभी देवता, वृक्ष, पशु और पक्षी दुःखी थे। क्योंकि शकुन्तला जीवित जाग्रत प्रकृति थी। वृक्ष और मनुष्य के बीच परस्पर प्रेम और आपसी समझ को हमारे ऋषियों और मुनियों ने बहुत पहले ही बता दिया था, जिस पर आज वैज्ञानिक अनुसंधान कर रहे हैं आज पर्यावरण रक्षा के प्रति सजगता लाने का प्रयास कर रहे हैं। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में कण्व शकुन्तला के बारे में कहते हैं-

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥[1]

वैदिक काल में ऋषि मुनियों ने मानव जीवन के लिये बड़ी ही सुन्दर परिकल्पना की है:-'सर्वे भवन्तु सुखिनः.....दुःखभाग् भवेत्।।[2]' अर्थात् सभी सुखी हों, सभी निरोग हों, सभी कल्याण के भागी हों, कोई दुःख का भागी न बने। किन्तु आज वैदिक ऋषि-मुनियों की यह कल्पना चरितार्थ नहीं हो पा रही है। आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्य ने जितनी उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, उससे भी अधिक खोया है। मिट्टी, जल, वायु, वनस्पति, पशु, पक्षी, कीट-पतंगे ये सभी पर्यावरण के अंग हैं। इनमें वनस्पति सहकारी तत्व है जो वायु के शुद्धिकरण में, जल के संरक्षण में, जल के उत्पादन में, ताप को कम करने में सहायक है। अपने जीवन के बाद भी ये वृक्ष अनेक जीवों के लिए भोजन और खाद पैदा करते हैं। किन्तु मानव अपने थोड़े से लाभ के लिये वनों की अंधाधुंध कटाई करता जा रहा है। एक वृक्ष अपने 50 वर्ष के जीवन में मनुष्य जाति के लिये 25 लाख रूपये के बराबर लाभ पहुँचाता है, उससे प्राप्त हुआ खाद का मूल्य करीब 15 लाख रूपये का होता है, ऐसा वैज्ञानिकों का अनुमान है। मत्स्य पुराण में कहा भी गया है, 'दस पुत्र समो वृक्षः'[3] अर्थात् दस पुत्र के समान एक

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम्- कालिदास 4/9
2. सुभाषितानि
3. मत्स्यपुराण

वृक्ष होता है। महाभारत में व्यास जी ने हरे वृक्ष को काटना जीव वध के समान बताया है। व्यास जी कहते है:-

एतेषां वृक्षाणां छेदनं नैव कारयेत्।
चार्तुमासे विशेषेण बिना यज्ञादिकारणम्।।[1]

किन्तु उद्योगों की स्थापना एवं शहरीकरण के कारण बहुत जंगल नुकसानदायक होते जा रहे हैं। बाढ़, मिट्टी का कटाव पर्यावरण संतुलन को बिगाड़ दे रहा है। ऐसे समय में जरूरी है कि हम ज्यादा से ज्यादा वृक्षों को लगाये और उसकी रक्षा करें। आज मेघ वर्षा भी कर रहे हैं तो तनावयुक्त जबकि मेघदूतम् में कालिदास ने मेघ की बड़ी ही सुन्दर संरचना की है:-'धूमज्योतिः सलिल मरूतां सन्निपातः क्वमेघः।'[2] वृक्षों की अंधाधुंध कटाई से वायु प्रदूषण करने वाले कारक बढ़ते चले जा रहे है। वायु प्रदूषण इतना बढ़ता जा रहा है, व्यायाम या योग भी कारगर सिद्ध नहीं हो पा रहा है। आज हम व्यायामशाला जायें या घरों में व्यायाम करें तब भी हमारे फेफड़े को वही प्रदूषित वायु मिलती है। एक सामान्य मनुष्य 22000 बार श्वास लेता है। आज वृक्षों की कतार कम होती जा रही है। वृक्ष स्वयं रोगी होकर सूख जा रहे है। हमारे पशु-पक्षी भी पर्यावरण संतुलन द्वारा पर्यावरण को स्वच्छ करते हैं। पंक्षी संरक्षण पर विशेष जोर रामायण में भी मिलता है, जब वाल्मीकि जी बहेलिये को क्रौंच पंक्षी को मारते देखते है और अचानक उनके मुंह से श्लोकबद्ध भाव निकलता है:-

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।[3]

सुभाषितानि में जल को रत्न की संज्ञा दी गयी है:-'पृथिव्याः त्रीणि रत्नानि जलमग्नं सुभाषितम्।' जल ही जीवन है, किन्तु यह आज दूषित होता जा रहा है। वैसे तो सरकार तरह-तरह का कानून बनाकर जल प्रदूषण को रोक रही है, किन्तु हमें स्वयं जल के महत्व को समझना चाहिये। गंदगियों को उसमें नहीं गिरना चाहिये। गंदे पानी को शुद्ध करके ही नदियों में गिरायें। कूड़े-कचरे को गड्ढा बनाकर उसमें डाल दें फिर उसके ऊपर मिट्टी डालकर उसे ढक दें। नदियों में कपड़े न धुले और न ही मवेशियों को नहलायें। मरे हुये जीवों को नदियों में न फेंके। इस तरह हम अपने जल को स्वच्छ रख पायेंगे।

---

1. महाभारत
2. पूर्व मेघदूतम्
3. रामायण

उद्योगों के लिए ऊर्जा भी एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है जिसे कोयला, परमाणु ऊर्जा, जल आदि के माध्यम से प्राप्त किया जाता है। जिसमें कोयला व परमाणु ऊर्जा अवशिष्ट के रूप में बहुत ही घातक पदार्थ का विसर्जन जैसी बीमारियों का कारण ही परमाणु के साथ लापरवाही में जापान के नागासाकी व हिरोशिमा जैसी स्थिति होगी। अतः जहाँ मनुष्य एक तरफ प्रकृति से उचित लाभ अर्जित करता है, वहीं दूसरी तरफ वह ऐसे तत्वों के विसर्जन का कारक बनता जाता है, जो उसके अस्तित्व के लिए खतरा बनता जा रहा है। इस बात से यद्यपि मनुष्य अवगत है फिर भी वह इस पर विचार करने के बजाय ऐसी गलतियाँ करता जा रहा है। आज पर्यावरण में संभवतः इतना प्रदूषण नहीं होता, यदि हमने वैदिक ऋषियों के इस निर्देश का पालन किया होता-'शतहस्त समाहर, सहस्त्रहस्त संकिर'[1] अर्थात् 100 हाथों से लो लेकिन हजार हाथों से दान भी करो। हमने प्रकृति से लिया तो बहुत लेकिन उसे दिया कुछ भी नहीं। आज हमें पुनः ऋषियों की वाणी पर मनन और चिन्तन करने की आवश्यकता है।

पृथ्वी पर व्याप्त वे सम्पूर्ण वस्तुएँ जिस पर मनुष्य ने अपने मस्तिष्क का प्रयोग नहीं किया है, प्राकृतिक कहलाता है। प्रकृति के प्रत्येक तत्त्व एक दूसरे की आवश्यकता के पूरक है। मनुष्य भी प्रकृति का एक अंग है। अतः इसे भी अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए प्रकृति पर निर्भर रहना पड़ता है। अतः प्रकृति का दोहन करना पड़ता है। अतः प्रकृति का दोहन करना इसके लिए आवश्यक है। अतः यह इससे मुक्त नहीं हो सकता है। परन्तु यदि वह अन्य प्राकृतिक तत्वों की भाँति आवश्यकतानुरूप ही इसका दोहन करे तो यह मानव प्रकृति संबंध भी संतुलित रहेगा।

वैदिक साहित्य में पर्यावरण प्रदूषण जन्य उक्त समस्याओं के समाधान हेतु पर्यावरण संतुलन, संरक्षण, शोधन, पर्यावरण प्रदूषण निवारण तथा पर्यावरणशोधक अनेक उपायों तथा तत्वों का उल्लेख प्राप्त होता है। वेदों में पर्वत, जल, वायु, वर्षा, अग्नि, सूर्य, पृथ्वी, नदियाँ, वृक्ष-वनस्पतियाँ, औषधियाँ, ओजोन परत, यज्ञ या अग्निहोत्र आदि पर्यावरणशोधक तत्व बताये गये हैं। वेदोक्त पर्यावरणशोधक तत्वों एवं उपायों को अपना कर हम विविध प्रकार की प्राकृतिक आपदाओं एवं प्राकृतिक प्रणालियों की विसंगतियों से उत्पन्न समस्याओं का निराकरण करने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं तथा अपने पर्यावरण को शुद्ध, संरक्षित एवं संतुलित बनाए रखने में पूर्ण रूपेण सक्षम एवं समर्थ हो सकते हैं।

अस्तु, जीवन को सुखमय बनाने के लिये पर्यावरणीय संचेतना की महती

---

1. संस्कृत साहित्य में पर्यावरण -प्रो. सुषमा कुलश्रेष्ठ

आवश्यकता है। पर्यावरण की रक्षा और शुद्धि के उपाय 'वेदो' में निहित है। आधुनिक युग में इन बिखरे हुए उपायों का, संचेतनाओं का अनुसरण कर वैदिक रीति से पर्यावरण को सुरक्षित एवं प्रदूषण रहित बनाये जाने की आवश्यकता है, अन्यथा मृदा-संरक्षण वर्षा जल-संरक्षण वर्ष आदि की घोषणा मात्र से हम अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

उत्तरनैषधीयचरिते रसयोजना

ममता पाठक, शोधच्छात्रा

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली

काव्यशाखस्त्रपरम्परायां सर्वोपरि स्थानमस्ति रसस्य। आचार्याः रसं काव्यस्यात्मरूपेण स्वीकुर्वन्ति। रसशब्दः वेदवत् पुरातनो अस्ति। शब्दोऽयं वेदेषु अनेकेषु स्थलेषु प्रसङ्गेषु च उपलभ्यते एवञ्च अस्य प्रयोगः अनेकेषु अर्थेषु समुपलभ्यते। ऋग्वेदस्य एकस्मिन् मन्त्रे ('रसेन सभगस्महि') शब्दोऽयं जलस्य सारवोधकरूपेण प्रयुक्तः।[1] अन्यत्र 'जम्भे रसस्य वावृधे' अस्मिन् मन्त्रे अयं रसशब्दः गो-दुग्धवाचकः अस्ति।[2] अत्र कवि-काव्य रसाभिप्रेतश्च रसः। एवमेव प्रतीयते यत् तस्मिन् काले प्रतिपादितः रसकव्योः सम्बधः पश्चात्काले रसकाव्ययोः सम्बधस्य आधारो वर्तते। 'यो वः शिवतमो रसः[3] अस्मिन् मन्त्रे यः जलेन सम्बधितः रसः भवति स आनन्दमयः एवमेव वर्णनं प्राप्यते। ऋग्वेदे काव्यरसस्य आनन्दमयता-विषये अनेके मन्त्राः विद्यमानाः सन्ति। उपनिषत्सु आस्वाद्यतार्थेऽपि रसशब्दस्य प्रयोगः क्रियते।[4]

उत्तरनैषधीयचरिते रसाः

विश्वनाथानुसारं महाकाव्ये शृङ्गार-वीर-शान्तरसेषु एकः अङ्गिरूपेण अन्ये च अङ्गरूपेण भवेत्। ध्वन्यालोककारोऽपि मतमिदं स्वीकरोति। उत्तरनैषधीयचरितस्य अनुशीलनेन स्पष्टं यत् अस्मिन् महाकाव्ये शृंगार एव कविना अङ्गिरूपेण प्रयुक्तः।

यथा-

साऽभ्यवादत पदेऽपि च पत्तुं, संगतोरसि, दृशावमिमीलत्
कान्तकान्तपुलकाङ्गतरङ्गे सिक्तमेव सुधया स्वमबुद्ध्य॥[5]

---

1. ऋग्वेद- 1.23.23
2. तदेव- 1.37.5
3. तदेव- 10.9.2, यजु.- 11.51
4. बृ.उ.- 4.3.25 (यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै....)
5. उ.नै. 21.16

1. वीररसः-

धनञ्जयः वीररसस्य लक्षणं कुर्वन् कथयति यत्-वीरश्च चतुर्धा, दान-दया-युद्ध-धर्मैस्तूपाधेरुत्साहस्य चतुर्विधत्वात्।[1] अर्थात् वीररसः चतुर्विधः भवति।

1) धर्मवीरः 2) दानवीरः 3) दयावीरः 4) युद्धवीरः

वीररसस्य उदाहरणानि अत्र प्रस्तूयन्ते-

दरीदुरन्ते मुखगह्वरे हरेः बलाद्विशन्तीमबलां समुज्ज्वलाम्।
विलोकमुद्धर्त्तुमना क्षुरं शये नयन्नधावत् मृगजीवनः शयुम्॥[2]

प्रस्तुते श्लोके स्थायीभावस्य आश्रयः उत्साहयुक्तः व्याधः। आलम्बन विभावः शत्रुः भुजङ्गः उद्दीपनविभावः हस्तिनः क्षुरः। मति-दीप्ति-गर्भाश्च सञ्चारिभावाः। कानिचन अन्यानि उदाहरणानि अपि सन्ति-

जाने सुदूरेऽवधतो विदर्भा जाने वृति श्वश्च विदर्भजायाः।
किं तेन चेदिच्छसि तत्र यायाः सन्त्वत्र देवास्तव ते सहायाः॥

अहं त्वदर्थं प्रयते, यतेरन् अश्वा, विवस्वानपि साक्षिभूतः।
भुक्तस्य देयं लवणस्य देयं कृते मया निकृतये तथाश्वैः॥

अश्वेऽनुकूले सति दैवमूले विधौ विधौताघकुले कुलेऽस्मिन्।
समर्थबाहो मयि बाहुके स्यान्न सार्थकं किं नरदेव! लोके?

धराधरेयं तव तुंगसप्तेः प्रधावतः का नरसप्तसप्ते!
घटीभिरेवं कियतीभिरेव घटेत यात्रा तव लक्ष्यमात्रा॥[3]

2. करूणरसः

करुणरसस्य स्थायिभावः शोको भवति। यदा प्रियमरणं जायते तदा चित्ते व्याकुलता आयाति, एषा स्वाभाविकी व्याकुलतैव शोकः।

इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्।[4]

यस्य कृते शोकः क्रियते सः आलम्बनः भवति। तस्य दाह-अवस्था उद्दीपनाः, दैवनिन्दा-क्रन्दनादयः अनुभावाः तथा मोह-व्याधि-ग्लानि-विषादादयः व्यभिचारीभावाः भवन्ति।

---

1. दशरुपक. 4.72
2. उ.नै. 1.88
3. तदेव. 8.69, 8.70, 8.73, 19.8
4. साहित्यदर्पण. तृ. परिच्छेद. पृ. 222

यथा–

मृगेश्वरे मूकति, वाग्यते गिरौ ह्रिया प्रियाप्तिप्रतिबन्धकुण्ठिता।
प्रचक्रमे क्रन्दितुमेव भीमजा क्षितौ लुठन्ती नलनाम्नि लुण्ठिता।।[1]

3. भयानकरसः–

भयानकरसस्य स्थायिभावः भयम्। कस्यापि भयङ्करवस्तुनः कारणात् हृदये या विकलता आयाति सा चित्तवृत्ति भयम् अस्ति।

भयानकोभयस्थायी भावो कालाऽधिदैवतः
स्त्रीनीचप्रकृतिः कृष्णो मतस्तत्त्वविशारदैः।

यस्मादुत्पद्यते भीतिस्तदत्रालम्बनं मतम्
चेष्टा घोरतरा तस्य भवेदुद्दीपनं पुनः।।[2]

उत्तरनैषधीयचरिते प्रथमे एव सर्गे भयानकरसः दृश्यते।

यथा–

अरण्यमेतद् घनमस्तपूषणं
विनिर्गमं हिंस्त्रसहस्त्रभीषणम्।
चकास्ति सीमास्य पुलिन्दतुन्दिला
ह्यनादिमध्यान्तमयाश्च कापथाः।[3]

व्याधः दमयन्तीं कथयति अरण्यविषये, अत्र सूर्यस्य रश्मयः अपि न प्रविशन्ति। सहस्त्रशः हिंस्त्रकपशवोऽपि यत्र-तत्र भ्रमन्ति। अस्मिन् वने पन्थानः कुपथाः सन्ति। अस्मिन् श्लोके भयस्थायिभावस्य आश्रयः दमयन्ती, व्याध आलम्बनविभावः, एकान्तवनम् उद्दीपनविभावः, कम्पनादयः अनुभावाः, उग्रता-आवेगादयः व्यभिचारिभावाः सन्ति।

4. अद्भुतरसः

अद्भुतरसस्य स्थायिभावः विस्मयः। आलौकिक दर्शनं तत् श्रवणं वा उद्दीपनं, रोमाञ्चादयः अनुभावाः, वितर्क-हर्षादयः व्यभिचारिभावाः। विलक्षणवस्तूनां दर्शनेन श्रवणेन च हृदये ये विकाराः आगच्छन्ति तेषामेव नाम विस्मयः। अस्य वर्णः पीतः, देवता गन्धर्वः।

---

1. उ.नै. 1.133
2. साहित्यदर्पण. तृ. परिच्छेद. पृ. 235-236
3. उ.नै. 1.92

अद्भुतो विस्मयस्थायीभावो गन्धर्वदैवतः।
पीतवर्णो, वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम्॥

गुणानां तस्य महिमा भवेद् उद्दीपनः पुनः।
स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चगद्गदस्वरसंभ्रमाः॥

तथा नेत्रविकासाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः।
वितर्कवेगसंभ्रान्तिहर्षाद्या व्यभिचारिणः॥[1]

उत्तरनैषधीयचरितस्य एकादशसर्गे केशिनी दमयन्तीं बाहुकरूपिनलस्य विषये अद्भुततया वदति यत्–

यद्येष कुत्रचन कामयते प्रवेष्टुं
द्वारे लघावपि गुरूयति तन्न नौति
चित्रं महत्यपि च वर्ष्मणि गह्वरेषु
क्षुद्रेषु वेश्मसु च नश्यति तन्निनंस्त।[2]

प्रस्तुते श्लोके विस्मयः स्थायीभावस्य आश्रयः केशिनी, आलम्बनविभावः नलस्य गुणाः, गह्वराणां लघुतायाः दर्शनम् उद्दीपनविभावः, रोमाञ्च-आवेग-हर्षादयः व्यभिचारीभावाः सन्ति। अपि च–

मांसे सिसाधयिष्यते कृतसन्निधाना
रिक्ता घटा अपि दृशैव तदैव पूर्त्ताः।

पूर्णा बभूवुरमलेन जलेन तूर्णं
प्रक्षालनाय न जलाय जुहाव कंञ्चित॥

नाग्निं तदार्त्तिथत पक्तुमयं स्वहस्ते
धृत्वा तृणं दिनमणेः किरणं समाह्वयत्

जज्वाल येन तृणजालमसौ सशौचं
तत्राध्यशिश्रियददः पिशितस्य पात्रम्॥

नैनं स्पृशन्तमपि वह्निकणस्त्वधाक्षित्त-
च्छन्दकन्दमुपहत्य न वार्यवाक्षीत्।

भूतद्वयेऽस्य वलवत्यनले जले च
पूर्णं प्रभुत्वमिह कस्य न विस्मयाय।[3]

---

1. साहित्यदर्पण. तृ. परिच्छेद. पृ. 242-244
2. उ.नै. 11.105
3. उ.नै. 11.106, 107, 108

5. शान्तरसः

निर्वेदस्थायीभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।[1]

शान्तरसस्य स्थायीभावः निर्वेदः। अस्य अपर नाम शमः अपि भवति। शमस्य अभिप्रायो भवति-वैराग्यदशायाम् आत्मरत्या उत्पन्नानन्दः।

शान्तःशमस्थायी भाव उत्तमप्रकृतिर्मतः।
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः॥

अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनिःसारता तु या।
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते॥

पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः।
महापुरूषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरुपिणः॥

रोमाञ्चाद्याश्चाऽनुभावास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः।
निर्वेदहर्षस्मरणमतिभूतदयादयः॥[2]

मिथ्यारूपेण भाव्यमानं जगदेव शान्तरसस्य आलम्बनः, पवित्रः आश्रमः, तीर्थः, महापुरुषसङ्गादयः उद्दीपनाः, रोमाञ्चादयः अनुभावाः, स्मृति-मत्यादयः व्यभिचारिभावाः सन्ति। उत्तरनैषधीयचरितस्य प्रथमे एव सर्गे अस्य रसस्य परिपाकः दृश्यते। यत्र दमयन्ती दिव्यतपोवने तपस्विभिः सह निवसति-

विलोक्य दिव्यं विपिनं मुनीन् पुनः,
जलाशनान्वायुवशांश्च तापसान्।
जलं जसं प्राश्य दिनान्युपोष्य
सा निजामवस्थामपि पर्यतूतुलत्॥[3]

प्रस्तुते श्लोके दमयन्ती निर्वेदस्थायीभावस्य आश्रयः, तपोवनादि आलम्बन-विभावः, मुनिभिः सह निवासादयः उद्दीपनविभावः, तथा च तैः सह स्वंयस्य साम्यं सञ्चारिभावो वर्तते।

6. रौद्ररसः -

रौद्ररसस्य स्थायीभावः क्रोधः। विरुद्धप्रकृतियुक्तजनानां कृते हृदये या प्रतिरोधस्य भावना उत्पन्ना भवति तस्या एव नाम क्रौधः।

---

1. काव्य प्रकाश. पृ. 157
2. उ.नै. साहित्यदर्पण. तृ. परिच्छेद. पृ. 245-248
3. उ.नै. 1.145

रौद्रः क्रौधस्थायी भावो रक्तो रूद्राधिदैवतः।
आलम्वनमरिस्तत्र तच्चेष्टोद्दीपनं मतम्॥[1]

अत्र शत्रुः आलम्बनः भवति। शत्रोः चेष्टादीनि उद्दीपनानि, शस्त्रोत्क्षेपणादयः अनुभावाः, तथा च मोह-अमर्षादयः व्यभिचारिभावाः सन्ति। उत्तरनैषधीयचरितस्य प्रथमे एव सर्गे अस्य रसस्य परिपाकः दृश्यते

शृगालशावस्य तरक्षुकामिनी प्रणीतिलिप्सामिव जाग्रतीं रतिम्
विनिन्द्य शार्दूलगिरा जगर्ज तं न वाचमुच्चारय नीच! तां पुनः।[2]

यदा व्याधः दमयन्तीं प्रणयार्थं निवेदयति तदा दमयन्ती तं व्याधं प्रति उच्चस्वरेण कथयति।

प्रस्तुते एव प्रसङ्गे अन्यानि अपि उदाहरणानि प्रस्तूयन्ते-

न ते मुखाद् रे परदारलम्पट! च्युता धरायां रसना विवक्षतः।
सतीजनानामवहेलयोत्थितं किमर्चिरद्यापि न लोचने गतम्?

न मे सहायः किमिदं विचिन्त्यते विचार्यते वा यदहं कुलाबला।
ऋतस्य सत्यस्य धरा वसुन्धरा बिभेति न क्षत्रियवंशपालिका॥

सती यदि स्यां पतिपादसेवका युवा न चान्यो मनसापि चिन्तितः।
शपे पतत्वेष परासुराशु मे दृशोः पुरस्तादधिभूमि पामरः॥[3]

निष्कर्षः

निष्कर्षरूपेण वक्तुं शक्यते यत् कविना गोस्वामि पं. भैरवगिरिशास्त्रिणा उत्तरनैषधीयचरिते प्रायः सर्वान् रसान् प्रयुज्य शृङ्गाररसः अङ्गिरसरूपेण स्वीकृतः, तथा च अन्येषां रसानां प्रयोगः गौणरूपेण कृतः। भारतीयकाव्यशास्त्रिभिः महाकाव्ये विविधरसानां योजनायां विशेषबलंदीयते। भामहस्य मतानुसारं महाकाव्येप्रयुक्तानां सर्वेषां रसानां स्थितिः भिन्ना-भिन्ना स्यात्। आचार्यः दण्डी अपि भामहस्य अस्य मतस्य समर्थनं करोति। परञ्च महाकाव्ये प्रायः यद्यपि सर्वे रसाः विद्यन्ते तदापि प्रधानरसः अथवा अङ्गी रसः एक एव भवति। आचार्यः विश्वनाथः महाकाव्ये श्रृंगार- वीर - शान्तरसेषु च कमपि एकम् अङ्गिरूपेण स्वीकरोति, तथा च अन्यान् शेषरसान् अङ्गरूपेणस्वीकरोति। तेनोक्तम्-

---

1. साहित्यदर्पण 3.227
2. उ.नै. 1.99
3. उ.नै. 1.100, 101, 102

शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रसः इष्यते।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः॥

अतः महाकाव्यस्य लक्षणानुसारं गोस्वामि पं. भैरवगिरिशास्त्रिणा शृङ्गाररसः अङ्गिरूपेण उत्तरनैषधीयचरिते महाकाव्ये प्रयुक्तः तथा वीर-भयानक-रौद्रादिरसान् गौणरूपेण प्रयुज्य महाकाव्ये विभिन्नानां रसानां सुन्दररूपेण समावेशः कृतोऽस्ति। कविः नलस्य उदात्तचरित्रं प्रस्तुत्य शृङ्गाररसं प्रधानरूपेण स्वीकृत्य महाकाव्यस्यास्य उत्कृष्टं प्रतिष्ठापयति तथा च अन्यान् गौणरसान् अपि समाविश्य रसदृष्ट्याकाव्यमिदं महत्त्वपूर्णरूपेण प्रस्तौति। अतः अन्ते एवमेव वक्तुं शक्यते यत् उत्तरनैषधीयचरितं महाकाव्यं शृङ्गाररसप्रधानेषु उत्कृष्टमहाकाव्येषु अन्यतमम् अस्ति। यस्याध्ययनाय पाठकाः बद्धादरा दृष्यन्ते।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

संस्कृतवाङ्मये डॉ. नन्दकिशोरगौतमप्रणीत-यौतुकनर्तनम् इति कथायाः लोकोपयोगिता

-मुनेशकुमारः

शोधच्छात्रः (साहित्यविभागः)

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् (मा.वि.) नव देहली

"सम्-उपसर्गपूर्वकात् डुकृञ्करणे इति धातोः क्त-प्रत्यये संस्कृतशब्दो निष्पद्यते। यस्यार्थो भवति परिष्कृतः दोषरहितः शुद्धो वा"[1] अस्यामेव संस्कृतभाषायां निबन्ध साहित्यं संस्कृसाहित्यमित्युच्यते। संस्कृतसाहित्यं कश्चन लोकप्रियः विषयः अस्ति। संस्कृतवाङ्मये काव्यादीनां यथा वैशिष्ट्यमस्ति तथा अलङ्कारशास्त्राणामपि।

संस्कृतवाङ्मयं विश्वस्य सर्वश्रेष्ठं व प्राचीनवाङ्मयमस्ति। अस्य अत्यन्तं विस्तृतः इतिहासः अस्ति। संस्कृतसाहित्यस्य अनेके विधाः सन्ति। यथा - काव्यं नाटकं कथा चम्पुः चेत्यादयः।

"साहित्यदर्पणकारस्य आचार्यविश्वनाथस्य मतानुसारेण काव्यं द्विधा भवति। दृश्यं श्रव्यं च। दृश्यते नाटकादिकं श्रव्ये काव्यम् इत्यादि अन्तर्भवति। अनन्तरं श्रव्यकाव्यस्य भेदद्वयं भवति। पद्यकाव्यं गद्यकाव्यं चेति"।[2]

गद्यकाव्यस्य एकम् असाधारणं वैशिष्ट्यमिदमस्ति यद् गद्यरचनायां साहित्यकारस्य लेखनी छन्दोबन्धनस्य नियमात् सर्वथा रहिता भवति, सा विधा छन्दसि निर्धारितानां वर्णानां मात्राणां संख्यायाः वा महत्त्वं न भवति। अतः गद्यकाव्ये वाक्यानां कोमलता, सुन्दरता, सरसता, रमणीयता च तावती अपेक्षिता भवति यावती पद्यकाव्ये ततोऽपि अधिका भवति। परन्तु गद्यकाव्ये छन्दासाम् अभावात् झटिति प्रतीयन्ते। तथा शब्दासाम् आभा आकर्षिका विद्यते।

संस्कृतवाङ्मये गद्यलेखनस्य परम्परा सर्वादौ वेदेषु द्रष्टुमुपलभ्यते अनन्तरं पुराणेषु, शास्त्रेषु, बृहत्कथासु आधुनिकगद्यकाव्येषु च। आधुनिकगद्यसाहित्ये अन्यतमेन डॉ. नन्दकिशोरगौतमेन महोदयेन रचित यौतुकनर्तनम् एतिहासिकनाटकमस्ति।

---

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास
2. साहित्य दर्पण

"राजस्थानप्रान्ते सवाईमाधोपुरमण्डलान्तर्गतशिवालय-(शिवाड) ग्रामे 1937 खिस्ताब्दे डॉ. नन्दकिशोरगौतमो जनिमलभत्। अमुना एम.ए. (संस्कृत)-परीक्षा प्रथमश्रेण्यां समुत्तीर्णा। राजस्थानविश्वविद्यालयात् विद्यावारिधिः इत्युपाधिः साहित्यायुर्वेदाचार्यपरीक्षे साहित्यायुर्वेदरत्नं चेति शैक्षणिकयोग्यताः प्राप्य विभिन्न-संस्कृतमहाविद्यालयेषु आचार्यपदे प्रतिष्ठितोऽसौ साहित्यस्याध्यापनं कृतवान्"।[1]

इदं पुस्तकं डॉ. निर्मलस्य संस्कृतकथानां संग्रहः अस्ति। अस्मिन् एकादशसंस्कृतकथाः सन्ति। सः इमां कथानिकां स्व-स्नेहमयीं मातरं रामकन्याम् उपाध्यायां समर्पितवान्। कथासंग्रहस्य भूमिकायां विषये डॉ. निर्मलः कथयति। यत् छात्रावासात् एव मम हृदये नारीपीडायाः कष्टमासीत्। सः छात्रावासे एव विधवां प्रति ''लहर'' नामकस्य स्वकवितायां तस्याः प्रताडितम्, तथा असायरूपं प्रदर्शितमकरोत्। अतः अस्मिन् पुस्तके मुख्यतः यौतुकनर्तनम् (दहेजप्रथा) इति समस्यायाः वर्णनमस्ति।

डॉ. गौतमनिर्मलद्वारा रचितयौतुकनर्तनकथायाः अनुसारेणैव कथायाः लक्षणम्-

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके॥
आदौ पद्ये नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम्।[2]

अर्थात् कथायामिति कथानामकः गद्यकाव्ये रसप्रधानः अत्र रसपदस्य प्रधानतया शृंगाररसस्य एव ग्रहणं भवति। कथानकगद्यैः एव विरचितं भवति। अस्यां कथायां क्वचिद् आर्याछन्दसा उपनिबन्धं पद्यं भवति। कथायाः प्रारम्भे श्लोकैः देवतां नमस्कृतवान् तथा च दुष्टादिकानाम् आदिपदेन सज्जानाम् अपि ग्रहणं भवति। तथा च आख्यायिका अपि कथायाः समाना भवति।

"यौतुकनर्तनम् कथासंग्रहे एकादश कथाः सन्ति तासु कथासु प्रथमा कथानिका 'यौतुकनर्तनम्' एव अस्ति। इयं यौतुकस्य लोभं नीत्वा अलिखत्। द्वितीया कथानिका ''करुणमूर्ति'' वैश्यायाः परिवर्तितं करुणहृदयं नीत्वा अलिखत्। तृतीया कथानिका ''शठे शाठ्यं समाचरेत्'' अपि यौतुकविषयम् एव नीत्वा लिखति स्म। चतुर्थी कथानिका ''कंटकशोधनम्'' यौतुकविषये एव अलिखत्। पञ्चमी ''स्वीकृता'' इयं कथानिका अपि यौतुकविषये एव समाश्रिता अस्ति। षष्ठी 'समाश्रिता' इयं कथानिका विधवासमस्यायाः आधारेण अलिखत्। सप्तमी-''वरानुदानम्'' इयं कथानिका यौतुकप्रथायाम् आधारिता। अष्टमी ''युगानुदानकम्'' इयं कथानिका विधवा-नारीणां समस्यायाः उपरि अलिखत्। नवमी 'नष्टदेवस्य भ्रष्टभुजा' इयं

---

1. प्रतिश्रुतिः काव्यम्
2. कादम्वरी

कथानिका अपि अनुचितवरस्य त्यागेन अलिखत्। दशमी ''मधुरमिलनम्'' इयं कथानिका अपि अति अनुचितवरस्य नीत्वा अलिखत्। अस्मिन् एकादशी ''विवशता'' इयं कथानिका यौतुकप्रथायाः भयङ्करविभीषिकां नीत्वा अलिखत्। इयं कथानिका एकं महत्त्वपूर्णास्ति"।[1] अत्र वधू यावत् स्वस्य कृते स्वयं वृक्षान् छित्वा मार्गं न स्थापयति। तावत् तस्याः कृते मार्गः न प्राप्तुं शक्यते। अस्यानन्तरम् अपि अप्रचलितशब्दानां रूपे नारीं प्रति यौतुकस्य प्रताडना अवश्यं प्राप्यते। अर्थात् अस्यां पुस्तके सर्वत्र नारीणां समस्यानां एव वर्णनमस्ति। कथानिकायाः आरम्भे लक्षणे स्पष्टं कथयति यत् कथायाः प्रारम्भे श्लोकैः देवतां नमस्कारः तथा च दुष्टादिकानाम् आदिपदेन सज्जनानाम् अपि ग्रहणं भवति किन्तु यौतुकनर्तने भूमिकायाः अनन्तरं कथानिकां प्रारब्धवान्। अतः अत्र यौतुकरूपी नर्तनं भवति।

अभिज्ञानशाकुन्तले कालिदासः कथयति यत् –

अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा।।[2]

वर्तमानसमये अस्माकं समाजे इमां विकृतां यौतुकसमस्यां दृष्टा मम मनसि एका जिज्ञासा उत्पद्यते यत् एषा समस्या कथं दूरीकर्तुं शक्यते। तथा येन परमानन्दस्य प्राप्तिः भवति। तेनैव च विकृतां यौतुकसमस्यां प्रत्येकं जनः ज्ञातुं शक्नोति। यत् इयं कियती विकृता समस्या अस्ति। यतोहि काव्यपठनस्य अभिलाषः प्रत्येकं जनस्य भवति। यदा प्रत्येक व्यक्तिः काव्यं पठति तदा सः यौतुकसदृशेन विकृतसमस्यया अपि परिचितः भवति। तदा सहृदयानां माध्यमेन अस्याः भयानकसमस्यायाः दूरीकरणं शक्यते।

अस्मिन् भौतिकवादः युगे अस्माकम् आवश्यकतानां तु वृद्धिः अभवत्। सापि वृद्धिः अस्माकं संकीर्णतायाम् अभवत्। वयं समानतायाः वार्ताः तु अवश्यं कुर्मः। किन्तु व्याख्यानेषु भाषणेषु च यावत् समानतां सीमितां कुर्मः। अद्यापि वरकन्ययोः विवाहो न, अपितु वराय कन्या दाने दीयते। समाजस्य कोऽपि चिकित्सकः अस्य रोगस्य चिकित्सां न कर्तुमिच्छति। वयं तादृशं समाजं साम्यभावं शिक्षयितुं ग्रहेषु एवं यौतुकदानस्य प्रथां समापयिष्यामः। अन्यथा अबलानाम् उपरि असाचाराः निरन्तरं वृद्धिं प्राप्नुवन्ति। यतोहि समाजस्य दानीवयप्रवृत्तिः प्रबला जाता। अतः यां वारयितुं समाजस्य विकासाय च रामावतारस्य आवश्यकता अस्ति।

---

1. यौतुकनर्तनम्
2. अभिज्ञानशाकुन्तलम–4/22

"अद्य सर्वः जनः सर्वस्यापि उपभोगं कर्तुमिच्छति। सः विवाहे न भार्याः, अपितु वैवाहिकसम्पत्तेः चयनं करोति"।[1] फलतः विवाहे व्यर्थव्ययः जायते। अनेन प्रकारेण यौतुकस्य जन्म अभवत्। समाजं निष्कण्टकी कर्तुं वयं नवीनग्रह्यसूत्राणां तथा च वैवाहिकरीतीनां सर्जनं करिष्यामः। यौतुकेन विना नारीणां हननं भवन्ति परं हननं तु तेषां भवेत् ये यौतुकं ग्रहाणि अथवा प्रोत्साहं कुर्वन्ति अतः कथ्यते-

पुत्राः पुत्र्यो न विक्रीयन्ते
यौतुकप्रथायाः बहिष्कारो भेवत्
वयं धनं न इच्छामः
यौतुकग्राहिणः पापिनः।।[2]

काव्यस्य माध्यमेन जनाः कामपि विकृतसमस्यां शीघ्रं ज्ञास्यन्ति। अतः एव डॉ. नन्दकिशोरगौतमेन रचित-''यौतुकनर्तनम्'' नामककाव्यम् आधारीकृत्य इमां विकृतसमस्यां कथं कवयः प्रदर्शितवन्तः। समाजे कथं तत्प्रभावः जातः कथं च दूरीकर्तुं शक्यते इति कथायाः लोकोपयोगिता।

✦✦✦

1. यौतुकनर्तनम्
2. वरानुदानम् यौतुकनर्तनम्

 ISSN : 0975-1769

शान्तिशिक्षा : शिक्षायां नवीनोपागमः

"Peace is possible for life at all stages and it is up to man to choose his destiny or to suffer from the horrors of war. Today mankind is at the cross-road where he has to choose with courage, determination and imagination."

- Federico Mayor [1]

–सविता राय[2]

आधुनिकवैज्ञानिकयुगे मानवेन विकासः कृतः परञ्च विकासेन सह अनेका समस्या अपि प्रादूर्भूताः। तस्मात् कारणात् प्रेमसहयोगसत्यहिंसेत्यादीनां मानवीयमूल्यानां ह्रासः भवतिस्म भवति च। मानवीयसद्गुणा एव व्यक्तेः समाजस्य च शान्तेः आधारोऽस्ति। सद्गुणानां सञ्चाराय शान्तिशिक्षायाः अवधारणा स्वीकृता अस्ति। यूनेस्कोऽनुसारेण "Violence begins from the mind" अर्थात् हिंसा व्यक्तेः मस्तिष्कात् उत्पन्ना भवति। अनया दृष्ट्या शान्तिस्थापनायाः प्रारम्भोऽपि मस्तिष्कपरिवर्तनादेव कर्त्तव्यः। परञ्च यदि हिंसा मस्तिष्कात् उत्पन्ना भवति तर्हि एतस्याः कारणं किम्? वर्तमानभौतिकवादियुगे मानवः सुख-साधनेन युक्तजीवनं वाञ्छति। एतस्मात् कारणात् मानवस्य जीवनं प्रतिस्पर्धात्मकं भवति स्म्। परस्परसहयोगस्य विपरीतं व्यक्तेः दृष्टिकोणं आत्मकेन्द्रितं भवति। स्वावश्यकतापूर्तये मानवो अहिंसायाः मार्गं विहाय हिंसां प्रति अग्रसरं भवति। अद्यत्वे संपूर्णविश्वे वर्चस्ववृद्धेः कामना अन्यथा मूलभूतावश्यकतायाः पूर्तये आकांक्षा व्यक्तेः समाजे राष्ट्रे वा हिंसकदृष्टिकोणस्य विकासं करोति। शान्तिशिक्षामाध्यमेन सर्वेषां जनानां मस्तिष्के अहिंसायाः महत्वं संस्थाय समूहे, समाजे, राष्ट्रे, वैश्विकस्तरे च शान्तिस्थापयितुं कल्प्यते। शान्तिशिक्षया जनेषु प्रेमसहिष्णुतासहयोगसद्भावनादीनां गुणानां सञ्चारोऽपि भवति। अतः जनानां ह्रदयेषु एतेषां सर्वेषां गुणानां विकासं कृत्वा सम्पूर्णविश्वे युद्धस्य सम्भावनायाः समापनं कर्तुं शक्यते। वर्तमानाऽधुनिकयुगे शान्तिशिक्षायाः आवश्यकतां अधोवर्णित-चित्रमाध्यमेन प्रस्तूयते-

---

1. Director-General of UNESCO from 1987 to 1999
2. सहायकाचार्या, शिक्षाशास्त्रविभागः, श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, ई-मेल savita_6rai@yahoo.co.in

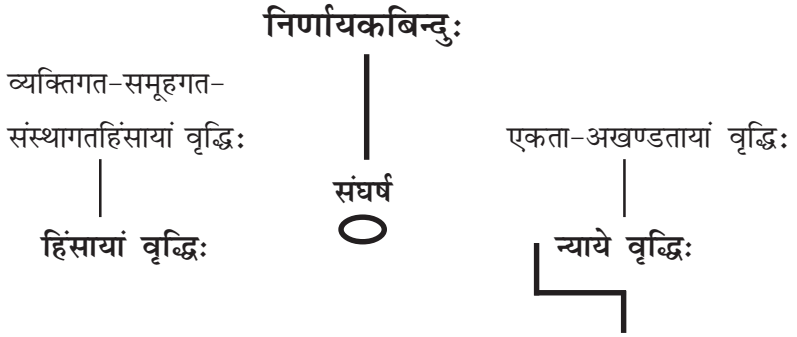

उपर्युक्तचित्रेण ज्ञायते यत् संघर्षस्य निवारणं यदि शान्तिपूर्वकं भवेत् तर्हि समाजे एकता-अखण्डतायां वृद्धिः भवति परञ्च यदि शक्तेः प्रदर्शनं भवति तर्हि व्यक्तिगत-समूहगत-संस्थागतहिंसायां वृद्धिः भवति।

शान्तिशिक्षायाः तात्पर्यम्-

सामान्यरूपेण शान्तिशिक्षायाः अवधारणा अतिप्राचीना अस्ति परञ्च शान्तिशिक्षायाः पाठ्यक्रमविषयरूपेण वा शिक्षण-प्रशिक्षणरूपेण सम्पूर्णविश्वे एकविंशतितमे ख्रिष्टाब्दे स्वीकृताऽस्ति। शान्तिशिक्षया जनेषु दुश्चिन्तायाः निवारणं कर्तुं शक्यते। अनेन मानवः स्वजीवनं शान्तिपूर्वकं यापयितुं समर्थो भवति। शान्तिशिक्षया मानवीयमूल्यानां महत्त्वं विज्ञाप्य जनान् एतेषां मानवीयमूल्यानां विषये चिन्तनाय प्रेरयितुं शक्यते। येन जनाः हिंसाघृणाभ्यां रहितो भवेयुः। शान्तिशिक्षायाः उद्देश्यं शान्तनिश्चलानुकूलवातावरणस्य निर्माणमेव अस्ति। यस्मिन् जनाः सद्भावपूर्वकं वसेयुः परस्परसहयोगाय तत्पराः च भवेयुः।

यूनिसेफ इति संस्थानुसारं-शांतिशिक्षया बालेषु युवजनेषु वयस्केषु च ज्ञान-कौशल-दृष्टि- मूल्यानि च वर्धन्ते, तेन तेषु व्यवहारपरिवर्तनस्य प्रक्रिया प्रारभ्यते, येन विवादेभ्यः हिंसेभ्यः स्वात्मानं दूरीं कर्तुं, संघर्षानां शांतिपूर्णरीत्या समाधानं कर्तुं, राष्ट्रियान्ताराष्ट्रियस्तरेषु परस्परं विभिन्नेषु वर्गेषु शान्त्यै अनुकूलवातावरणस्य निर्माणे च समर्थयन्ति।[1]

---

1. "The process of promoting the knowledge, skills, attitudes and values needed to bring about behaviour changes that will enable children, youth and adults to prevent conflict and violence, both overt and structural; to resolve conflict peacefully; and to create the conditions conducive to peace, whether at an intrapersonal, interpersonal, intergroup, national or international level" -Unicef

अलबर्टआइन्सटाइनमहोदयानुसारेण- ''शान्तिः सैन्यबलेन स्थापयितुं न शक्यते। शान्तिस्तु पारस्परिकसहयोगेन स्थापयितुं शक्यते।''[1] सः इदमपि कथयति यत्- शान्त्याः तात्पर्यं केवलं युद्धाभावमेव नास्ति अपितु सत्तारूपेण विधिन्यायोऽपि भवेत्।

यूनेस्कोऽनुसारेण 'शान्त्याधारितशिक्षायाः उद्देश्यं जनेषु हिंसाप्रयोगस्य इच्छायाः समाप्तिः अस्ति।' शान्तिशिक्षायाः मूलाधारं मानवीयमूल्यानि एव सन्ति। यदि जनानां हृदयेषु मानवीयमूल्यानां स्थापना भविष्यति तर्हि अस्माकं समाजस्य सर्वेषां समस्यानां समाधानं भवितुं शक्यते। सामान्यरूपेण वयं कथयितुं समर्थाः स्मः यत् शान्तिशिक्षा मूल्यसंवर्धनाय, पारस्परिकसहयोगेन ज्ञानार्जनाय कौशलविकासाय चास्ति।

भारतीयपरिदृश्यम्-

प्राचीनभारतीयपरिदृश्यम्- भारतीयसंस्कृतिः विश्वसंस्कृतिषु प्राचीनतमा स्वीक्रियते। भारतीयसंस्कृतिः जनेषु अहिंसा-प्रेम-सद्भाव-सहयोगादिमूल्यानां समावेशं करोति। भारतीयसंस्कृत्याः मूलतत्त्वं शान्तिशिक्षायाः आधारभूततत्त्वमऽस्ति। शान्तिशिक्षा आधुनिकवैज्ञानिकयुगस्य उद्भवोऽपि अस्ति परञ्च अस्याः बीजं तु भारतीयसंस्कृतेः वैदिककालादेव विद्यमानमस्ति। भारतीयसंस्कृतौ आत्मशान्तिमेव महत्वपूर्णं मन्यते। यतोहि यः आत्मशान्त्यैः प्रयत्नं करोति सः समाजे, राष्ट्रे, विश्वे च शान्तिस्थापनाय प्रयासं करोति, अन्यान् शान्त्यैः प्रयत्नं कर्तुं प्रेरयति। भगवद्गीतायां कथ्यते यत् यः निष्कामभावेन कर्मं करोति सः एव शान्तिं प्राप्तुं समर्थो भवति-

''विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः सः शान्तिमधिगच्छति॥''[2]

शान्तिशिक्षा जनेषु सहयोगसद्भावप्रेमादिगुणानां विकासं करोति। येन जनाः मैत्रीपूर्वकं व्यवहरेयुः। अहिंसापथमवलम्ब्य स्वस्य परस्य च हिताय संलग्नाः भवेयुः। इयमेव शिक्षा वेदेष्वपि अस्ति। यजुर्वेदस्य मन्त्रे भगवतः प्रार्थनायां कामना इयं अस्ति यत् सर्वे: जनाः पारस्परिकसहयोगेन मित्रतया च व्यवहरेयुः-

मित्रस्याहं चक्षुषां सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥[3]

---

1. Peace can not be kept by force. It can only be achieved by understanding."

   - Education for world peace, page-55

2. भगवद्गीता-7/17
3. यजुर्वेद- 36/18

अस्माकं धर्मशास्त्रेषु सर्वत्र एतादृशेभ्यः कार्येभ्यः एवं प्रेरणा उपलभ्यते यया प्रेरणया शान्ति-सुव्यवस्था-स्नेह-सद्भावनेत्यादिनां स्थापना भवेत्, जनानां एतादृशानां मूल्यानां प्रतिञ्च आस्था भवेत्। कथ्यते यत् -

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्।[1]

भारतीयसंस्कृतिः विश्वबन्धुत्वस्य संदेशदात्री। इयं संस्कृतिः व्यक्तेः एतादृशस्य दृष्टिकोणस्य विकासं करोति येन 'वसुधैव कुटुम्बकम्'[2] इत्येतादृशी भावना प्रकटिता भवति। भारतीयसंस्कृतिः प्राचीनकालादेव 'यत्र विश्वं भवेत्येकनीडम्' इत्यस्य शिक्षां प्रदाय मानवस्य दृष्टिकोणं व्यापकं करोति। व्यक्तेः यदा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' भावनायाः विकासं भविष्यति तदैव जनानां हृदयेषु ईष्याद्वेषादयः समाप्ताः भविष्यन्ति। भारतीयसंस्कृत्याः संवाहकाः धर्मग्रन्थाः एतादृशैः उद्धरणैः समृद्धाः सन्ति, ये मानवान् सन्मार्गं प्रति प्रेरयन्ति अथ च 'अयं निजः परोवति' इति भावनां दूरीं करोति। भारतीयपरम्परायां प्राचीनकालादद्यावधिपर्यन्तं गुरुः शिष्यान् समाजस्य कल्याणाय प्रेरयन्ति-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभागभवेत्॥

मनुस्मृत्यां धर्मस्य दशलक्षणानि वर्तन्ते, तेऽपि मानवान् सन्मार्गाय प्रेरयन्ति-

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीरविद्यासत्यक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥[3]

प्राचीनकालादद्यावधिपर्यन्तं मूल्यशिक्षया समाजे शान्तिस्थापनाय प्रयत्नम अनवरतरूपेण भवन्ति। भारतीयानाञ्च मनसि मूल्यानां स्थापनायाः कार्यञ्च कुर्वन्ति।

वर्तमानभारतीयपरिदृश्यम्-वर्तमानकाले भारतवर्षे 'राष्ट्रीयशैक्षिकानुसन्धान-प्रशिक्षणपरिषद्' इति नाम्नः संघटनमपि शान्तिशिक्षायैः प्रयासरतं वर्तते। इत्यनेन संघटनेन विद्यालयेषु शिक्षकाणां कृते शान्तिशिक्षायाः उन्मुखीकरणकार्यक्रमस्य व्यवस्थाऽपि क्रियते। विवादानां समाधानाय शान्तिशिक्षायाः प्रशिक्षणस्य व्यवस्थाऽपि क्रियते। प्रशिक्षितशिक्षकेभ्यः अपेक्षा भवति यत् विद्यालयीयस्तरे समुदायस्तरे च अस्मिन् विषये ते प्रशिक्षणं कुर्युः। इत्यनेन संघटनेन शान्तिशिक्षायाः शिक्षकप्रशिक्षण-कार्यक्रमाणामङ्गतया शान्तिशिक्षा स्वीकृताऽस्ति।

---

1. मनुस्मृति-2/221
2. हितोपदेश, मित्रलाभ, 70
3. मनुस्मृति-6/92

वैश्विकपरिदृश्यम्

राष्ट्रियान्ताराष्ट्रियसंघटनानां माध्यमेन शान्तिशिक्षामुन्नेतुं विभिन्ननाम्ना माध्यमेन उच्चस्तरीयाः प्रयासाः क्रियमाणाः सन्ति। यथा- शान्तिशिक्षा, मानवाधिकारशिक्षा, पर्यावरणशिक्षा, सामाजिकन्यायशिक्षा इत्यादयः। एतैः विभिन्ननाम्ना प्रचलिता शिक्षा एकमेव उद्देश्यं स्वीकृत्य मूलनिमित्ताय कार्यं क्रियमाणमस्ति।

यूनिसेफ यूनेस्को च शान्तिशिक्षायाः कृतेः विशेषः प्रयासः क्रियमाणे स्तः। यूनीसेफ इति संघटनं शान्तिशिक्षां विद्यालयीयशिक्षा अन्येषाञ्च शैक्षिकप्रयासानां रूपे वर्णितं क्रियमाणमस्ति-

1. यत् शान्तिमण्डलरूपे (Zone of peace) कार्यं करोति, यत्र बालकाः हिंसकसंघर्षात् दूरं भवेत्।
2. एतादृशवातावरणस्य निर्माणं करोति येन अधिगमसमुदायस्य सर्वेषु जनेषु शान्तिपूर्ण सम्मानजनकञ्च व्यवहारस्य सृजनं भवेत्।
3. प्रशासनिकनीतिषु अभ्यासे च समानतायाः सिद्धान्तानां अहिंसायाश्च प्रदर्शनं करोति।
4. विवादानां समाधानं शान्तिपूर्वकं भवति, येन सम्मिलितजनानां प्रतिष्ठाऽधिकारयोः सम्मानं भवेत्।
5. एतादृशः क्षेत्रः प्रदानं करोति यत्र शान्तिपरकमूल्येषु सामाजिकन्याये च स्पष्टरूपेण विवेचनं भवेत्।
6. सम्पूर्णपाठ्यचर्यायां शान्तिं प्रति अवबोधं मानवाधिकाराणां सामाजिकन्यायस्य वैश्विकतथ्यानाञ्च एकीकरणं करोति।
7. अधिगमविधिषु प्रतिभागितायां समस्यासमाधाने च भेदान् प्रति सम्मानोपरि बलमस्ति।

यूनिसेफ 1990 तमे वर्षे ''सर्वेभ्यः शिक्षा'' इत्यस्य घोषणापत्रे स्पष्टरूपेण कथ्यते यत् अधिगमस्य मूलावश्यकता केवलं पठनपाठनगणनामात्रञ्च योग्यता नास्ति अपितु विकासे सहभागिता, प्रतिष्ठापूर्वककार्यकरणाय ज्ञानकौशलाभिवृत्तिमूल्यानां प्राप्तिः अस्ति। अग्रे लिखितमस्ति यत् व्यक्तेः आवश्यकतानां सन्तुष्टेः सामाजिक-न्यायानां, मतभेदानां स्वीकृतिं शान्त्याः विकासस्य उत्तरदायित्वमपि निहितमस्ति।

2000 तमे वर्षं शान्तिसंवर्धनवर्षस्य रूपे 2001-2010 इति च दशकं शान्तिसंवर्धनस्य अन्तरराष्ट्रियदशकरूपे आयोजितं कृतो वर्तते। शान्तिशिक्षायाः उन्नत्यैः यूनेस्को इत्यनेन संघटनेन शान्तिशिक्षापुरस्कारमपि प्रदानं क्रियते। यत्

शान्तिशिक्षायाः क्षेत्रे सर्वश्रेष्ठकार्यकरणाय प्रदानं क्रियते।

विषयवस्तुः-

शान्तिशिक्षया पाठ्यवस्तुनः स्वरूपं किं भविष्यति, अस्मिन् संदर्भे शिक्षासंस्थासु शिक्षाशास्त्रिषु च मतैक्यं नास्ति। शान्तिशिक्षाकार्यक्रमस्य विकासस्य प्रारम्भिकचरणेषु यूनेस्को(1974) इत्यनेन संघटनेन मानवजीवनस्य अत्यन्तमहत्त्वपूर्णसमस्यानां चयनं कृत्वा शान्तिशिक्षायाः विषयवस्तुरूपेण प्रस्तुतम्। इत्यस्य प्रमुखाः तथ्याः सन्ति- जनसामान्यस्य समानतायाः अधिकारम्, शान्तिस्थापनाय प्रयत्नम्, युद्धानां कारणानि प्रभावाश्च, निःशस्त्रीकरणं, विभिन्नराष्ट्रानां मध्ये आर्थिकसांस्कृतिकराजनीतिकसम्बन्धानां प्रकृतिः प्रभावश्च। एतेषां सम्बन्धानां कृते अन्तरराष्ट्रियनियमानां महत्वं विशेषरूपेण शान्तिस्थापनाय, प्राकृतिकसंसाधनानां प्रयोगसंरक्षणञ्च, विकासशीलराष्ट्रानां सहयोगाय साधनानि मार्गादि च, आर्थिकवृद्धिः सामाजिकविकासश्च अथ च सामाजिकन्याये द्वयोः भूमिका, जनसंख्यावृद्धिः सम्बन्धितप्रश्नाश्च। एतेषां सर्वेषां तथ्यानां प्रभावदुष्प्रभावस्य अध्ययनेन विश्लेषणेन च समाजे राष्ट्रे विश्वे च शान्तिस्थापनायाः प्रयासं कर्तुं शक्यते।

''यूनेस्को'' नाम्नाः संघटनेन प्रस्तुतं अस्यां योजनायां अनेकाः तथ्याः वैश्विकस्तरे मानवजीवनस्य समस्यायैः सम्बन्धितं वर्तते। जनेषु शान्तिं प्रति जागरूकता, जीवनशैल्यां उन्नयनं, स्ववातावरणं प्रति जागरूकता, युद्धानां दुष्परिणामान् प्रति सचेतता, शास्त्राणामानावश्यकं प्रयोगस्य विध्वंसान् प्रति जागरूकता च शान्तिशिक्षायाः उद्देश्यानि सन्ति। येन वैश्विकस्तरे शान्तिः स्थापना भवेत्। शान्तिशिक्षायाः मुख्यमुद्देश्यमस्ति जनानां ज्ञाने, कौशले, दृष्टिकोणे च परिवर्तनं कृत्वा शान्त्याः संस्कृतेः स्थापना तस्य सुस्थिरिकरणञ्च। अधोवर्णितचित्रं हिंसायाः शान्त्याश्च मूलसम्बन्धानां च तेषां भाविप्रभावानाम् अध्ययनेन सहायकमस्ति।

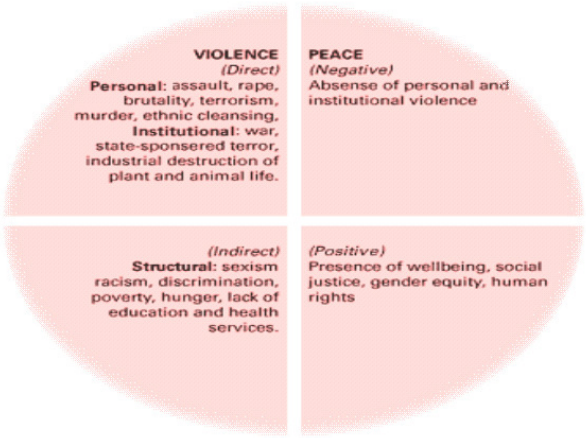

भारतवर्षे 'राष्ट्रीयशैक्षिकानुसन्धानप्रशिक्षणपरिषद्' इत्यनेन संघटनेन शान्तिशिक्षां विद्यालयीयपाठ्यक्रमस्य आवश्यकांङ्गरूपेण स्वीकृत्य पाठ्यक्रमे समानता-सामाजिकन्याय-मानवाधिकार-सहिष्णुता-सांस्कृतिकविविधतेत्यादिविषयानां समावेशस्य अनुशंसाऽपि कृता।

शान्तिशिक्षायाः महत्त्वम्

वर्तमानकाले शान्तिशिक्षा कस्यापि समाजस्य राष्ट्रस्य महत्त्वपूर्णावश्यकता विद्यते। शान्तिं प्रति सर्वेषां जनानां सन्नद्धता सिद्ध्यर्थं शिक्षा आधारभूता विद्यते। यदि समाजे शिक्षायाः वा ज्ञानस्य प्रसारं भविष्यति तर्हि तत्र शान्तिरपि भविष्यति। महात्मागाँधीमहोदयः इदम् मन्यते यत् विश्वे शान्तिस्थापनाय बाला एव सर्वश्रेष्ठमाध्यममस्ति। सः इदमपि उक्तवान् यत् '' यदि वयं इदं विश्वं वास्तविकशान्तेः शिक्षा ददातुं इच्छामः, युद्धस्य विरुद्धे वास्तविकयुद्धं कर्तुं इच्छामः तर्हि एतत् प्रारंभं बालकात् एव करणीयम्।'' अतः विश्वबन्धुत्वस्य भावनां वर्धित्वा सम्पूर्णविश्वे शान्तिस्थापनाय विद्यालयानां पाठ्यक्रमेषु सार्वभौमिकजीवनमूल्येषु आधारितानां विषयानां समावेशमावश्यकम्। येन विद्यालयस्य विद्यार्थिनां विकासं न केवलं स्वदेशस्य नागरिकरूपेण अपितु विश्व-नागरिकरूपेण भवितुं शक्यते। शान्तिस्थापनार्थं यस्यावदानस्यावश्यकता भवति तस्य प्राथमिकशिक्षास्तरे समायोजनमपि आवश्यकमस्ति।

यदा मानवानां हृदयेषु अहिंसा, सद्भावः, सहिष्णुता इत्यादिगुणानां प्रति विश्वासं भविष्यति तदा एव समाजे शान्तिस्थापना भविष्यति। एतत्प्रयासेन मानवानां हृदयेषु एतादृशानां मूल्यानां स्थापनाः भविष्यति येन न केवलं वर्तमानमपितु भाविकालमपि सुरक्षितं स्थास्यति।

निष्कर्षरूपेण वक्तुं शक्यते यत् शान्तिशिक्षायाः मुख्यमुद्देश्यं मानवस्य युद्धस्य भयावहप्रभावात् रक्षणमेव। प्रयासोऽयं पूर्वमेव जातः, द्वयोः विश्वयुद्धयोः परिणाममस्ति याभ्यां मानवजीवनं (विशेषरूपेण यूरोपीयदेशेषु) अतिक्रान्तत्रासदीं सोढुं बाधितं आसीत्। अस्य मूलोद्देश्यमिदमेवास्ति यत् भाविसन्ततीं एतादृशी त्रासदीतः रक्षायाः प्रयासः करणीयः। सहिष्णुता-अन्येषां विचाराणां सम्मानप्रदानम्, स्वस्य आवेगान् नियन्त्रिकरणस्य योग्यता, पारस्परिकसौहार्दभावेन कार्यकरणस्य प्रवृतिः जनानामन्तस्थे विकासः विधेयः। अनेन जनान् हिंसायाः दुष्परिणामेभ्यः परिचयं कारयित्वा स्वस्य संघर्षान् विवादान् च अहिंसात्मकशैल्या निवारणस्य योग्यतायाः विकासः क्रियमाणमस्ति येन ते हिंसातः पृथगेव भवेत्।

सन्दर्भग्रन्थसूचीः

1. शुक्ला, मीना : (2000), स्मृति ग्रन्थों में वर्णित समाज, इस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली-110007
2. टण्डन, किरण : (2006), भारतीय संस्कृति, इस्टर्न बुक लिंकर्स , दिल्ली-110007
3. झा, गंगानाथ (संपादक) : (1999), मनुस्मृति, परिमल पब्लिकेशन्स
4. त्रिपाठी, तीर्थराजशास्त्री : (1999), वैदिक प्रवचन मञ्जरी, प्रदीप प्रकाशन, नयी दिल्ली।
5. शर्मा, विश्वनाथ : (1961), हितोपदेश, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-110007
6. मिश्र, भास्कर : (1995), शिक्षा एवं संस्कृति, भावना प्रकाशन, दिल्ली।
7. Singh, Suresh Pal : (2011), Education for World Peace, Discovery Publishing House.
8. Finley Laura : (2011), Building a Peaceful Society, Barery University.

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

संस्कृत वाङ्मये आधुनिकमहाकाव्ये डॉ० निरञ्जन मिश्र विरचितं "गङ्गापुत्रवदानम्" इति महाकाव्यस्य महत्वम्

-**जगदीशचन्द्रकाला**, शोधच्छात्रः
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्,
जनकपुरी, नवदेहली

संस्कृतसाहितये काव्यनिर्माणस्य धारा चिरकालादद्यावधिपर्यन्तमपि अबाधरूपेण प्रवाहिता, प्रचलिता च वर्तते। पर च यथा कालप्रभावात् वेगस्वरूपाः नद्याः स्वधारां यथास्थानात् परिवर्तयति तद्वदेव परिवर्तनशीला भवति काव्यधारा, या स्वसामाजिक-परिवर्तनात् स्वयमपि परिवर्तिता जाता। काव्यनिर्माणक्षेत्रे सीमिताः सन्ति अवसराः। यथा लक्ष्यग्रन्थानामवलोकनेन लक्षणग्रन्थस्य निर्माणप्रक्रिया समारब्धा भवत् तद्वदेव परिवर्ततमाने परिप्रेक्ष्ये काव्यस्य परिवर्तिधारां दृट्वा नवीनलक्षणग्रन्थानां निर्माणमपि साहित्यधारायामस्यां समारब्धम्। सम्प्रति इयमेव 'संस्कतसाहित्य-स्याधुनिकविचारधारा' इति नाम्ना ज्ञायते। प्राचीनकाव्यपरम्परायां कवय उपजीव्यग्रन्थेषु चरित्रमाधृत्य स्वकाव्यरचनानां निर्माणं कुर्वन्ति स्म। यत्र कविनां प्रतिभा वर्ण्यवैशिष्ट्योपरि आधारिता वर्तते स्म। पर च कालक्रमेण परिवर्तनमभवत् स दयेषु कविषु चापि। समाजाय समुचितकार्याणां सम्पादनाय समर्थजनेषु नायकोचित-गुणान् प्रपश्य कविभिः तेषां चरित्रं समादाय स्वकाव्यरचना समारब्धा। अस्यैव आधुनिक-संस्कृतकाव्यविचार-धारायाः प्रतिनिधिरूपेण डा० निरञ्जन मिश्रेभ्यः विरचितं त्रयोविंशतिसर्गेषु विभक्तं "गङ्गापुत्रवदानम्" इति महाकाव्यम्।

वस्तुतः कविता भवति कवेर्मानसिकवेदनायाः मूर्तरूपम्। यस्योपस्थितिः शब्दरूपमाध्यमेन स दयानां पुरतः समुपस्थितः भवति। यतो हि तत्भावात्मसात्करणाय स एव शब्दविशेषः कारणं भवति, यस्योपस्थापनं कवेरिष्टं भवति। अत्र काव्यनिर्माणे कवेर्साफल्ययोः परिचायकः स दयमेव भवति। तदुल्लिखितं यथा महाकाव्यस्यास्य सम्पादकीय पृष्ठे-

काव्यं कवेर्भवति मानसिकवेदनाया
मूर्तस्वरूपमिव सज्जनलोचनाग्रे।

तस्य स्वरूपमपहाय सदैव मृग्यं
लावण्यमेव सरसामृतलुब्धचित्तै॥

महाकाव्यस्यास्य सुललिताः सरसाः काव्यपंक्तयः सामान्य-सहृदयानां दये काव्यरसास्वादनोत्पादाय सक्षमाः सन्ति। ग्रन्थस्यास्य प्रवाहात्मकता, प्राञ्जलता, अर्थस्फुटता, भावावबोधनक्षमता इत्यादि विशेषणानि काव्यश्रेण्यामुपयुक्तं स्थानं प्रददाति। अत्रास्यनायकः गुरूचरणोपासकः स्वामी श्रीनिगमानन्दसरस्वती एतादृशः युवा सन्तः वर्तते येन कालमस्तकोपरि स्वचरणचिह्नानि समांकितानि। यस्य कल्पनामात्रेणापि विभेति तथाकथित महापुरूषाः, तस्य निर्वहनमनेन वीरनायकेन सहजसामान्यजीवनचर्यामाध्यमेन सम्पूरितम्। तथा लोकममुं परित्यज्य विपुलायास्य लोकाय अद्भुतमेकं सन्देशं विकीरितम्। नायकोऽयं भ्रष्टाचारस्य प्रबलः शत्रुः वर्तते। परिचयोऽस्य कविभिः समर्पणश्लोकेऽनेन प्रकारेण प्रदत्तः-

भ्रष्टाचारविलासिनं स्वपितरं मत्वा गृहं त्यक्तवान्
भ्रष्टाचारनिरोधनाय सकलं योऽयापयद् जीवनम्
भ्रष्टाचारनिमूढमतिभिर्यो घातितश्छद्मना
तस्मै जह्नुसुतासुताय कविना काव्या जलिर्दीयते॥

काव्यस्यास्य वैशिष्ट्यमिदं वर्तते यदत्रवर्णिताः सर्वाघटनाः सर्वथा सत्याधारिता एव वर्तते। वर्णनवैशिष्टये कवित्वं वर्तते पर च घटनोपस्थापनक्रमे कुत्रचित् कल्पना वसरोऽपि नैव वर्तते। अत एव नवीनविचारधारोपरि आधारितं महाकाव्यमिदं वर्तते।

कस्यापि महाकाव्यस्य इतिवृत्त इतिहासप्रसिद्धा कथा भवति उक्त्वा कस्यापि मान्यसज्जनाश्रिता भवति-

इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्। सा.द.-6/317

प्रस्तुत महाकाव्यस्य गङ्गापुत्रवदानस्य कथा मान्यसज्जनाश्रितैव वर्तते। येषां जीवनचरितं दृष्ट्वा समग्रसाधुवृन्देभ्यः मुक्तकण्ठेनानेन 'गङ्गापुत्रम्' इत्युपाधिः प्रदत्ताः। अनेनास्य साधुवर्यस्य लोकमान्यतायाः प्रमाणं स्वयमेव प्राप्यते। नायकेऽस्मिन् पितामहः भीष्मः, मुनिवर-परशुरामः, राजर्षिः भगीरथाना च गुणसमुच्चयं समुपलभ्यते-

गङ्गायास्तनयः कथं कलियुगे कीर्तिं गतो द्वापरे
पूर्वेशामृणमुक्तये ह्यविचलः सत्येन कीर्तिं गतः।
मातुर्दीनदशां विलाक्य परशोर्धाराभिरामः श्रुतः
किं तेषां समुदाय एव निगमानन्दो भवद् भूतले॥

(गङ्गापुत्रावदानम्-1/2)

इतिहासप्रसिद्धः वर्तते महाकाव्यस्यास्य कथावस्तुः। अतो हि नायकोऽय-माधुनिककालिको एवासीत्। यस्य दर्शनं तस्याद्भूतानि कार्याणि च कविना स्वयमेव दृष्टम्। गुणवान् वर्तते नायकोऽयम्। नायकस्य गुणानां वर्णनप्रसङ्गे आचार्य विश्वनाथेनोल्लिखितं यत्-

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता॥ (सा.द.-3/30)

महाकाव्यस्यास्य नायके इमे सर्वे गुणाः समुपलब्धाः सन्ति। तद्यथा केचन् गुणाः-

त्यागी- नायकस्यास्य चरित्रं त्यागस्य मूर्तरूपं वर्तते। अस्य त्यागस्य प्रमाणविषये कविभि उल्लिाखितं श्लोकं यथा वर्तते-

भ्रष्टाचारनिरोधनाय सततं येषां श्रमो भारते
गङ्गातुङ्गतरङ्गरक्षणपरा ये वा भवन्भारते।
विद्यासागरमुत्तरीतुमथवा ये जीविता भारते
तेषां पादरजः पवित्रधरणीं वन्दामहे सादरम्॥

(गङ्गापुत्रावदानम्-1/5)

कृती- विश्वे स्वकर्मणा नतूनमार्गदर्शनाय संकल्पविशेषं समादायान्ते च मृत्युं प्राप्यापि स्वलक्ष्यप्राप्तौ सफलोऽभवत्। गंगा संरक्षणाय यत् संकल्पमनेन गृहीतं तस्य पूर्तिकार्यं सामाजिकेभ्यः स्वस्कन्धेषु नीतम्, तदस्य नायकस्य सफलता एव वर्तते। अनेनैवास्य जीवनं 'कृती' वर्तते-

स्वर्गस्थितेन यदकार्यपगासुतेन
केनाप्यकारि न हि तद् भुवि संस्थितेन।
आसीत् स्वयं स धरणौ प्रकृतेर्हिताय
सर्वेऽधुना प्रकृतिरक्षणमर्थयन्ते॥ (गङ्गापुत्रावदानम्-23/43)

अनेन एव प्रकारेण आचार्य विश्वनाथस्य लक्षणमते नायकस्य सर्वे गुणाः सन्ति सज्जनेऽस्मिन्।

रसः- महाकाव्यमिदं 'वीररस' युक्तं वर्तते। यतोहि सर्वदा भ्रष्टाचारिभिः संघर्षाय तत्पराः सन्ति महाकाव्यस्यनायकोऽयम्-

सन्मार्गरोधनपटोर्बलखण्डनाय
दिव्यात्मभावकमलाननबोधनाय।
राऽयन्धकारकरिकुम्भविभेदनाय
दिव्यार्कचक्रमिव खे 'निगमो' रराज॥ (गङ्गापुत्रावदानम्-13/28)

महाकाव्यस्य चरित्रनायकोऽयं स्वधर्मानुपालनाय सदा तत्परो वर्तते। स्वधर्मस्य परित्यागोऽयं कदापि नैव स्वीकार्यो वर्तते। नायकस्वजीवनलक्ष्यं स्वीकर्तुं कथयति-

संन्यास एव शरणं मम दृश्यतेऽत्र
लोकोपकारनिरतः प्रभवामि येन।
स्वार्थे न तद्भवितुमर्हति यत्परार्थे
पश्यामि जीवनमिदं हि समर्प्य लोके॥ (गङ्गापुत्रावदानम्-10/20)

अनेन दृश्यतेऽत्र नायको यं धर्मवीरः वर्तते, यः स्वमार्गे सदा तत्परो वर्तते। अन्यरसोऽपि अत्रवलोकनीयः वर्तते।

प्रकृति वर्णनं- प्रस्तुतमहाकाव्ये प्रकृतेः रमणीयवर्णनं स्थाने-स्थाने दर्शनीयं वर्तते-

कानने तुङ्गवृक्षाणां लतानां दिव्यजीवनम्।
यानाश्रित्य हि जीवन्ति कीटा भृङ्गा मृगा खगाः॥

नवपत्राधरा वल्ली फुल्लपुष्पानना शुभा।
भाटिकायां विभातीव काचिन्नवलयौवना॥

भृङ्गाणां गुञ्जनं दिव्यं पिकानां चात्र कूजनम्।
लतानां मधुरं नृत्यं स्वागतं विपिनश्रियः॥

(गङ्गापुत्रावदानम्-7/33-35)

अत एव प्रस्तुत महाकाव्यस्य महाकाव्यत्वमत्र सुस्पष्टमेव वर्तते।

The Spirituality of the Vedic Sacrifice

Hriday R. Sharma
Prof. and Ex. Head,
Dept. of Veda, SVDV, B.H.U., Varanasi

The Spritual Import of *yajña* has been explained at a great length in the Vedas. According to it, the whole process of creation comprises just two basic elements: one dry and the other moist. The dry element relates to fire and the moist to *soma* (a juice of the *soma* plant) (ŚB 1.6.3.23). They respectively are the eater and the edible and in the body as the element of *prāṇa* or vital energy and food (ŚB 10.6.2.1; 4). The theory of the cosmos as made of and permeated by fire and *soma* is consolidated by these ideas. In the context of the spiritual significance of *yajña*, the sacrificial fire which consumes the oblation and thereby gains in strength to rise skyward is symbolic of the fire of *prāṇa*, which is stimulated by all that it accepts as food to rise upward toward immortality. This cooperative junction of upliftment in the body carried out by *prāṇa*, "vital breath", and *anno*,"food", together is tremed *uktha* (TB 2.8.8.1; ŚB 10.6.2.10). These profoundly meaningful aspects of the ritualistic process of *yajña* are brought to light in the following way.

The Vedic sages in the course of their meditation experienced an invisible primal force inherent in all of nature, both animae and inanimate (ŚB 10.3.5.1), which they strove constantly to comprehend. Their spiritual efforts led them ultimately to envisage the reality of One Supreme Being at the root of all phenomena, which, in its diverse forms, manifests Itself in the universe it animates. They realized also that man[1] becomes enlightened to the degree in which he is absorbed in this Power, which permates creation as its ultimate support (RV 1.164.46; 39). Through the sacrificial rite, man plays out his active and conscious participation in this gradual process of purification and upgrading, thus contributing toward it. The mystic fire on the sacrificial altar is a liberating force (ŚB 7.1.2.21); through its agency man is freed from the impurities accumulated in the pursuit of solely selfish interests

and is made capable of feeling the pulsation of the infinite in himself (ŚB 7.1.2.23). Once man realizes his place in the scheme of existence he is obliged to sacrifice in thankful recognition of all that life has offered him. By pouring oblations into the fire, the sacrificer gains access to the world of Light, and having thus emptied himself of impurities, is refilled with the nectar of life which pours down from heaven and so enjoys good health and, with all his faculties fortified, a full span of of life. At the deeper spiritual level a long life symbolizes man's identification with the Supreme Self, the undecaying Absolute, attained by renouncing this moral identity through the symbolic act of sacrifice. The sages attained the higher world through performance of *yajña*, so the sacrificer seeks to develop within himself the power to rise from his earthly abode to the powerful higher world (AV 18.1.61, *YājSam* 8.12).

Although many things are offered in the sacrifice, the principal offering is that of *soma*, which is an inebriating drink produced from a creeper. The preparation and offering of this drink are an important Vedic ritual. Indeed, traditional etymology derives the word for "sacrifice", *yajña*, from *yañja*, which is the activated sacrificial *Soma* (ŚB 3.9.4.23).

When the *soma* is poured onto the sacrificial fire in the daily morning rite, it (the fire) becomes symbolically infused with imortality. The fire, thus transformed, is considered to be the soul of all the gods. The sacrificer, by partaking of the remanants of the *soma* left in its container, similarly absorbs into his own body the same element of immortality and thus is said to be granted a full span of life in the sense that he attains to the state of immortality (ŚB 9.5.1.7; 10; 11).

The vital fire deep in the soul, stimulated by the sanctified oblation, blazes upwards (ŚB 10.6.4.10). Through the performance of sacrifice, the sacrificer is ultimately transformed into the Immortal Man, the Divine Lunar Being in whom all the sixteen lunar digits are fully formed, each digit being a measure of the development of consciousness. Thus, the entire creation comes under three heads: the unconscious, the internally conscious, and the conscious. In the first category are stones and metals; the second category includes plants and trees; and the third is the world of animals including worms and insects at one end of the scale and man at the other. Unconscious objects

possess six parts out of the sixteen, those internally conscious possess seven, and man is endowed with eight. The perfect being is he in whom all the sixteen parts of consciousness have fully unfolded-he is called the "one who is of sixteen parts" (*sodaśi*)-the Immortal Man (*VājSam 32.5*).

The sages felt that *yajña* was a perpetual process simultaneous operating in the human body as well as the universe, through the interaction of two polarized sources of vitality, namely, the sacrificial fire (*agni*) and the *soma* (RV 9.20.6; 9.36.6). The fire symbolizes the principle of energy and *soma* that of water. Fire, this cosmic energy, assumes the nature of the Eater; and *soma*, the water, that of food (RV 1.59.2; TB 2.8; 8.1). Fire and *soma*, thus complementing each other, constitute the universe composed of fire and *soma*. Thus the cosmic *yajña* is continuously and spontaneously performed throughout the universe. The ancient sages sought to channelize the perpetual flow of this cosmic *yajña* through the activity of the vital breath (*prāṇa*) in the embodied soul, by symbolically associating it with the components of the ritual, that is, the sacrificial altar, the sacrificial fire and the *soma*.

The sacrifice has thus three aspects-cosmic, vital and mundane and so is conceived to take place at three levels each of which is a triad consisting of a deity, form of Speech and abode. Speech (*Vāk*)-in the form of the *Ṛg Veda*, the earth and the Fire-god (Agni) form the triad of the first order. Speech as the *Yajurveda*, the middle region (*Antariksa*) with Indra or Vāyu as the deity constitute the next set of three, while the third set consists of the *Sāmaveda*, Heavenly Region (*Dyu*) and the sun (*Āditya*) (*Nirukta* 7.2; AB 5.32). In this way, the three Speeches, *Ṛk, Yajus,* and *Sāma*, the three abodes, namely, the earth, middle region, and heaven alongwith the three deities, Agni, Indra or Vāyu, and Āditya, act as the media for the ciculation of the *yajña* of nature. The earth (*Pṛthvi*) in the first category, represents all the gross elements in the universe; they are expressed through the Speech of the *Ṛg Veda* and have Fire as their divine essence. The middle Region (*Antariksa*) of the second category is represented by the orientation and extension in space of every object in the universe from its center to the outer periphery expressed as the Speech of the *Yajurveda* with Vāyu as presiding deity. The outer surrounding periphery is represented by the *Dyurloka* the heavenly region in the third category, in conjunction with the *Sāmveda*

as Speech and the Sun (Āditya) as the deity. These three are related to one another as are the parts of the light of a lamp: the flame which is visible and gross is of the first order, the extent of its light belongs to the second order, while the region beyond its field of illunination is the third order. In the solar sphere, demarcated by these tripartite categories, the principle symbolized by the *Yajurveda* as Speech in the form of the god of the Wind (Vāyu) situated in the Middle Region is being offered as an oblation into the principle of Speech as the *Ṛg Veda* in the Fire (*Agni*) inherent in the Earth region (*Pṛthvi*) and is thus constantly losing itself in the Speech of the *Sāmveda* in the Sun of the Heavenly Region (*Dyu*). These three worlds-Earth (*Pṛthvi*), Middle Region (*Antarikṣa*) and Heaven (*Dyu*) figure as symbols in the mundane sacrifice in the same order as they do in the cosmic *yajña*. The earth of the *gārhapatya* fire, placed to the west of the sacrificial altar, symbolizes the Earth; the one to the east of the *gārhapatya* fire, which is located in the middle of the altar, represents the Middle Region; while the sacrificial pit of the *āhvanīya* fire, to the east of the altar, symbolizes the Heavenly region (ŚB) 7.1.2.12. The *soma* and oblations are taken from the central altar, then ritually sanctified on the *gārhapatya* fire, and then finally consigned to the *āhvanīya* fire. Thus, it travels from the center to the lower earthly region from whence it goes to Heaven.

When the sacrifice is interiorized, the heart is regarded as the center. The upward moving breath (*prāṇa*) is the fire located in the parts of the body above the heart. This breath is regarded a being full of positive divine powers. The downward moving breath (*apāna*) resides in the organs below the heart and represents water which associated with pollution; it is regarded as being constituted by the negative demonic powers which symbolize death. (Water is here associated with impurity because blown by the wind, it produces foam, mud, and so on [ŚB 6.1.3.2; 3].) In the heart, situated between these divine and demonic poles, the soul, identified with Prajāpati, the Lord of Creatures, resides as the pervasive breath (*byāna*), which regulates the other two (ŚB 6.1.2.12). Thus, in the internal *yajña*, the vital principle operates constantly in this threefold from (Kaṭha U 2.2.3). (These three vital principles activating the body figure in later scriptures [of *kuṇḍalinī yoga*] as the three *nādis* [vital channels]: *iḍā, Piṅgalā,* and *susumnā*. The breath which normally moves through *iḍā* and *Piṅgalā*, when flowing through *susumnā*, rises upward to the Immortal Self, the

Supreme Being, in whom the seeker experiences the total merger of his individuality. In the course of time, this process of "*prāṇayoga*" comes to be known as "the awakening of *kuṇḍalinī*" [BSS pp. 185-86].)

Parallel to these three manifestations of vitality flowing through the body, man undergoes three births. The first is from his parents; the second is brought about by the sacrament which entitles him to perform the Vedic sacrifice; and the third birth takes places through the funeral rites performed on the body after death. Realizing these three births man is fully purified and is assimilated into the third fire, that of the cremation pyre, and becomes permanently established in the Supreme Self (ŚB 11.2.1.1). *Yajña* brings about the second birth, which is the foundation head of that eternal flow toward the final goal of all three (ŚB 11.9.1.4).

The Form of the Vedic Ritual

As a preliminary to any *yajña*, the sacrificial offerings have to be selected and purified. This is done on the basis of the assumption that there is a subtle principle which pervades all that is edible (for it is food which is being offered to the gods) which is called *medha*, meaning literally "the essence of sacrificial oblation." The more of it that is present in some thing, the worthier it is so be offered as an oblation. The sages credited certain edibles such as rice, barley, ghee, milk, animal flesh (either of a goat or horse), as well as *soma*, with being rich in *medha* and so to be offered in sacrifice (AB 7.1; ŚB 5.1.3.7).

In the *yajña*, it is not these things as such but this underlying principle which, concentrated and activated, is being offered. The process by which *medha* was extracted from the offerings as their essence before they were offered to the sacrificial fire was that by which they were purified.

The inner, spiritual counterpart of this preliminary process of purification concerned the sacrificer himself. It involved the extension of his soul-force (*tejas*), in the course of the preliminary rite, through all of time and space. Thus, he was to extend it through a day, a fortnight, a month, a season, a half a year, and finally, the full year, which symbolizes the totality of the perpetual recurrence of Eternal Time (ŚB 1.6.3.36). In the spatial plane, he was to extend it to the individual,

family, village, province, country, and beyond. In this way, an identification is sought to be established with the eternal and ubiquitous transcendental Being (ŚB 11.2.1.2).

After this comes the ritual lighting of the fire, the *Agnyādhāna*, which was preferably performed on the new-moon day in the month of *Vaisākha* (April-May), or else it could be done whenever a need was felt to offer a *yajña* (ŚB 2.1.3.9; 11.1.1.7). The fire was lit in the prescribed way by the rubbing together of sticks and placed in the hearths of the three fires. The fire was then stoked while a prescribed set of verses was recited.

In the internalized counterpart of this ritual the inner fire called *Vaiśvānara* is inflamed and led up the body. This led to the establishment of the cosmic soul-force (*tejas*) inherent in fire in the ten forms of the vital breath (*prāna*) as well as in the soul (ŚB 11.2.1.2).

After the fire was lit and blazing, the sacrificer, accompanied by his wife, began the fire-offering (*Agnihotra*), which he repeated regularly throughout life by offering milk, rice, curd, etc. to Agni, the god of the fire and Prajāpati, the Lord of the Creatures in the evening, and to Āditya, the Sun-god and Prajāpati in the morning.

The *Agnihotra* symbolized the Sun-god (ŚB 2.3.1.1). The Sun, shining and moving through the sky is in this context identified with Yama, the god of death. This is because those living beings who reside in the region below it are subject to death (ŚB 2.3.3.7; 2.3.3.8), whereas the gods who live above the solar sphere are immortal and free from the fear of death. It is the Sun which, controlling by its rays all that lives on the face of the earth, brings about the death of all living beings. But the man who performs the fire sacrifice every morning and evening ascends to the higher world beyond the Sun when physical death comes to him in due time and, having attained thus to immortality, is freed from the bondage of recurring death (ŚB 2.3.3.9). Thus, the absolute essence of the soul-force (*tejas*) manifests as the Sun-god and the Fire-god. Fire presides over the earth, the abode of mortals, and the Sun presides over the Abode of the Immortals, which a mortal can attain if, by performing fire sacrifice, he lays hold of the flux of cosmic power (*tejas*) released by thus conjoining Sun and Fire (RV 10.88.6, 7).

After the performance of the fire sacrifice, which takes a day and a night, the fortnight-long sacrifice the *Darśapūrṇamāsa* is

performed, starting on a full-moon or a new-moon day. It consists of two major part: the *Pūrnamāsa* and the *Darśa* each of which consists in turn of a mumber of principal and secondary sacrificial rites which take place on various lunar days supplementing each other to form a single whole. This *yajña* is performed by the sacrificer accompanied by his wife with the help of four Vedic priests called *advaryu, brahmā, hotā* and *udgāta*.

Pūrṇamāsa and *Darśa* symbolize Mind and Speech respectively (ŚB 11.2.4.7). Thus, wholesome food serves as a sacrificial offering to the body. Transformed into its nutritive essence (*urk*) ("*urk*" is the essence of water, corns, herbs, etc.[*VājSam* 18.54]), it is assimilated into the vital fire of the breath which sustains the mind. This vital fire is Speech (*Vāk*), which through its constant activity covers the mind with layer after layer of its owe self-generated tendencies and impressions. This constant building up of the mind by Speech in the form of vital fire is the aim of the *Darśapūrṇamāsa* (AB 2.3.3[15]). This *yajña* elevates the vital breaths in the body and orients them toward the soul that it may attain the perfection of the Supreme Soul (ŚB 11.1.2.3).

Next in the ascending scale of time comes the *yajña* called *Cāturmāsya*, which is performed every four months. Four sacrifices belong to this group, three of which are offered on the full-moon days of the first, fourth, and ninth months of the year, while the fourth is offered on the first day of the waxing moon which marks the beginning of the first month and so is the first day of the lunar year (which falls somewhere between February and March).

At the spiritual level, the performer of the *Cāturmāsya* is empowered to implant within himself the pervasive form of Prajāpati, who is the Supreme Being viewed as Immortality symbolized by the year. Through the first sacrifice of the *Cāturmāsya* the sacrificer incorporates in himself the right arm of Prajāpati. Similarly, the right thigh, the left thigh, and the left arm of Supreme Being are respectively incorporated by the sacrificer through the following three sacrifices. Thus, the sacrificer, through the fourfold assimilation of the vitality of Agni (The Fire), can install within himself the Eternal Being as Prajāpati (ŚB 11.5.2.1; 8).

The cycle of *Cāturmāsya Yajña* being completed, there follows the ceremony of *Paśuyāga*, to be performed twice a year, at intervals of

six months. In this *homa*, the heart, marrow, and other extractions from goats, sheep, and other sacrificial animals are consigned to the fire on the principal oblations. Through this performance, the sacrificer absorbs in himself the *medha* or essence of the oblations and thereby sublimates the period of one year into *aṁṛta āyu* or immortal life.

This half-yearly sacrifice is followed by the *Soma yajña*, symbolic of the whole year. It combines all three kinds of *yajña*(s), namely, those in which cereals ae offered, those in which animals are sacrificed, and those in which *soma* is offered. Even so, the main offering is that of the *Soma*. this ingredient of *Soma*, which pervades all the three *loka*(s) (regions), namely, *pṛthvi* (earth), *antarikṣa* (atmosphere) and *dyu* (space), is extremely energizing (ŚB 3.9.4.12). On special days, such as the new-moon day, this nectar-life *Soma* is produced in the herb called *aśānā* at particular spots on rocky hills. In some places, it is also known as *dudhāna* or *uśānā* (ŚB 1.6.4.5; 3.4.3.13). By drinking the *Soma* contents obtained from *Śomayāga*, the sacrificer establishes in himself the effulgent *amṛtabhāva* or nectarlike quality in the form of the annual cycle, and this very state of incarnating the eternal cycle of the year in oneself is known as being established in the state of *Prajāpati* in the form of *Annāda* (the Eater of food) (ŚB 1.6.3.37; AB 14.4; 5; 6).

When all of the above sacrifices have been performed, one is entitled to offer a *Cayanayāga*, through which the sacrificer is identified with *Vāyu*-the Air immanent in all creation-and so gains the Eye of Knowledge (*jñānacakṣu*) existing in the spatial extension as consciousness (ŚB 6.1.1.5). *Cayanayāga* comes at the end of the *Somayāga*. Symbolizing as it does the annual periodicity of time, it imparts to the performer the faculty of preception. Now, the performer of *Cayanayāga* projects upon himself an identification with the permanence of *Vāyu* and the other material element which constitute the world.

The *Cayanayāga* requires the construction of five altar piles next to each other, symbolizing the four directions-east, west, north and south. The upper pile if the fifth created by Prajāpati as a manifestation of himself the year (ŚB 6.1.2.19). The shape of these five together is like that if a flying hawk the head of which symbolizes the vital principle inthe head at corresponds to the *Āhavanīya* fire to the east. In the same way, the eye, the head, the right ear, the left ear, the central vital principle

or soul and Speech or mouth of the sacrificer correspond respectively to the head, the right wing, the left wing, the soul, and the tail of the hawk. Again, the five pil are the hair, skin, flesh, bone, and marrow. By performing this *yajña*, the sacrificer endows these parts with immortality, the nectar of perfect know edge, and acquires equality with Prajāpati. This is because it is said that ancient times, the vital breath in the sacrificer's body assumed this form performing this *yajña* and was lifted up to the level of Prajāpati to become one with him. Again, in the same hawk form, Prajāpati created the god while the gods in their turn, in this form, acquired immortality.

Thus, having performed the Vedic *yajña*(s), the performer achieves configuration of the perennial annual cycle as immortality (*aṁṛta*) with himself, and at last performs the *Puruṣamedha* sacrifice. In this *yajña*, the performer takes the vow to consummate his total identification with the entire universe, with all that it contains, thus becoming one with Prajāpati the Cosmic Person (*Virāt Puruṣa*) (ŚB 1.3.6.1.1). Since to Prajāpati the Cosmic Person as the Eater, all that the world contains is related as food the performer of *Puruṣamedha-Yajña* deems all things, all cretures, even human beings of all the four *varṇa*(s), as sacrificial animals. As man is the earthly image of the Cosmic Person, he is honored as the best oblation for this *yajña* and is accepted as food (*medha*) for the *Virāṭ Puruṣa* (ŚB 13.6.2.10). But these human beings offered as sacrificial animals are killed, but are sent away with great honor after their *Prayāgnikarana saüskāra*, that is, the cermony of carrying fire round them as sacrifice animals.

In this way, having performed *Puruṣamedha Yajña*, the performer expansion of his identity to cover the entire universe and by absorbs the sacrificial within himself. After-this, he goes, a to the forest, leaving the worldly life behind forever. There passes the rest of his life in continual meditation on the merges in the Supreme Reality. He may also stay near in meditation on the Truth of the inner Self (SB).

The Vedic Origin of Samnyāsa Āśrama

In the Vedas, one comes across the basic principles constituting what later *smrti* writings describe as the fourth *āśrama* (stage of life), namely, *samnyāsa*, which is an essential aspect of the spiritual heritage of India. The term *Brahmabhāva* (the state of Brahman) is often applied in the Vedic literature to indicate *samnyāsa āśrama*. *Brahma-bhāva*

implies a state unaffected by morality and immorality, merit and sin, and such other pairs of opposites results of *Karma*, and an effort to keep unshrouded one's perpetual identity with the Supreme Soul permeating all conscient and inconscient levels of creation. A person thus engaged in practicing *Brahmabhāva* really deserves to be called *Brāhmaṇā* or *Brahmavettā*, a knower of Brahman (ŚB 14.4.2.28).

The Vedic *yajña*(s) on performs as a principal means of attaining to this *Brahmabhāva*. When one's body and mind are cleaned of all impurities by the performance of these *yajña*(s), and one's worldly attachments are nullified, one gives up all worldly possessions by performing the last *yajña*, *Puruṣamedha*, and retires to the forest. Meditating on the Self, in the seclusion of the forest, as he becomes firmly established in detachment and renunciation, he leaves the company of the retired contemplators as a solitary recluse to pass silently into *Brahmabhāva* (ŚB 13.6.2.20).

Apart from the series of *yajña*(s), there are injunctions in the Vedas for practicing other disciplines, such as *Brahmacarya*, penance, faith, and so on for achieving the same goal (ŚB 14.4.2.25).

In some contexts, *Brahmabhāva* has been signifiied by the word, *Viraja*, or "the state without impurities" (ŚB 14.4.2.23). The *Taittrīya Āranyaka* expatiates at great length upon the will to cleanse the Self of all kinds of impurity (*mala*) in order to be established in *Brahmabhāva* (TA 10.65.1-5; 66.1-14).

In latter periods, *samnyāsa āśrama* or *Brahmāśrama* was instituted in a developed form by the *Purāṇa*(s) and other *smrti* scriptures, evidently, on the basis of this state of *Brahmabhāva* described in the Vedas (ŚK, Kāṅḍa V, 252; KP Chap. 27). According to *Manu*, it is only after having performed *Prajāpatiyeṣti*, *a süārtayajña*, that one is entitled to pass on from *gṛhastha āśrama* to *vānaprastha* or *samnyāsa* (MS 6.38).

Some sholars hold that *Prajāpatiyeṣṭi* is only a modified form of *Puruṣamedha* (ŚB 13.6.2.20; *Harīswāmi Bhāṣya,* n. 3). This is confirmed by the current tradition of *Virajā Homa* performed at the time of initiating an aspirant in *samnyāsa* (PPUP). At this sacrifice, the same mantras of the *Taittrīya Āranyaka*, expounding the state of *Viraja*, are recited (GKP, pp. 130-34).

From the above points, it obviously follows that the state of *Brahmabhāva* described in the Vedas has come to be known as *Brahmabhāva* or *samnyāsa āśrama*, with the passage of time. The characteristics of *samnyāsa āśrama* suggest their being derived from the Vedas.

Note :

1. The word "man" and the masculine pronouns used by the author for the agent or performer of the sacrificial act are retained even at the risk of connoting some form of sexism. The Vedas speak of the concealed divinity in man as the "performer of rites" *yajamāna* without expressly denying equality in manifestation (as well as concealment) of the divine in man and woman. It is only the Tantra that declares the divinity of woman in the context of ritual and worship. See the article on Tantra in Vol. 7 of World Spirituality. --Ed.

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

संस्कृतकाव्यशास्त्र में काव्यप्रयोजन विमर्श

हरिद्वार वर्मा

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

गंगानाथ झा परिसर, इलाहाबाद

काव्य एक कला है, कला सोद्देश्य होती है। संस्कृत के विद्वानों ने काव्य के प्रयोजन को सहर्ष स्वीकार किया है। 'प्रयोजनमनुद्दिय न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इस प्रकार स्पष्ट है कि मन्दबुद्धि व्यक्ति भी बिना प्रयोजन के किसी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। सभी व्यक्ति प्रयोजन की अपेक्षा रखते हैं। वस्तुतः काव्य, लोक मर्यादा और लौकिक ज्ञान के प्रकाश के लिए, जिससे लोक का कल्याण हो जिसके सुनने से मनुष्य सरल सहज भाव से शुभ कार्य में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्त होता है। इसी को हम संक्षेप में काव्य का प्रयोजन कह सकते हैं।

प्राचीनकाल से ही मनीषियों ने काव्य या साहित्य के प्रयोजन पर विचार किया है। यहाँ कला-कला के लिए की बात को नहीं माना गया और न आधुनिक उपयोगितावाद को ही काव्यभूमि में प्रतिष्ठित किया गया है अपितु काव्य के दृष्ट तथा अदृष्ट दोनों प्रकार के प्रयोजन माने गये हैं। नाट्य या काव्य के प्रयोजन पर सर्वप्रथम भरतमुनि ने विचार किया था उनका कथन है–

उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्।[1]
हितोपदेशजननं धृत-क्रीड़ा-सुखादिकृत्॥

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति॥

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥

अर्थात् नाट्यकला का प्रयोजन है, लोक का मनोरंजन एवं शोकपीड़ित तथा परिश्रान्त जनों को विश्रान्ति प्रदान करना है। भरतमुनि के पश्चात् ज्यों-ज्यों साहित्यिक विवेचना का विकास होने लगा त्यों-त्यों काव्य के प्रयोजन का भी

---

1. नाट्यशास्त्र (अ.1 श्लोक 113-115)

विशद विवेचन किया गया। आलंकारिक आचार्य भामह ने काव्य के प्रयोजन का निम्नलिखित प्रकार से वर्णन किया है–

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।[1]
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्य निबन्धनम्॥

अर्थात् उत्तम काव्य की रचना धर्म, अर्थ काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों तथा समस्त कलाओं में निपुणता और कीर्ति एवं प्रीति अर्थात् आनन्द को उत्पन्न करने वाली होती है।

आचार्य भामह के पश्चात् रीतिवादी आचार्य वामन ने काव्य के प्रयोजन पर विचार करते हुए लिखा है–

काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थ-प्रीतिकीर्ति-हेतुत्वात्।[2]

अर्थात् सत्काव्य के दो प्रयोजन है–दृष्ट और अदृष्ट। दृष्ट प्रयोजन है प्रीति और अदृष्ट प्रयोजन है–कीर्ति। टीकाकारों के अनुसार यहाँ पर दो प्रकार की प्रीति विवक्षित है एक तो काव्य श्रवण के अनन्तर सहृदयों के हृदय में होने वाला आनन्द और दूसरी इष्टप्राप्ति तथा अनिष्ट परिहार से उत्पन्न होने वाला सुख है। आचार्यवामन ने प्रीति तथा कीर्ति को काव्य का दृष्ट तथा अदृष्ट प्रयोजन माना है। इस पर विशेष बल देते हुए उन्होंने और भी श्लोकों में वर्णन किया है–

प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः।[3]
अकीर्तिवर्तिनी त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम्॥

कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चित्।
अकीर्तिन्तु निरालोकनरकोद्देशद्तिकाम्॥

तस्मात् कीर्तिमुपादातुमकीर्तिश्च व्यपोहितुम्।
काव्यालंकारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङ्गवैः॥

तदन्तर ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने भी प्रीति को ही काव्य का प्रयोजन बतलाया है। किन्तु ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन तथा आचार्य अभिनवगुप्त की 'प्रीति' की व्याख्या रीतिवादी आचार्यों की व्याख्या से भिन्न है–

तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्सवरूपम्।[4]

---

1. काव्यलंकार (1.2)
2. काव्यलंकार (1.1.5)
3. काव्यलंकार (1.2)
4. ध्वन्यालोक (1.1)

अभिनवगुप्त ने भी 'तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्' कहकर इसी का समर्थन किया है। हाँ इतना अवश्य है कि आनन्दवर्धन की प्रीति अलंकार अथवा रीति से उत्पन्न नहीं हो सकती यह तो सहृदयसंवेद्य है। भट्टनायक ने तो स्पष्ट रूप से कहा है कि काव्य का प्रयोजन केवल रसानुभूति है अन्य कुछ नहीं–

काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक्।[1]

आचार्य रूद्रट ने भामह का अनुसरण करते हुए चतुर्वर्ग प्राप्ति को ही काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है–

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।[2]
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥

आचार्य कुन्तक धर्मादि पुरूषार्थ चतुष्टय के साथ-साथ हृदयाह्लादकारकत्व भी काव्य का प्रयोजन मानते हैं। उनके अनुसार काव्य से अभिजात कुल में उत्पन्न राजकुमार इत्यादि को सरलता से पुरूषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त काव्य से व्यवहार ज्ञान एवं आनन्दानुभूति रूप चमत्कार की प्राप्ति होती है–

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमार क्रमोदितः।[3]
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥

व्यवहारपरिस्पन्द-सौदर्य-व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥

चतुवर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥

आचार्य मम्मट ने उपर्युक्त सभी मतों का समन्वय करते हुए सर्वप्रथम प्रयोजन षट्क का निरूपण किया है जिसका परवर्ती आचार्यों पर व्यापक प्रभाव पड़ा है, किन्तु मम्मट का भी विशेष आग्रह **'सद्य परनिवृर्ति'** पर ही है। उन्होंने आनन्दानुभूति को सकलप्रयोजनमौलिभूत कहा है। मम्मट ने यशः प्राप्त, अर्थ रूपी पुरुषार्थ की प्राप्ति, व्यवहार ज्ञान रसानुभूति एवं कान्तासम्मित उपदेश के अतिक्ति अमंगल निवारण रूपी नवीन काव्य प्रयोजन की कल्पना की है–

---

1. ध्वन्यालोक लोचन पृ. (65)
2. काव्यलंकार
3. वक्रोक्तिजीवित- (प्रथम उन्मेष, 3-5)

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।[1]
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

कविराज विश्वनाथ ने सर्वप्रथम कवि और सहृदय के अतिरिक्त काव्यशास्त्रियों के लिए भी काव्यप्रयोजन रूप से पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति का उल्लेख किया है। विश्वनाथ के अनुसार शास्त्र से पुरुषार्थों की प्राप्ति दु:खमय है और सबके लिये सम्भव नहीं है। किन्तु काव्य के माध्यम से चतुर्वर्ग की प्राप्ति सुखसाध्य है–

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।[2]
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते॥

आचार्य हेमचन्द्र प्रयोजन षट्क में से तीन प्रयोजन स्वीकार करते हैं– आनन्द प्राप्ति, यश प्राप्ति एवं कान्तासम्मित उपदेश प्राप्ति–

काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्योपदेशाय च॥[3]

अग्निपुराणकार नाट्य अथवा काव्य का प्रयोजन पुरुषार्थ चतुष्टय न मानकर पुरुषार्थत्रय-धर्म, अर्थ और काम ही मानते हैं–

त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्।[4]

आचार्य पण्डितराज कीर्ति, परमह्लादक, गुरु, राजा एवं देवताओं की प्रसन्नता, विद्या, धनलाभादि आदि को काव्य प्रयोजन मानते हैं–

तस्य कीर्तिपरमाह्लादगुरुराजराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य .....।[5]

आचार्य राजचूड़ामणि दीक्षित मम्मट सम्मत काव्यप्रयोजन ही स्वीकार करते हैं।

काव्यं हि यशसेऽर्थाय शिवेतरनिवृत्तये।[6]
कान्तावदुपदेशाय परनिर्वृतये क्षणात्॥

वाल्मीकि इत्यादि कवियों को रामायणादि रचना के फलस्वरूप यश प्राप्ति हुई इसी प्रकार धावक कवियों को नैषधीयचरितादि काव्यलेखन से अर्थ लाभ

1. काव्यलंकार (1.2)
2. साहित्यदर्पण (1.2)
3. काव्यानुशासन
4. अग्निपुराण
5. रसगंगाधर
6. काव्यदर्पण (पृ. 5-6)

हुआ जयदेव इत्यादि कवियों को गीतगोविन्द काव्यों की रचना से अभिलषित कामरूप तृप्ति की प्राप्ति हुई। मुदगलाचार्य इत्यादि कवियों ने आर्याशतकादि काव्य रचना से आत्मसाक्षात्कार रूप मोक्ष प्राप्त किया।

वल्मीक्यादेरभूत्कीर्त्यै धावकादेः श्रियेऽपि च॥[1]
कामाप्यै जयदेवादेर्मुद्गलादेस्तु मुक्तये॥

उपर्युक्त काव्य प्रयोजन परम्परा पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात है कि कुछ आचार्य तो प्राचीन अलंकारिकों की भाँति काव्य को कवि एवं सहृदय दोनों की दृष्टियों से प्रयोजन मानते हैं। कुछ-कुछ आचार्यों का विचार पुरुषार्थ चतुष्टय की ओर होता है, तो कुछ का प्रयोजन षट्क की ओर किन्तु इनके विपरीत कुछ आधुनिक आचार्य कवि की दृष्टि से काव्य प्रयोजन की अनिवार्यता नहीं स्वीकार करते। वे कवि दृष्टि से काव्य को निष्प्रयोजन एवं सप्रयोजन दोनों ही मानते हैं।

✦✦✦

1. साहित्यसार (पृ. 4)

Concept of Irrigation as Depicted in Sanskrit Texts

Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

Assistant Prof. Department of Sanskrit
Ranchi College, Ranchi, Jharkhand

Irrigation has always played a vital role in the agricultural industry of India from ancient times. In effect, the origin and evolution of agriculture and feeling need of irrigation are not separate processes. They are closely connected with the general course of history of plant growing with the invention of tools and irrigation techniques.

Water is essetial for the grwoth of crops. It is one of the primary requisites of agriculture for increasing the fertility of land, growth of crops etc.-आपः चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति[1]। Our ancient texts have taken care of watering of plants at the micro level such as watering after transplanting the plant and after their growth individually and collectively; and at macro-level of water supply on a larger scale with irrigational facilities.

According to *Śatapatha Brāhmaṇa,* water and trees depend upon each other and enrich each other and together they enrich mankind. It is an interesting fact that waters have been preserved to rear the plants and trees who in their turn are being planted on bank of reservoirs and rivers to preserve the waters.

Water it available from four sources as seen from hymns in *Ṛgveda.* The *Yajurveda* refers to a complete list of water resources namely rivers, lakes, tanks, ponds, pools, stagnant water, wells, sea, small streams, big streams, canals and so on[2]. There are numerous hymns pertaining to *Parjanya* (Rain water), rivers, well water in *Vedic saühitas. Indra* being deity of clouds and *Varuṇa* of *Parjanya* they are prayed for abundant and timely water.

But, in many cases it is either insufficient or irregular or not

1. *Atharvaveda-7/18/2*
2. *Yajurveda-16/37-38*

available at the proper time. Rain water has to be supplemented by the man-made devices of supplying water. Even in cases of other natural sources of water, such as rivers, streams, lakes and ponds, human effort is required to carry or direct water to the field. Thus irrigation falls into two clear categories, natural and artificial.

During *Vedic* period farmers were mostly dependent on rain water for agricultural works. There are numbers of references indicating irrigation by rain water.[1] They knew that rain water was the first and foremost source of water supply. *Yajurveda* says-अपः पिन्व[2] i.e. wet the soil with rain water. According to the *Ṛgveda* rain water helps to grow food plants.[3] Food crops for living beings of the world will grow when there is rain.[4] Rain gives happiness. All plants, trees, crops etc. will grow and become fruitful when there is rain.[5] *Yajurveda* says that for healthiness of the state, watering of the plants should be done properly with sweet rain water.[6]

The technique of bringing rain through rituals and sacrifices was known and was practised in ancient India. Even now such practise is observed-मे वृष्टिः यज्ञेन कल्पन्ताम्[7] i.e. let the water pour from rain through the sacrifiece was perform. According to *Ṛgveda* rain could be obtained through a sacrifice called *Kāmeṣṭi.*[8] There is another sacrifice called *Kārīrī,* which when performed a systematically using sticks of *Kārīra* tree, rain was sure to come.[9] *Vṛṣṭi Sūkta* gives very beautiful picture of cloud formation and raining as seen below-

स॒मुत्पतन्तु प्र॒दिशो॒ नभस्वती॒ सम॒भ्राणि॒ वातजूतानि यन्तु।
म॒हऋ॒षभस्य॒ नदतो॒ नभस्वतो वा॒श्रा आपः पृथि॒वीं तर्पयन्तु॥[10]

Let all the misty regions of the heaven be overcast with clouds, let the rain-clouds accompanied by gusts of wind overwhelm the sky.

---

1. *Ṛgveda*-7/101/1, 2, 5, 6, 10; 10/50/3; 10/98/9; Yajurveda-16/48; Atharvaveda-4/15/1; 6/54/1; 11/4/17
2. *Yajurveda*-14/8
3. *Ṛgveda*-5/83/10
4. Ibid, 5/83/4
5. Ibid, 5/55/5.
6. *Yajurveda*-11/38
7. Ibid; 18/9
8. *Ṛgveda*-10/98/1-12
9. *Kṛṣṇa Yajurveda*-2/4/7/10
10. *Atharvaveda*-4/15/1

Let the rattling waters of the thundering tremendous clouds moved by wind satisfy the earth.

समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम्।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः॥[1]

Let the bounteous impetuous winds show us forth the heavy rain, and let the essence of waters i.e. moister be hung up with the herbs and plants. Let floods of rain refresh the earth and let the herbs of various forms and colours separately grow in abundance.

समीक्षयस्व गायतो नभास्यपां वेगासः पृगगुदु विजन्ताम्।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तां वीरुधो विश्वरूपाः॥[2]

Let the hosts of wind show the rainy clouds to them who are singing in pleasure and let the rush of water burst in many phases. Let the floods of rain refresh the earth and let the herbs of various forms and colours separately grow in abundance.

गणास्त्वोप गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक्।
सर्गा वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु॥[3]

Let the troops of wind roaring everywhere sing the glory of rainy cloud and let the pouring torrents of the raining cloud rain upon the earth.

उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत् पातयाथ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपःपृथिवीं तर्यन्तु॥[4]

Let the winds lift up the waters from the ocean as the light and splendour of the Sun raise the vapours upward. Let the rattling waters of the thundering tremendous cloud moved by wind satisfy the earth.

अभि क्रन्द स्तनयार्दयोदधि भूमिं पर्जन्य पयसा समङ्ग्धि।
त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षमाशारैषी कृशगुरित्वस्तम्॥[5]

Let the cloud roar and thunder, and set the sea in agitation, let it moisten the earth with its rain. Let the plenteous showers rained by cloud come to people desiring the rush of water and the peasant possessing lean cows go to his home for shelter.

1. Ibid; 4/15/2
2. Ibid; 4/15/3
3. Ibid; 4/15/4
4. Ibid; 4/15/5
5. Ibid; 4/15/6

सं वो॑ऽवन्तु सु॒दान॑व॒ उत्सा॑ अजग॒रा उ॒त।
म॒रुद्भिः॑ प्रच्यु॒ता मे॒घा वर्ष॑न्तु पृथि॒वीमनु॑॥[1]

O people! Let the bounteous, coiling serpent like torrential pours of rain keep you safe and the clouds agitated by winds pour down rain upon th earth.

आशा॑माशा॒ वि द्यो॑तता॒ वाता॑ वान्तु दि॒शोदि॑शः।
म॒रुद्भिः॑ प्रच्यु॒ता मे॒घाः सं य॑न्तु पृथि॒वीमनु॑॥[2]

Let the lightning flash on all sides and let the winds blow from all directions and the clouds agitated by the winds come down to the earth.

आपो॑ वि॒द्युद॒भ्रं व॒र्षं सं वो॑ऽवन्तु सु॒दान॑व॒ उत्सा॑ अजग॒रा उ॒त।
म॒रुद्भिः॑ प्रच्यु॒ता मे॒घाः प्रावं॑न्तु पृथि॒वीमनु॑॥[3]

Let lightning, waters, rain and the coiling serpent like torrential pours of rain keep the people safe and the clouds agitated by the winds rush towards earth.

अ॒पाम॒ग्निस्त॒नूभि॑: संविदा॒नो य ओष॑धीनामधि॒पा ब॒भूव॑।
स नो॑ व॒र्ष व॑नुतां जा॒तवे॑दाः प्रा॒णं प्र॒जाभ्यो॑ अ॒मृतं॑ दि॒वस्परि॑॥[4]

Let that *apāmgnih*, the fire of the waters the electricity which is the protector of the herbaceous plants and its present in the created objects of the world of the waters-the clouds, rain water for us from the heaven and give life to the creatures.

When there were no rains and drought conditions were prevailing, *Vedic* hymn were recited and *Yajñas* (sacrifices) were performed in order to please *Varuṇadeva*-the deity of rain, *Patañjali* says that such efforts had instant effects.[5] Yāska (Nirukta) names a group of hymns in the *Ṛgveda*[6] as *Varṣakāmasūkta* or hymns recited at a sacrifice performed to bring about rain. The belief in the efficacy of a sacrifice to cause rains in recorded in *Gītā*[7] and *Manu Smṛti*[8].

---

1. Ibid; 4/15/7
2. Ibid; 4/15/8
3. Ibid; 4/15/9
4. Ibid; 4/15/10
5. *Mahābhāṣya*-1/4/83
6. *Ṛgveda*-10/98
7. *Gītā*-3/14
8. *Manu Smṛti*-3/76

Prayers were made for timely rain. *Nāradīya Smṛti* says that plants will not grow without water and even with excess water. Both no water and excess of water affect the field and crop equally.[1]

Kṛṣi Parāśara has written much on various aspects on rainfall. It would be of great use to mention his entire theory here. Modern day scientists should work on the observations and come up with more relevent theories in this regard.

According to *Kṛṣi Parāśara*, farming totally depends on rainfall. Life itself, therefore, depends on rainfall. Hence, to begin with one should strive hard to acquire the knowledge of rainfall.

वृष्टिमूला कृषिः सर्वा वृष्टिमूलं च जीवनम्।
तस्मादादौ प्रयत्नेन वृष्टिज्ञानं समाचरेत्।।[2]

Every year has a particular planet as a ruler, another planet as a minister, a particular cloud and depending on that an amount of rainfall which one has to study to acquire the knowledge of rains.

अतो वत्सरराजानं मन्त्रिणं मेघमेव च।
आढकं सलिलस्यापि वृष्टिज्ञानाय शोधयेत्।।[3]

The Sun as ruler of the year indicates average rainfall, the moon heavy rains, Mars scanty rains, and Mercury good rains.

चित्तर्लोके नृपे वृष्टिर्वृष्टिरुग्रा निशापतौ।
वृष्टिर्मन्दा सदा भौमे चन्द्रजे वृष्टिरुत्तमा।।[4]

When Jupiter happens to be the king of the year the rainfall is satisfactory. Venus indicates excellent rainfall while Saturn as king leaves the earth dry and dusty.

गुरौ च शोभना वृष्टिर्भार्गवे वृष्टिरुत्तमा।
पृथिवी धूलिसंपूर्णा वृष्टिहीना शनौ भवेत्।।[5]

Diseases of the eye, threat of fever, and all sorts of other calamities, scanty rainfall, and continuous blowing of winds are the characteristics of a year ruled by the Sun.

---

1. *Nāradīya Smṛti*-11
2. *Kṛṣi Parāśara*-1/10
3. Ibid; 1/11
4. Ibid; 1/13
5. Ibid; 1/14

चक्षूरोगो ज्वरारिष्टं सर्वोपद्रव एव च।
मन्दा वृष्टिः सदा वातो यत्राब्दे भास्करो नृपः।।[1]

The year in which the Moon is ruler is sure to enrich the earth with good harvest and bestow health on manking-

यस्मिन्संवत्सरे चैव चन्द्रो राजा भवेद् ध्रुवम्।
कुर्यात्सस्यान्वितां पृथ्वीं नैरुज्यं चापि मानवे।।[2]

In the year ruled by Mars, damage is caused to the crops and disease spread among people. The earth becomes bereft of crops-

शस्यहानिर्भवेत्तत्र नित्यं रोगश्च मानवे।
यस्मिन्नब्दे कुजो राजा शस्यशून्या च मेदिनी।।[3]

When Mercury happens to be the ruler, earth is free of diseases. Transportation is easy and there is plenty of harvest. The earth is blessed with varieties of crops-

नैरुज्यं सुप्रचारश्च सुभिक्षं क्षितिमण्डले।
यत्राब्दे चनद्रजी राजा सर्वशस्या च मेदिनी।।[4]

If Jupiter rules the year, Dharma prevails on earth. People enjoy peace of mind. There is good rainfall. The whole earth enjoys prosperity-

धर्मस्थितिर्मनःस्थैर्यं वृष्टिकारणमुत्तमम्।
यस्मिन्नब्दे गुरु राजा सर्वा वसुमती मही।।[5]

Venus, the preceptor of demons, as a ruler of the year causes the kings to prosper without fail. Prosperity and plenty result. The earth is blessed with variety of food grains-

नृपाणां वर्धनं नित्यं धनधान्यादिकं फलम्।
राजा दैत्यगुरुः कुर्यात्सर्वशस्यं रसातलम्।।[6]

The year in which Saturn rules, war, stormy rains, and outburst of diseases are sure to occur. Rains are scanty and winds are continuous-

संग्रामो वातवृष्टिश्च रोगोपद्रव एव च।

---

1. Ibid; 1/15
2. Ibid; 1/16
3. Ibid; 1/17
4. Ibid; 1/18
5. Ibid; 1/19
6. Ibid; 1/20

मन्दा वृष्टिः सदा वातो नृपे संवत्सरे शनौ।।[1]

Experts should speculate rainfall with reference to the minister planet of the respective year in the same manner as has been stated above with reference to the king of the year-

यथा वृष्टिफलं प्रोक्तं वत्सरग्रहभूपतौ।
तद्वद्वृष्टिफलं ज्ञेयं विज्ञैर्वत्सरमन्त्रिणि।।[2]

If in *Pauṣa* of a certain year there is rainfall or fog, the earth is likely to be inundated in seventh month since then-

पौषे मासि यदा वृष्टिः कुज्झटिर्वा यदा भवेत्।
तदादौ सप्तमे मासि वारिपूर्णा भवेन्महीं।।[3]

If on the seventh day of the bright half of *Māgha* it rains or clouds appear in the sky, the year brings with it blessings in forms of crops of all kinds-

माघस्य सितसप्तम्यां वृष्टिर्वा मेघदर्शनम्।
तदा संवत्सरो धन्यः सर्वशस्यफलप्रदः।।[4]

The rainy season is satisfactory and the earth yields sufficient crop if stormy winds or thunder showers are noticed on the seventh day of dark half of *Māgha* or *Phālguna* or on the third day of the bright half of *Caitra* or on the first day of *Vaiśākha*-

माघे बहुलसप्तम्यां तथैव फाल्गुनस्य च।
चैत्रे शुक्लतृतीयायां वैशाखे प्रथमेऽहनि।।

एतासु चण्डवातो वा तडिद्वृष्टिरथापि वा।
तदा स्याच्छोभना प्रावृड् भवेत् शस्यवती मही।।[5]

If the first day of the bright fortnight of *Caitra* happens to be Sunday, rainfall in the year is average and if it happens to be Monday the entire surface of the earth is drenched with water flowing due to continuous, forceful, and heavy rains-

प्रतिपदि मधुमासे भानुवारः सितायां

---

1. Ibid; 1/21
2. Ibid; 1/22
3. Ibid; 1/35
4. Ibid; 1/38
5. Ibid; 1/39-40

यदि भवति तदा स्याच्चित्तला वृष्टिरन्दे।
अविरलपृथुधारासान्द्रवृष्टिप्रवाहै-
र्धरणितलमशेषं प्लाव्यते सोमवारे।।[1]

If that (first) day happens to be a Tuesday, rainfall is not satisfactory in the year. If it is a Wednesday, Thursday, or a Friday, good crops leading to happiness are indicated. However, if it happens to be Saturday even the ocean will dry up and the earth will indeed become invisible due to mantle of dust in the atmosphere-

अवनितनयनवारे वारिवृष्टिर्न
सम्यग् बुधगुरुभृगुजानां शस्यसंपत्प्रमोदः।
जलनिधिरपि शोषं याति वारे च
शौरेर्भवति खलु धरित्री धूलिजालैरदृश्या।।[2]

If in the earlier part of *Caitra* there is average rainfall, in the rest of the year there will be very little or no rains at all; and there will be profuse rainfall in the central part of the earth-

चैत्राद्यभागे चित्रायां भवेच्च चित्तला क्षितिः।
शेषैः नीचैर्न वात्यर्थं क्ष्मामध्ये बहुवर्षिणी।।[3]

Rains should be observed by putting at night a rod in water of a flowing river on the first day of the bright half of the month *Vaiśākha*-

प्रवाहयुतनद्यां तु दण्डं न्यस्य जले निशि।
वैशाखशुक्लप्रतिपत्तिथौ वृष्टिं निरूपयेत्।।[4]

After chanting '*Om Siddhiḥ*', incantation two hundred times and marking a mark on rod, one should pit in water up to that mark-

ॐ सिद्धिरिति मन्त्रेण मन्त्रयित्वा शतद्वयम्।
अङ्कयित्वा तु तद्दण्डमङ्कतुल्ये जले क्षिपेत्।।[5]

On rising in the morning one should immediately observe the marking and see if the water level is same or raised or reduced so as to know the amount of rainfall for the year-

प्रातरुत्थाय सहसा तदङ्कं तु निरूपयेत्।

1. Ibid; 1/44
2. Ibid; 1/45
3. Ibid; 1/46
4. Ibid; 1/48
5. Ibid; 1/49

समं चैवाधिकं न्यूनं भविष्यज्जलकांक्षया।।[1]

If the level is same, water and rainfall will be the same as in the previous year. If the level is reduced rainfall and water will be less as compared to the previous year. If the level is above the mark, rainfall and water will be double in quantity-

गतवत्सरवद्वरि वन्या चैव समे भवेत्।
हीने हीनं भवेद्वारि भवेद्वन्या च तादृशि।।

अङ्काधिक्ये च द्विगुणा वृष्टिर्वन्या च जायते।
इति पराशरेणोक्तं भविष्यद्वृष्टिलक्षणम्।।[2]

If the Sun is at the equinoctial point at Sunrise, calamity will befall on the world; if it does at mid-day, a huge loss of crops is indicated and if at Sunset, the harvest will be only half if that of the previous year; if it is at mid-night, unmatched prosperity and happiness are indicated-

सूर्योदये विषुवतो जगतां विपत्ति-
र्मध्यं गते दिनकरे बहुशस्यहानिः।
अस्तं गते दिनकरे तु तदर्धशस्यं
ऐश्वर्यभोगमतुलं खलु चार्द्धरात्रे।।[3]

If in *Jyeṣṭha* the sky is bereft of clouds during *Citrā, Swāti* and *Viśākhā nakṣatras;* and if it rains in *Śrāvaṇa* during the same *nakṣatras*, the years brings blessings in the form of profuse yield of crops-

चित्रास्वातीविशाखासु ज्यैष्ठे मासि निरभ्रता।
तास्वेव श्रावणे मासि यदि वर्षति वासवः।।[4]

Wet land gets no rain and dry land becomes wet if it rains in the beginning of *Jyeṣṭha* in the bright fortnight during the ten *nakṣatras* starting with *Ārdrā*-

ज्येष्ठादौ सितपक्षे च आर्द्रादिशत्रृक्षके।
सजला निर्जला यान्ति निर्जला सजला इव।।[5]

Good rains are indicated if on the full-moon day of *Āṣāḍha*,

---

1. Ibid; 1/50
2. Ibid; 1/51-52
3. Ibid; 1/53
4. Ibid; 1/57
5. Ibid; 1/58

wind blows from east. If it blows towards the southeast, destruction of crops is indicated; towards south, it indicates scanty rain; towards the southwest, damage to crops; towards the west, rainfall; towards the northwest, whirlwind; and towards the north and northeast, plenty of harvest on earth-

आषाढ्यां पौर्णमास्यां सुरपतिककुभो वाति वातः
सुवृष्टिः शस्यध्वंसं प्रकुर्याद्दहनदिशिगतो मन्दवृष्टिर्यम्न।
नैऋत्यां शस्यहानिर्वरुणदिशि जलं वायुना वायुकोषः
कौबर्यां शस्यपूर्णां प्रथयति नियतं मेदिनीं शम्भुना च॥[1]

All trouble of starting the activity of farming is a waste if it does not rain in *Śrāvaṇa* while Sun is in *Rohiṇī*-

श्रावणे मासि रोहिण्यां न भवेद्वर्षणं यदि।
विफलारम्भसंक्लेशास्तदा स्युः कृषिवृत्तयः॥[2]

Ants emerging from anthill carrying their eggs and a sudden croaking of frogs are also indications of sudden rains-

उत्तिष्ठत्त्यण्डमादाय यदा चैव पिपीलिका।
भेकः शब्दायतेऽकस्मात् तदा वृष्टिर्भविष्यति॥[3]

Cats, mongoose, snakes, other creatures which live in holes as well as grasshoppers moving around freely as if in a state of intoxication are also sure signs of sudden rains-

बिडाला नकुलाः सर्पा ये चान्ये वा बिलेशयाः।
धावन्ति शलभा मत्ताः सद्योवृष्टिर्भवेत् ध्रुवम्॥[4]

Water birds drying their wings in the hot Sun and crickets chirping in the sky also signify sudden rains-

पक्षयोः शोषणं रौद्रे खगानामम्बुचारिणम्।
झिन्झीरवस्तथाकाशे सद्यो वर्षणलक्षणम्॥[5]

Rainfall can be predicted when Mars transits from one sigh to another, or when Saturn moves from one sign to the other but earth is

---

1. Ibid; 1/59
2. Ibid; 1/64
3. Ibid; 1/66
4. Ibid; 1/67
5. Ibid; 1/70

inundated before Jupiter moves-

चलत्यङ्गारके वृष्टिर्ध्रुवा वृष्टिः शनैश्चरे।
वारिपूर्णां महीं कृत्वा पश्चात्संचरते गुरुः॥[1]

The immediate result of Mar's transit through *Dhruva (Uttarāphālguni, Uttarāṣāḍha and Uttarābhādrapada), Vaiṣṇava (Śravaṇa), Hasta, Mūla, Śakra (Jyeṣṭhā), Krittikā and Maghā* is famine-

ध्रुवे च वैष्णवे हस्त मूले शक्रे चरन् कुजः।
सद्यः करोत्यनावृष्टिं कृत्तिकासु मघासु च॥[2]

Rivers were also used for irrigation purpose in ancient India. Vedic literature describes about 31 rivers. The abundance of the flowing water is afforded by numerous rivers for increasing the fertility of the land and as one of the prime requisites of agriculture is fully appreciated and prayers were offered for the grant of such rivers. Rivers obviously imply cultivation by irrigation, which is a form of cultivation connoting a great advance over ordinary rain-fed cultivation. Such irrigation also implies knowledge of the construction of dams and laying out a canal irrigation system. *Ṛgvedic* seer prays'Like a mother let these rivers give us pure and healthy water for our agriculture'.[3] *Śukranīti* says that agriculture with river irrigation is the best livelihood.[4] *Arthaśāstra* of *Kauṭilya* suggests constructing of dams on rivers for irrigation.[5]

Among the sources of water other than rain and rivers are wells These were used not only supplying water for drinking and domestic purpose, but also for irrigation. There are numerous references to the wells and raising water by means of wheels and other methods of development of agriculture in *Ṛgveda*.[6] *Ṛgveda* informs about the artificially made wells called *Avaṭa* which were full of water. These wells seem to have been used for irrigation purposes as well. Macdonell and Keith find clear notices of artificial water channels used for irrigation during the *Ṛgvedic* period.[1] The word *Udañcana* in *Aṣṭādhyāyī*[2] clearly indicates that irrigation with wells was in practice during *Pāṇini's* time.

---

1. Ibid; 1/71
2. Ibid; 1/75
3. Ṛgveda-10/64/9
4. Śukranīti-3/276
5. Arthaśāstra-2/1/20
6. Ṛgveda-10/101/6; 8/69/12

Gaṇa Pāṭha makes note of use of large leathern bucket and the *Yugavaratra*, the yoke and *halabandha*, the rope by which the bullocks draw water up.

Although rain, rivers etc. were main source of water in ancient times, but people then were aware of tanks in which waters could be stored.[3] We also get evidences about construction of dams and canals. *Ṛgveda* vouchsafes that *Ṛbhus* rended the fields fertile as they led forth the rivers.[4]

Throughout the ages, the provision for irrigation facilities was regarded as prime obligation for the Government and the rulers, the Kings, the Nobles and wealthy men in general. Wealthy men were expected to construct irrigation facilities in their respective native places. *Śukranīti* instructs that wells, canals, tanks and ponds should be constructed in such a way that needy person can access the water. Effort should be made construct water reservoirs and bridges-

कूपवापीपुष्करिण्यस्तडागाः सुगमस्तथा।
कार्याः खाताद् द्वित्रिगुणविस्तारपदधानिकाः॥

यथा यथा ह्यनेकाश्च राष्ट्रे स्याद्विपुलं जलम्।
नदीनां सेतवः कार्या विबन्धाः सुमनोहराः॥[5]

Kāśyapīykṛṣisūkti instructs how to estasblish water reservoirs. According to it, the king should plan villages, forts, and towns with help of expert engineers well-versed in science and conversant with the standards.[6] The villages should be equipped as a rule by the king, with wells and reservoirs of water, adorned with garden etc. and enclosed by agricultural fields-

वापीकूपसमयुक्तमुद्यानादिविभूषितम्।
सस्यक्षेत्रावृतं कार्यं नियमेन महीपतिः॥[7]

To the west, north, east or south of the villages and cities at the most convenient places, one should prepare reservoirs of water

---

1. Vedic Indexc, Vol-1, p.214
2. Aṣṭādhyāyī-3/3/123
3. Atharvaveda-1/3/7
4. Ṛgveda-4/33/7
5. Śukranīti- 4/4/63-64
6. Kāśyapīyakṛṣisūkti-1/61
7. Ibid; 1/64

according to the condition of the land.[1] The reservoir of water to be founded should to deep, equipped with barriers, splendid in the shape of a bow, long in some cases, round in others but essentially unfathomable.[2] These should be taken care of by causeways with firm ridges and should be equipped with high walls.[3] They should also be equipped with inlets for water. Hence they should be founded near some hill or on a high level ground joined with a big lake.[4]

A reservoir of water to be constructed on the level ground should be capable of holding abundant water-

महाजलैस्थैर्यभाजं जलाधारे तु भूतले।[5]

It may be constructed on firm ground devoid of stones, sand etc. and may be decked with natural springs-

सारक्षेत्रे स्थापयेत्तु स्वयं स्त्रावयुतेऽपि वा।
सैकतादिविहीने तु पाषाणादिविविर्जिते॥[6]

An expert should in this way build a deep reservoir of water equipped with a latch to ward off floods when it it inundated-

जलाशयं तु गंभीरं जलपूरार्गलायुतम्।
तथा तं स्थापयेद्विद्वान् जलपूर्णे जलाशये॥[7]

Thereby even when the reservoir is full of water there will be no obstruction to the villages and cities.[8]

The king should plan its construction at such places as not cause fear of danger from flooding. Such reservoirs should be regularly examined.[9] Examinations must be ordered frequently either on monthly or yearly basis. The king should also appoint officers in charge of guarding the banks.[10] Especially in the rainy season, keeping vigil on hundreds of canals, wells, and lakes will be beneficial.[1] Beds of water being full and regularly protected, growth of grain etc. would be assured

1. Ibid; 1/72
2. Ibid; 1/73
3. Ibid; 1/74
4. Ibid; 1/75-76 a
5. Ibid; 1/76
6. Ibid; 1/77
7. Ibid; 1/78
8. Ibid; 1/79
9. Ibid; 1/80
10. Ibid; 1/81

and happiness too through it.[2]

The king should establish two reservoirs of water or at least one, depending on the nature and area of the agricultural land attached to the village.[3] The should connect the same to a mountain spring or to a deep lake, to a forest river or rarely to a big river also.[4]

Where a canal or a lake or a pond incessantly filled with water in the agricultural field has not been designed or cannot be built, there it has been decided by the experts that canals originating from rivers should be constructed. The canal is either watered by a river, or depends on a deep pool or a large lake, or along the side on a tableland of a mountain.[5]

One canal full of water or in some cases two or three are prescribed for good results of the field.[6] Agricultural experts have resolved that where there is no river in the country, even a canal provided in a sandy place would be conducive to happiness.[7]

A natural spot of firm field, endowed with constant flow of water and devoid of stones with agreeable qualities, tends to accomplish the prosperity of fields.[8]

The experts conversant with the past history have determined that skilful contruction of a canal to create artesian well for bathing, drinking, and for agricultural operations on the ground is a source of protection for the living beings.[9] In the place devoid of lakes and in similar villages, towns, forests, and thickets, the wise man should arragnge the canal so as to reach the field.[10] A canal unprotected and destitute of water is defective yielding nothing. Hence, all kings should take care of canals in their best possible manner.[11]

In a country where canal water is not adequate in summer for grain fields or for graden, the king should order construction of wells

1. Ibid; 1/82
2. Ibid; 1/83
3. Ibid; 1/90
4. Ibid; 1/91
5. Ibid; 1/111-113
6. Ibid; 1/127
7. Ibid; 1/128
8. Ibid; 1/129
9. Ibid; 1/131-132
10. Ibid; 1/138
11. Ibid; 1/142

everywhere.[1] He should order to build, dig up, and duly portect wells, small and big, and ponds or lakes, quadrangular, round or oblong.[2]

It would be fruitful for getting full supply of water lasting for a long time. The wise lord of earth should first determine the position of water currents through the scrutiny of the ground situation from a look at trees etc. with the help of persons knowing the procedure of using sticks to find out the groundwater.[3]

The importance of irrigation was well realised. *Bṛhaspati Smṛti*[4] mentions the suitability of a field for irrigation as one of the qualities conducive to a rich crop. The prosperity of a kingdom was often contributed to its irrigational work.[5]

How much of water is available underneath the ground. This has remained a hot question through ages. Many of our sages have worked on this and have drawn significant conclusions, which could be of great use for entire humanity.

According to *Viśvavallabha*, if the earth is too hard to dig, almost like a rock, and if the axe hits on a parpata stone, there is plenty of water underneath-

खन्यमानेतिकठिना मृच्च पाषाणसंनिभा।
पर्पटाश्माभिघातस्यास्तदधःस्याज्जलं बहु।।[6]

A combination of *Bodhi, Udumbara, Palāśa* and *Nyagrodha,* on dry land indicates plenty of water underneath them at the depth of three man-heights-

बोधिद्रुमोदुंबरिकापलाशन्यग्रोधयोगश्च मिथो यदि स्यात्।
पंभिस्त्रिभिस्तत्र जलं च तेषामधस्तले जांगलके च भूरि।।[7]

Trees, bushes, and creepers with a milky sap and glossy leaves without holes, and whereon birds of different sound rest, indicate existence of sweet water close to the surface-

---

1. Ibid; 1/147b-148
2. Ibid; 1/149-150a
3. Ibid; 1/152-153
4. Bṛhaspati Smṛti-14/23
5. Mahābhārata-2/5/77; Rāmāyaṇa-2/100/44-45; Kirātārjunīyam -1/17
6. Viśvavallabha-1/A/7
7. Ibid; 1/E/2

स्निग्धाश्च निःछिद्रदला यदा स्युरनोकहा गुल्मलताः सुदग्धाः।
चित्रस्वनाःपक्षिगणा वसंति तत्रांबु मिष्टं निकटे प्रदिष्टम्।।[1]

Water is also indicated at a place where flower-bearing trees and creepers like *Jāti* etc. or *Kubjaka, Campaka,* etc. grow and also at a place where *Dāḍimī, Nimbaka,* and *Bījapūra* bear fruits-

पुष्पप्रधानास्तरवो लता वा जात्यादयः कुब्जकचंपकाद्याः।
स्याद्दाडिमीनिंबकबीजपूराः फलान्वितास्त्र जलं निरुक्तम्।।[2]

Sweet water is indicated under a piece of land which has sandy blue soil or sandy black soil or sandy soil in the colour of wheat or of yellow colour-

सशर्करा नीलमृदोपयुक्ता कृष्णा च मृद्यत्र सशर्करा वा।
गोधूमभा मृत्सिकता च यत्र पीताथवा मृन्मधुरांबु तत्र।।[3]

Absence of groundwater is indicated where the trees, bushes, creepers growing on the surface are thin, rough and have leaves with small holes and also where *Śriparṇī, Sarja, Arjuna, Śāka, Bilva, Śiüśipa, Pārtha* and *Dhava* exist-

गुल्मद्रुवल्यः कृशरूक्षसूक्ष्मसछित्रद्रपत्रा न च तत्र नीरम्।
श्रीपर्णिसर्जोर्जुनशाकबिल्याः सशिंशिपा पार्थधवाश्च यत्र।।[4]

After finding out the groundwater source reservoirs should be contructed there in villages. They can be of various shapes and sizes. Great sages have stated that pools, ponds, wells, and potholes when naturally formed do not have any fixed proportion. Periodical springs, canals, and water basins, etc. can be of any shape or size as desired-

तडागवाप्यावपि कूपकुंडे सदेवखाते कथिते मुनीन्द्रैः।
विना प्रमाणेन च कूपिकाकुल्यालवालादि यथेच्छया स्यात्।।[5]

Lakes are constructed in six different shapes, viz, circular, quadrangular, triangular, multi-angular, long like a staff, or semicircular resembling the shape of half moon. One must know the measure of their depth-

---

1. Ibid; 1/E/2
2. Ibid; 1/E/5
3. Ibid; 1/E/11
4. Ibid; 1/E/13
5. Ibid; 2/2

वृत्तं चतु:कोणमनेककोणंत्वथ दंडलंवम्।
तथार्धचन्द्रं रसाधा सर:स्यात् ज्ञेयं प्रमाणं खनितस्य तस्य।।[1]

A lake is stated to be superior when a measuring a thousand daṇḍas (Approximately 1.8 Km) in length. It is mediocre when the length is half of that and inferior when the length is half of the mediocre one-

श्रेष्ठं सरो दंडसहस्त्रकेन मध्यं तदर्धेन तदर्धकेन।
कनिष्टमेतानि यथावकाशं मानाधिकाल्पानि भवन्ति शश्वत्।।[2]

Newly planted trees in arid land should be watered every morning and evening for a period of fifteen days until the soil is fully soaked.

प्रतिवासरमेवैषां सायं प्रातर्निषेचनम्।
दातव्यं तृप्तिपर्यन्तं पक्षाहं जाङ्गले वने।।[3]

In marshy land, watering should be restricted to only once in five days. In ordinary soil, watering should be done for ten days every morning and evening, the quantity of water being limited.

सकृदेवाल्पमानूपे सेचनं पञ्चवासरम्।
सायं प्रातस्तथाल्पाल्पं दशाहमुभयात्मके।।[4]

Well rooted plants should be watered every alternate day in winter, every evening in spring, and thrice a day in summer.

सेकश्चिरप्ररूढानां दिवसान्तरितोहिमे।
वसन्ते प्रत्यहं सायं त्रिकालं नित्यमातपे।।[5]

In the rainy season and autumn or when the soil becomes dry, juice of medicinal plants mixed with urine, marrow, and milk should be given.

वर्षाशरदिनोदेयोऽदेयो वा शोषणे वने।
ओषधीफलसंभूतोरसोमूत्रं वसापय:।।[6]

A newly planted tree should be sprinkled every morning and

---

1. Ibid; 2/3
2. Ibid; 2/6
3. Vṛkṣāyurveda-109
4. Ibid; 110
5. Ibid; 111
6. Ibid; 112

evening if it does not rain. It should be supported with sticks etc. fixed close to it so that it is not disturbed by a stormy wind-

अवृष्टिसिक्तस्य नवांघ्रिपस्य संध्याप्रभाते खलु सेचनं स्यात्।
यष्टयादिकं तन्निकटे निषेयं यथा प्रवाते न विचाल्यतेसौ॥[1]

By digging a basin around, it should be watered punctually. A discerning planter should also fill the basin with appropriate, good soil-

निखिन्य चालवालानि समये परिषिंचयेत्।
यथोचितसुमृत्स्नाभिः संपूर्यृथ विचक्षणः॥[2]

When after water is filled in the basin, it does not dry even after being used by the tree after a considerable time. The next watering should not be done again till the water remians. The wise call this condition digestive disorder-

यदालवाले जलपूरिते वै शोषमायाति जलं चयामात्।
तादृग्विधे तत्त्वरया न देयमजीर्णमस्य प्रवदंति धीराः॥[3]

If without sun's heat leaves of tree fall the look frail one should always know that it needs nourishment and should water it-

विनातपं निपत्राणि म्लानानि विटपस्य च।
दृश्यन्ते सर्वदा ज्ञेया क्षुधितस्तं परिसिंचयेत्॥[4]

In rainy season plants should be watered at mid-day. In winter they should be watered in the morning, in the spring season they should be watered in the afternoon, and in summer trees should be watered in the evening-

प्रातश्च वर्षासु दिनस्य मध्ये काले सशीते परिषेचनीयाः।
प्रगेपराहेप्यथवा वसंते ग्रीष्मेथ सायं हि सदांघ्रिपाद्याः॥[5]

One should water the newly planted trees both in morning and evening, and should systematically protect them against cold and strong wind-

सर्वस्यापि नवोप्तस्य सायंप्रातर्निषेचनम्।

---

1. Viśvavallabha-5/1
2. Ibid; 5/2
3. Ibid; 5/3
4. Ibid; 5/4
5. Ibid; 5/5

शीतातपसमीरेभ्यो रक्षेच्च सुविधानतः।।[1]

One should water them every alternate day in autumn and in winter; every day in spring and twice a day during the summer, i.e. once in the morning and once in afternoon-

हेमन्ते शिशिरे देयं जलं चैकान्तरे दिने।
वसन्ते प्रत्यहं ग्रीष्मे सायंप्रातर्निषेचनम्।।[2]

During the rainy autumn seasons when it does not rain one should fill the circular ditch under the tree with water-

वर्षासु च शरत्काले यदा वृष्टिर्न दृश्यते।
तदा देयं जलं तज्ज्ञैरालवाले महीरुहाम्।।[3]

One should go on applying water till the earth attached to the roots of the trees become wet; one should not measure the quantity of water applied to this purpose-

वारिणा यावता यस्य मूले सौहित्यमिष्यते।
तावत्तस्य तरोर्देयं किं घटार्थविवक्षया।।[4]

Trees suffer from indigestion if the water in the ditches is not dried up, hence one should not pour fresh water in it till that is the case-

आलवाले स्थितं तोयं शोषं न भजते यदा।
अजीर्णं तद्विजानीयान्न देयं तादृशे जलम्।।[5]

It is *Āṣāḍha* or *Śrāvaṇa* that wise farmers construct small bunds for retaining water-

आषाढे श्रावणे मासि धान्यमाकट्टयेब्बुधः।[6]

If rains are scanty, an attentive farmer constructs these bunds in the sign of Cancer itself. It is done in *Bhādrapada*, the crop is reduced to half the quantity but if done *Āśvina* there is no hope of returns whatsoever-

कर्कटे कट्टयेद्धान्यमवृष्टौ कृषितत्परः।

---

1. Upavana Vinoda-8/71
2. Ibid; 7/72
3. Ibid; 7/73
4. Ibid; 7/74
5. Ibid; 7/75
6. Ibid; 1/186

भाद्रे चार्द्धफलप्राप्तिः फलाशा नैव चाश्विने।।[1]

What hope of harvest can foolish farmer have who has not made arrangements for preserving water for the crop during *Āśvin* and *Kārtika*-

आश्विने कार्तिके चैव धान्यस्य जलरक्षणम्।
न कृतं येन मूर्खेण तस्य च सस्यवासना।।[2]

As one takes care of women in the family in order to safeguard the purity of the family so a farmer should take care to collect and preserve water at the advent of *Śarat* season-

यथा कुलार्थी कुरुते कुलस्त्रीपरिरक्षणम्।
तथा संरक्षयेद् वारि शरत्काले समागते।।[3]

Going by the above-mentioned facts, it is loud and clear that thoughts for irrigation were in quite developed stage. Stakeholders had not only developed technology for improving irrigation system but also worked on rain harvesting system, which is even talked by modern day scientists and policy makers.

✦✦✦

1. Ibid; 1/87
2. Kṛṣi Parāśara-1/196
3. Ibid; 1/197

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

'आजादचरितम्' महाकाव्य में चन्द्रशेखर 'आजाद' का नायकत्व

रवि कुमार

शोधच्छात्रः, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
मानितविश्वविद्यालय, नई दिल्ली

सभ्यता के प्रादुर्भाव, पाँच हजार वर्षों[1] से आज तक मानव निरन्तर प्रगतिशील रहा है। उसने अपने आप का, समाज का, देश का अत्यधिक विकास किया। विकास के रास्ते में अनेक महापुरुषों, महान व्यक्तित्त्वों का योगदान रहा, जिन्होंने अपने योगदान के द्वारा अपने समाज और राष्ट्र को हमेशा से ही अभि-सिञ्चित किया। इसके लिए उन्होंने अपने आपकी परवाह नहीं की। राष्ट्र के लिए, जरूरत पड़ने पर अपने प्राणों को न्योछावर करने में भी कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। उन वीरों की याद में कविकुल ने भी अपनी लेखनी चलाई। लेखनी के द्वारा उनको अमर कर दिया। उन जैसे बनने के लिए देश के जन मानस को प्रेरित किया। इन्हीं काव्यों की शृङ्खला में एक अप्रतिम, काव्यजगत में ध्रुवतारे के सामन जगमगाता 'आजादचरितम्' महाकाव्य है, जो कि डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' द्वारा रचित है। यह महाकाव्य ग्यारह खण्डों में निबद्ध है। इसके नायक भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के महानायक पं. चन्द्रशेखर 'आजाद' हैं। इस काव्य में वैदर्भी रीति का प्रयोग किया गया है। इसमें प्रसाद गुण सर्वत्र विद्यमान है। इसमें इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, अनुष्टुप् व मन्दाक्रान्ता छन्दों का प्रयोग हुआ है। प्रकृति की छटा मनोरम है। प्रकृति का मानवीकरण अत्यन्त सूक्ष्म रूप में किया गया है। अलंकारों की छटा सर्वत्र बिखरी पड़ी है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, यमक इत्यादि अलंकार इस काव्य को सुशोभित करते हैं। प्रसंगानुकूल रसों का सुन्दर परिपाक दिखाई पड़ता है। वीर रस अङ्गीरस है। करुण, शान्त, शृंगार, रौद्र इत्यादि रस गौण हैं। सम्पूर्ण काव्य में कवि की बिम्बयोजना अत्यन्त सजीव व चित्ताकर्षक है।

---

1. कपिलदेव द्विवेदी आचार्य 'संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' रामनारायणलाल विजयकुमार, इलाहाबाद, 2013 पृष्ठ सं. 1

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ (1350 ई.)[1] ने साहित्यदर्पण में महाकाव्य के लक्षणों का विवेचन करते हुए महाकाव्य के नायक के लक्षणों का भी वर्णन किया है-

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः॥315॥

सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः[2]।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा[3]॥316॥ (सा.दर्प.परि. 6)

चन्द्रशेखर 'आजाद' सद्वंश में उत्पन्न जन्मना ब्राह्मण[4] तथा कर्मणा क्षत्रिय थे। उनके पिता सीताराम[5] व माता जगरानी[6] थीं। चन्द्रशेखर 'आजाद' धीरोदात्त गुणों से समन्वित थे। दशरूपककार धनञ्जय (दशवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध)[7] ने नायक के लक्षणों की चर्चा करते हुए धीरोदात्त नायक के लक्षणों को इस प्रकार कहते हैं[8]-

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः॥2.4॥ दशरूपक द्वि.प्रकाश

उत्कृष्ट अन्तःकरण (सत्त्व) बाला, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, आत्मश्लाघा न करने वाला, स्थिर, अहंभाव को दबाकर रखने वाला दृढ़व्रती नायक धीरोदात्त कहलाता है।

---

1. कपिलदेव द्विवेदी आचार्य 'संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास' रामनारायणलाल विजयकुमार, इलाहाबाद, 2013
2. साहित्य दर्पण, परिच्छेद-6
3. साहित्य दर्पण, परिच्छेद-6
4. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितममहाकाव्य' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, जन्मखण्ड, पद्य संख्या-22
5. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, जन्मखण्ड, पद्य सं.-71
6. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, जन्मखण्ड, पद्य सं.-73
7. डॉ. श्रीनिवास शास्त्री 'दशरूपकम् की भूमिका' साहित्य भण्डार त्रयोदशः संस्करण, पृष्ठ संख्या-12
8. दशरूपकम, डॉ. श्रीनिवास शास्त्री, त्रयोदश संस्करण 'साहित्य भण्डार', मेरठ, द्वितीय प्रकाश, कारिका सं.-4

महासत्त्व का अर्थ है-जिसका अन्तःकरण शोक, क्रोध आदि से अभिभूत नहीं होता। चन्द्रशेखर आजाद का अन्तःकरण शोक आदि से व्याप्त नहीं होता[1]-

वर्चस्ववित्तं परिवर्धनीय-
मुत्साह धैर्यं बलवीर्यसत्त्वम्।
तदस्तु नः साधनसम्पदेव
लप्स्यामहे तेन बलेन सर्वम्॥

यहाँ तक कि जङ्घा में एक बाबर नाट के बन्दूक की गोली लग जाने पर भी वह वीर वृक्ष की आड़ होकर फिर से मोर्चा संभाल लिया[2]-

पराक्रमोत्सो मृगराजसत्त्वः,
स साहसौघो विहगेशकल्पः।
संसर्प्य सद्यो रुधिरोक्षितोऽपि,
वृक्षावलम्बं कृतवान् सधीरः॥11.112॥

चन्द्रशेखर 'आजाद' अत्यन्त गंभीर प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं। वे सत्यपथ पर अडिग रहने वाले हैं। सत्कर्मों में प्रवृत्त उसी प्रकार दुष्कृत्यों से दूर रहने वाले हैं[3]-

क्रीडाम्यहं साहसकन्दुकेन
वसामि देशे विचरामि देशे।
निद्रां हरिष्ये हि खलांगलानां
सैव प्रवासं न कदापिबन्धो॥

चन्द्रशेखर क्षमावान थे। वे गलती करने वाले को क्षमा प्रदान करते थे। सरकारी खजाने के लूटते समय उन्होंने उन आरक्षियों की हत्या नहीं की, जिन्होंने उनका विरोध नहीं किया तथा यात्रियों के धन को भी हाथ नहीं लगाया[4]-

ते क्रान्तिवीराः कृतवन्त एव-
मुच्चैस्स्वरैर्घोषमखण्डमत्र।

---

1. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, काकोरीखण्डम्, पद्य सं.-28
2. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, बलिदानखण्ड, पद्य संख्या-112
3. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, बलिदानखण्डम्, पद्य सं.-57
4. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, काकोरीखण्डम्, पद्य संख्या-63

कार्यं न चाल्पं भयमत्रदेशे
भो यात्रिणो भारतवासिनस्तु॥

अविकत्थन का अर्थ होता है, अपनी प्रशंसा न करने वाला। आजाद अपने मुँह से कभी भी अपनी प्रशंसा नहीं करते थे। जबकि उनके अन्दर अनेक मानवीय गुण विद्यमान थे। जितना आन्तरिक गुण सद्गुणों से युक्त था उतना बाह्य व्यक्तित्व भी चित्ताकर्षक तथा मनोज्ञ था। संन्यासी रूप में आए हुए चन्द्रशेखर की तुलना कामदेव से की जाती है[1]–

पीठे वसन्तं शशिशेखरं तं
मेने मनोजं तु तपश्चरन्तम्।
दान्तं प्रशान्तं कमनीयरूपं
लोको ववन्देऽति समादरेण॥

आजाद के व्यक्तित्व में स्थिरता का गुण विद्यमान है। वे विपत्ति आ जाने पर विचलित नहीं होते हैं। बल्कि मजबूती के साथ उनसे लोहा लेते हैं[2]–

जानन्ति तथ्यं प्रथितं भवन्तः
स्वभाव एवं सुमनस्विनाञ्च।
विघ्नैः प्रभूतैः प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य कार्यं विरमन्ति चैवम्॥

निगूढाहङ्कार का अर्थ होता है कि उसका गर्व (अवलेप) नम्रता से छिपा रहता है। आजाद का मानना था कि जो पुरुष उत्साहयुक्त निगूढाहङ्कार होकर अपना कर्म करता है, ऐसे वीरों का लक्ष्मी खुद ही वरण करती है[3]–

श्रुतं मयैतद् गुरुवाक्यमेवं
शूरं कृतज्ञं बलिनं विधिज्ञम्।
उत्साहयुक्त व्यसनेष्वसक्तं
वृणोति लक्ष्मीः स्वयमेव गत्वा॥

दृढ़व्रत वह होता है जो स्वीकृत बात का निर्वाह करता है। जिस प्रकार

---

1. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, यतिखण्डम्, पद्य सं. 49
2. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, काकोरीखण्डम्, पद्य संख्या-21
3. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, काकोरीखण्डम्, पद्य संख्या-29

महाभारत युग में भीष्म प्रतिज्ञा प्रसिद्ध थी। ठीक उसी प्रकार आधुनिक युग में आजाद प्रतिज्ञा प्रसिद्ध है। उन्होंने जो प्रतिज्ञा ली उसे पूरा कर दिखाया[1]–

शपे च देशस्य हि गौरवेण
स्वतंत्र एव निवसामि देशे।
आजाद नामापि करोमि सार्थं
प्राणान् स्वदेशाय समर्पयामि॥

धीरोदात्त नायक के गुणों के साथ-साथ उनमें नायक के सामान्य गुण भी विद्यमान हैं। दशरूपककार ने दशरूपकम् में इसकी विस्तृत चर्चा की है। दश-रूपकम् के द्वितीय प्रकाश के आदि में ही चर्चा करते हैं[2]–

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा॥1॥

बद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥2॥

अर्थात् नायक विनीत, मधुर, त्यागी, चतुर, प्रिय बोलने वाला, लोकप्रिय, पवित्र, वाक्पटु, प्रसिद्ध वंशवाला, स्थिर, युवक, बुद्धि-उत्साह-स्मृति-प्रज्ञा कला तथा मान से युक्त, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रों का ज्ञाता और धार्मिक होता है।

चन्द्रशेखर 'आजाद' में ये सभी गुण अपने उदात्त स्वरूपों में विराजमान हो रहे हैं।

चन्द्रशेखर 'आजाद' अत्यन्त विनम्र थे। वे गुरुजनों का अत्यन्त आदर करते थे। काशीपुरी में शिक्षार्थ अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् उन दोनों को प्रणाम करके भगवान विश्वनाथ की नगरी काशी के लिए प्रयाण करते हैं[3]–

प्राप्तानुदेशः पितरौ प्रणम्य
संप्रस्थितः शम्भुपुरीमघघ्नीम्।
काशीशरूपो विभुविश्वनाथः
सदाशुतोषो रमते हि यत्र॥

---

1. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, आह्वानखण्ड, श्लोक संख्या-66
2. दशरूपकम् साहित्य भण्डार, मेरठ, प्रथम व द्वितीय कारिका, द्वितीय प्रकाश।
3. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, प्रेरणाखण्डम्-51

चन्द्रशेखर 'आजाद' में माधुर्यता विद्यमान है। वे प्रियदर्शी हैं। देशवासी उन्हें अपने हृदय में स्थान देते हैं। उनको परमप्रियभाव से ऐसे देख रहे हैं जैसे चकोर-वृन्द शर्वरीश चन्द्रमा को देखते हैं[1]-

तमागतं शेखरमुन्नताङ्गं
विलोक्य सर्वे परमोत्सुकास्ते।
नेत्रैः पिबन्तः परिवार्य तस्थुः
यथा चकोराः शशिशर्वरीशम्॥

त्याग की भावना चन्द्रशेखर में कूट-कूट कर भरी हुई है। उन्होंने अपना सर्वस्व देश के ऊपर बलिदान कर दिया। चाहे वो अपना यौवन हो, या फिर अपने गृह का परित्याग हो; देश की आजादी के लिए अपना सर्वस्व त्याग करके त्यागियों में अग्रगण्य हो गए[2]-

निर्वासितं साधनहीनरामं
पश्यन्तु वीरं वनवासिनं तम्।
सार्धं निरस्त्रैः कपियूथकैश्च
महार्णवे यश्च वबन्ध सेतुम्॥

दक्ष का अर्थ है-किसी कार्य को कुशलतापूर्वक शीघ्र करने वाला। चन्द्रशेखर 'आजाद' के अन्दर दक्षता विद्यमान है। उनका निशाना अचूक है। विसेसर नामक अंग्रेजों का पिट्ठू अधिकारी ने जब गालियाँ बकते हुए गोलियाँ चलाई तब आजाद ने गोली चलाकर उसके मुँह हो ही उड़ा दिया[3]-

संकथ्य चैवं स च लक्ष्यदक्षो
लक्ष्यच्युतस्यैव विसेसरस्य।
चकार लक्ष्यं दृढ़ दीर्घवक्षा-
स्तच्चाटुदक्षस्य मुखप्रदेशम्॥

प्रियंवद का अर्थ होता है-प्रिय बोलने वाला। चन्द्रशेखर आजाद सज्जनों व

---

1. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, आह्वानखण्ड, पद्य संख्या-13
2. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, काकोरीखण्डम्, पद्य संख्या-22
3. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, बलिदानखण्डम्, पद्य संख्या-104

गुरुजनों से प्रिय बोलते हैं। उनकी वाणी से जनसमुदाय प्रहलादित हुए बिना नहीं रह सकते[1]–

उवाच चैवं प्रणिपत्य भूमौ
देवापगे भो भवमौलिमाले।
ब्रह्मद्रवे पावनसर्वकाले
नमामि गङ्गे हिम शैलबाले॥

रक्तलोकः का अर्थ होता है लोकप्रिय। चन्द्रशेखर 'आजाद' लोक में अत्यन्त प्रिय हैं। उनके शौर्य, पराक्रम, साहस, बुद्धिमानी, इत्यादि गुण लोगों द्वारा अत्यन्त प्रशंसित हैं। लोग उन्हें देखने के लिए लालायित रहते हैं। उनकी उपस्थिति में अपने आपको सुरक्षित महसूस करते थे। उनके ओज, तेज, पराक्रम और महिमा का विपुल विस्तार देखकर जनसमूह उन्हें शिव का अवतार मानता है[2]–

रूपं महान्तं महिमानेवं
स्वतेजसादीपितदिव्य देहम्।
विलोक्यकृत्यं कथयन्ति सर्वे
शिवावतारः खलु बालकोऽयम्॥

शुचिः का अर्थ है मन की पवित्रता। मन की पवित्रता के द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि दुर्गुणों से अभिभूत न होना शौच कहलाता है। चन्द्रशेखर 'आजाद' का मन परस्त्री में कभी रत नहीं रहता। इन दुर्गुणों से वे हमेशा दूर रहते हैं। लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि दुर्गुण उन्हें छू भी नहीं पाए है। वे कभी निरर्थक क्रोध नहीं करते हैं। उनमें संयम, सत्त्व, शील के द्वारा दिव्यता संचरित हो गई है। उनके अन्दर सत्यपवित्रभाव का संचार हुआ[3]–

पूजार्चनाभिनियमैर्व्रतैश्च
शुश्रूषया संयमसत्त्वशीलैः
सञ्चारयन् सत्यपवित्रभावं
लोकप्रियोऽभूत्तु गुरुप्रियः सः॥

---

1. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, प्रेरणाखण्डम्, पद्य संख्या–57
2. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, आह्वानखण्डम्, पद्य संख्या–29
3. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, यतिखण्डम्, पद्य संख्या–50

वाग्मी का अर्थ है वाक्कुशल। चन्द्रशेखर 'आजाद' वाग्मी के गुणों से परिपूर्ण हैं। उनसे वार्तालाप करके कोई भी जन मुग्ध हुए बिना नहीं रह पाता। कारागार से छूटने पर जनसमुदाय ने उनका स्वागत-सम्मान किया। तब वह सम्मान नतमस्तक हो जन यूथ के सामने कर जोड़कर कहने लगे कि आपने मेरा नहीं बल्कि बलिदान भाव का स्वागत-सम्मान किया है और ऐसा करके उदारता के परिवर्षण के द्वारा बलिदान पथ को विस्तृत किया है[1]-

सुस्वागतेन प्रबलेन चैवं
कृतः कृतज्ञो बलिदान भावः।
कृतः प्रशस्तो बलिदानमार्गः
उदारतायाः परिवर्षणेन॥

रूढ़वंश का अर्थ होता है उच्चकुल में उत्पन्न हुआ। चन्द्रशेखर 'आजाद' उच्च ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए। उनके माता-पिता दोनों परम सदाचारी थे। वे दिव्य गुणों से सम्पन्न थे। वे ब्राह्मण कुलभूषण गुणाग्रणी, धर्मध्वज, उत्तमव्रतधारी थे[2]-

तस्मिन्नेव महद्ग्रामे दम्पती विप्रवंशजौ।
अग्रजन्माग्रगण्यौ तौ स्वगृहे सुस्थितौ सदा॥

स्थिर का अर्थ है, वाणी, मन तथा कार्य से चञ्चल न होना। किसी भी परिस्थितियों में आजाद स्वतंत्रता के पथ से विचलित नहीं हुए। क्रान्तिपथ की यात्रा में धनाभाव पर्वत की तरह खड़ा हो गया। परन्तु आजाद अडिग थे। उनका कहना है कि कितनी भी बड़ी बाधाएँ क्यों न हों; वे दृढ़ निश्चय के समक्ष झुक जाती हैं[3]-

सरीसृपाणामहिवृश्चिकानां
चतुष्पदानां वृककेहरीणाम्।
रोधाः समस्ताविनता भवन्ति
सन्निश्चयाग्रे दृढ़निश्चयानाम्॥

---

1. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, आह्वानखण्डम्, पद्य संख्या-34
2. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, जन्मखण्डम्, पद्य संख्या-22
3. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, यतिखण्डम्, पद्य संख्या-82

चन्द्रशेखर आजाद युवा क्रान्तिकारी हैं उनके अन्दर युवाओं के उत्कृष्ट गुण विद्यमान हैं[1]–

विशालभालं नयनारविन्दं
करालदंष्ट्रं मृगराजसत्त्वम्।
उरः स्थलं प्रोन्नतमायतं त–
मुच्छूनपृष्ठं ददृशुश्च सर्वे॥

बुद्धि का अर्थ है ज्ञान, किसी वस्तु को जानना। चन्द्रशेखर 'आजाद' बुद्धिमत्ता से युक्त हैं। वे विद्या–बल, बुद्धि, प्रतिष्ठा में परम् उत्कृष्ट हैं। वे शास्त्र और शस्त्र दोनों में पारंगत हैं[2]–

विद्याबले बुद्धिबले वरिष्ठां
प्राप्तां प्रतिष्ठां परितः प्रकृष्यम्।
शस्त्रे तथा शास्त्रबले विशिष्टां
विलोक्य शिष्टां मुमुदे स शिष्टः॥

गृहीत ज्ञान में विशेषता उत्पन्न करने वाली प्रज्ञा कहलाती है। चन्द्रशेखर 'आजाद' प्रज्ञावान हैं। बचपन में उनकी माता जब कहानियाँ सुनातीं। तब उन कहानियों के उल्लिखित चरित परशुधर, राम, बलराम, भीम, अर्जुन, हनुमान, राण प्रताप इत्यादि का रुचिपूर्ण मनोहर अभिनय करते थे[3]–

क्रीडासु लीलासमयेषु बालो
हनूमतः पार्थवृकोदराणाम्।
तेषां चरित्राभिनयं चकार
रामत्रयाणां सुभयग्रणीनाम्॥

चन्द्रशेखर आजाद कलाओं में निष्णात थे। वे मध्यप्रदेश के भावरा नामक ग्राम में माता–पिता के साथ रहने लगे। वहीं पर उन्होंने भील बालकों से निशाना लगाना सीखा और वे निशानेबाजी में महारथी बन गए[4]–

---

1. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, आह्वानखण्डम्, पद्य संख्या–11
2. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, प्रेरणाखण्डम्, पद्य संख्या–81
3. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, बालखण्डम्, पद्य संख्या–14
4. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, अरण्यखण्डम्, पद्य संख्या–32

विन्ध्याटवी तां सुखदां विलोक्य
तपोधनैः सेवित सिद्धभूमिम्।
चिक्रीड भिल्लार्भकवृन्दकैः स
सन्धानशक्त्या समलङ्कृतोऽभूत्॥

चन्द्रशेखर 'आजाद' मानी पुरुष हैं। उन्हें स्वाभिमान अपने प्राणों से भी अधिक प्यारा है। अंग्रेजी राज में दासता से युक्त जीवन उन्हें पसन्द नहीं है। वे अन्याय नहीं सह सकते[1]-

संसह्य यो जाल्मकरप्रहारं
दृष्टः प्रशान्तः प्रतिशोधशून्यः।
वरं हि तस्मात् पथतुच्छधूलिः
शीर्षं समारोहति ताडकस्य॥

चन्द्रशेखर 'आजाद' में दृढ़ता विद्यमान है। वे अंग्रेजों को भगाने के लिए दृढ़तापूर्वक आजीवन लड़ते रहे। उनका दृढ़ संकल्प फौलाद के समान है[2]-

यस्मिन्न लोके दृढ़तायसीव
क्लीबश्च यो दुर्बलजातसत्त्वः।
यथानलो यो नहि दाहकोऽस्ति
शवेन तुल्यः स हि जीवितोऽपि॥

चन्द्रशेखर 'आजाद' तेजस्वी व्यक्तित्व से युक्त हैं। उनके अन्दर से तेजस्विता की किरणें स्वतः प्रस्फुटित होती हैं। बालपन में ही तेजस्विता के दर्शन होते हैं[3]-

संवर्धमाने सुशिशोः शरीरे
विवेश वीर्यं बलशक्तिशौर्यम्।
येनौजसा पूरित देहयष्टि-
र्दधार पुष्टिं प्रबलं बलञ्च॥

चन्द्रशेखर 'आजाद' पराक्रम गुण से सर्वथा युक्त हैं। जब अंग्रेजों के

---

1. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, बालखण्डम्, पद्य संख्या-84
2. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, बालखण्डम्, पद्य संख्या-82
3. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, बालखण्डम्, पद्य संख्या-6

आरक्षी दल आजाद को घेरकर गोलियाँ बरसा रहे थे। तभी आजाद के द्वारा अचूक निशाना लगा कर गोलियाँ दागी जाने लगीं। सैनिक मरने लगे, उन्हें देखकर और सैनिक अधीर होकर भागने लगे[1]–

संकथ्य चैवं स ववर्ष घोरं
भुशुण्डिमेघाद् गुलिकाग्निनीरम्।
भस्मीकृतं घोरमरातिवृन्दं
बभूव विद्रावणमेव शत्रौ।।

पं. चन्द्रशेखर 'आजाद' शास्त्रों के ज्ञाता हैं। प्रारम्भिक शिक्षा ग्राम के पाठशाला में पूरा करने के पश्चात् वे शास्त्रों के अध्ययन हेतु काशी गए[2]–

विद्याकलाकौशलकेन्द्ररूपं
गीर्वाणभाषाधुरमुद्वहन्तम्।
वृत्वा स विज्ञः प्रविवेश तस्मिन्
विद्यालये काशिकराजकीये।।

वे शास्त्रों के गूढ़ रहस्यों के ज्ञाता व मर्मज्ञ थे। उन्हें साधना प्रक्रिया का भी ज्ञान है।

चन्द्रशेखर 'आजाद' धार्मिक प्रवृत्ति के हैं। वे देवी-देवताओं की उपासना किया करते हैं। उन्हें गङ्गा माता व विश्वेश्वर शिव से अत्यधिक लगाव रहा है। वे गङ्गा माँ को देखते ही श्रद्धा भाव होकर नमन करते हैं[3]–

श्रद्धाभिभूतः स ननाम दूराद्
दीर्घाम्बके पूरितमम्बुकोशम्।
भावाभिभूतो मुमुदे प्रभूतो
भागीरथीं विष्णुपदीं विलोक्य।।

इस प्रकार स्पष्ट है, चन्द्रशेखर आजाद उत्कृष्ट अन्तःकरण वाले, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, आत्मश्लाघा न करने वाले, स्थिर, अहंभाव को दबाकर रखने वाले दृढ़व्रती धीरोदात्त नायक हैं। इसके अतिरिक्त वे विनीत, मधुर, त्यागी, चतुर,

---

1. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, बलिदानखण्डम्, पद्य संख्या-122
2. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, प्ररेणाखण्डम्, पद्य संख्या-83
3. डॉ. देवी सहाय पाण्डेय 'दीप' 'आजादचरितम्' साधना प्रकाशन, अयोध्या, प्रथम संस्करण, 2001, प्रेरणाखण्डम, पद्य संख्या-55

प्रिय बोलने वाले, लोकप्रिय, पवित्र, वाक्पटु, प्रसिद्धवंश वाले, स्थिर, युवक, बुद्धि-उत्साह-स्मृति-प्रज्ञा-कला तथा मान से युक्त, दृढ़, तेजस्वी, पराक्रमी, शास्त्रों के ज्ञाता तथा धार्मिक हैं। 'आजादचरितम्' महाकाव्य में इन गुणों के साथ उनके नायकत्व की पुष्टि हुई और वे हमारे सामने धीरोदात्त नायक के रूप में प्रकट होते हैं।

✦✦✦

शङ्कराचार्यस्य अद्वैतदर्शने जीवन्मुक्तिः

रविः, शोधच्छात्रः

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, नवदेहली

जीवन्मुक्तः सत्यस्य सः सूर्यम् अस्ति, येन सम्पर्केन एवं सान्निध्येन अज्ञानरूपी अंधकारं विलीनं भवति। अविद्या निवृत्तिरेव मुक्तिः सा स्थिति-र्ब्रह्मात्मैक्यबुद्ध्या सम्पद्यते स मुक्तिः प्राप्तस्य प्राप्तिर्नवीन प्राप्तिर्नास्ति।

यथा कण्ठमणेर्विनष्ट विभ्रमेसति, भवतः कण्ठेऽस्तिहार इत्युपदिष्टे वस्तुतः पूर्वत एव कण्ठस्थस्य सतः प्राप्तिः प्राप्तिस्यैव प्राप्तिर्भवति, नवीना प्राप्तिर्नास्ति, इत्थमेवाद्वैतानुसारेण मुक्तिरपि तादृशीति बोद्धव्यम्। मुक्तिरस्मिन्यते नोत्पाद्या न वा संस्कार्या। तथा स्वीकृतेऽनित्या मुक्तिर्भवेत्।[1]

शंकराचार्यस्य अद्वैतदर्शने जीवन्मुक्तिः विचारः गम्भीरः वर्तते। अद्वैतवेदान्ते जीवन्मुक्तिविषये, विदेहमुक्तिविषये विचारोऽभुत्। गीतायां ब्राह्मीस्थितिरित्युक्त्वा जीवन्मुक्तिराख्याता। तत्समर्थनं श्रीमद्भगवत्पादेनापि कृतमस्ति। विदेहमुक्ति-र्ब्रह्मनिर्वाणरूपेण चर्चितास्ति। इत्थमाचार्यशङ्करभगवत्पादेन विदेहकैवल्यजीवन्मुक्तिः रूपयोः समयोरपि मुक्त्योः समर्थनं कृतमभुत्।[2]

स्थितप्रज्ञस्य स्थितिरपि जीवन्मुक्तिः अवस्थैवास्ति यद्वर्णनं गीतायां निहितमस्ति।[3]

अद्वैतसिद्धिकारेण मुक्तपुरुषस्यानन्दप्राप्तिर्वर्णितास्ति। अद्वैतिनः सुखं दुःखाभावरूपं न मन्यन्ते। तदनुसारेण सुखं स्वस्मिन् सत्त्वरूपोऽस्ति। दुःखाभावरूपे स्वीकृते बौद्धानां निर्वाणरूपा भवेत्।[4]

सदानन्दयतिना वेदान्तसारे, धर्मराजा ध्वरीणेन वेदान्तपरिभाषायां जीवन्मुक्ति समर्थनं विहितमस्ति। जीवन्मुक्तिं तात्पर्यम् अस्ति यत् यस्मिन् क्षणे जीवः ब्रह्मज्ञान प्राप्तुं करोति सः तस्मिन् क्षणे मुक्तिं प्राप्नोति। किन्तु जीवन्मुक्त्याः देहस्य अस्तित्वं

---

1. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, पृ. 125
2. एषा ब्राह्मी स्थितिपार्थः। ..... ब्रह्मनिर्वाणमृच्चति, गीता 2.72 शांकरभाष्यम्
3. गीता, 2.56
4. अद्वैतसिद्धिः, पृ. 888-890

भवति। एषः स्थिति तदा भवति यदा मनुष्य चित्तस्य कर्तृत्वं, भोक्तृत्वं सुखित्व दुखित्वादि अखण्डब्रह्मेण सह आत्मभिन्नतायाः ज्ञानं प्राप्नोति।

जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्ड ब्रह्मणि साक्षात्कृतेऽज्ञान तत्कार्यसंचितकर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधित्वादखिल-बन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः।[1]

अद्वैतसिद्धिकारेण स्वग्रन्थेः जीवन्मुक्तेः समर्थनं कृतमस्ति। तैरुक्तं तत्त्वज्ञानेना-विद्यायां निवृत्तायाम् अपि पूर्वसंस्काररूपकारणावेशात् मुक्तपुरुषस्य शरीरावस्था यदावदवस्थिता तिष्ठति। यदा दण्डभ्रमणनिमृत्तावपि कुम्भकारचक्रं किञ्चित्कालं यावत् भ्रमद् भवति, एवं यथा सर्पभ्रमनिवृत्तावपि, किञ्चित्काल यावत् सर्पभय-कम्पाद्यनुवर्तते, तथैव मुक्तात्मापि यावत्प्रारब्ध समाप्ति स्वशरीरधारणं करोति।[2]

श्रीशंकरभगवत्पादेन 4.3.7 श्लोकस्य व्याख्यायामुक्तं यत्तत्वज्ञाने सति तत्तत्वज्ञानाग्निः प्रारब्धकर्म परित्यज्यानारब्धफलानि सर्वाणि कर्माणि भस्मसात्करोति। यानि तु कर्माणि फलभोगाय प्रवृत्तानि, तानि तु फलभोगाय प्रवृत्तानि, तानि तु फलभोगद्वारैव समाप्तिं यन्ति।[3]

इत्थञ्च जीवन्मुक्तोऽपि चाशरीरपातं प्रारब्धकर्मबलेन शरीरधारणं करोति, किन्तु स्वयं ब्रह्मानन्दमनुभवति। प्रारब्धकर्मशान्ते तु विदेह कैवल्यमश्नुते। एवञ्च शङ्करभगवत्पादाः जीवन्मुक्ति सिद्धान्तं न मन्यन्ते। तदनुसारेण पूर्णज्ञाने सत्यज्ञानं प्रणश्यति, तथा ज्ञानमन्तरा शरीरधारणमसम्भवस्ति। तथा सति शरीरपाते सति विदेह कैवल्यमेव भवति। यत्र च ज्ञानोदयेऽपि सति, शरीरं तिष्ठति तत्र पूर्णज्ञानाभाव एव मन्तुं योग्यः ज्ञानोदयेऽपि तदपरिपक्वे च, कुम्भकारभ्रमिक्रिया कर्तृत्वाभावेऽपि चक्रभ्रमिवच्छरीरं कियत्कालमवतिष्ठते। इयमेव कैश्चिज्जीवन मुक्तिरुच्यते।[4]

श्रीमण्डनमिश्रा नेयं जीवनमुक्तिरपितु साधकस्योन्नतामवस्थां वदन्ति। स्थितप्रज्ञतापि साधकस्योन्नतावस्यैव वर्तते। विचारे सति, श्रीमण्डनमिश्रमते न्याचार्यमते स्वीकृतस्य मुक्तिस्थितेः भूयानन्तरोनास्ति। जीवन्मुक्तिश्चेदुन्नतावस्था वेद्या स्यात् किम्वा जीवन्मुक्तिरेव भवेत्। सा च विदेहमुक्तेः पूर्णावस्था। विदेहकैवल्यं शरीर-पातान्तरञ्जायते, एवमेव जीवन्मुक्तिदशायामपि शरीराध्यासे निवृत्तेमुक्तः पुरुषः विदेहभावमाप्नोति। जीवन्मुक्तिदशायां केषाञ्चिताचार्याणां मतेनाविद्यालेशोऽवतिष्ठते, येन च जीवन्मुक्तशरीरं तिष्ठदेव वर्तते। यथाचलसुनगन्धिपात्रं सुप्रक्षालितमपि कियत्कालं यावत्तदगन्धवत्तिष्ठति,

---

1. सदानन्दः वेदान्तसारः, पृ. 265
2. अद्वैतसिद्धिः, पृ. 890
3. शं.भा. 4.37, ब्र. सु. 4.1.15, 4.116
4. ब्रह्मसिद्धिः, पृ. 131-132

तथैव अविद्याक्लेशः शिष्यति। किन्तु सर्वज्ञात्ममुनिमतेन तत्त्वज्ञाने सति सर्वात्मनाऽविद्या विनश्यति, यतोहि ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधः सहजोऽस्ति, अतः उभये सहस्थिति न लभेत। तन्मते जीवन्मुक्तिपरशास्त्राणि अर्थवादवचनानि स्युः।[1]

ब्रह्मसिद्धिकाराः अविद्यानिवृत्तिमात्मस्वरूपां विन्दति। श्रीमहानन्दबोधाचार्योऽविद्या निवृत्तिर्न सत्, नासत्, नोभयम्, नानुभयमिति पञ्चप्रकारां जानाति। कतिपये चा विद्यानिवृत्तिरविद्यावद निर्वचनीयेति प्रतिपादयन्ति। वस्तुतस्त्वद्वैतमतेरभावोऽधिकरण स्वरूपोऽस्ति। अतोऽविद्यानिवृत्तिरपि ब्रह्मस्वरूपा, श्रीमण्डनमिश्रस्य मतं सुन्दरं भाति। एवं स्वीकृते पूर्णाद्वैतवादे काचिद्विसङ्गतिर्नानुभूयते। ये चाविद्यानिवृत्तिमनिर्वचनोचाभि-लषन्ति, तन्मतेऽपि अनिर्वचनीया विद्यानिवृत्तिरपि वस्तुतो ब्रह्मस्वरूपा ब्रह्माभिन्नैवाभवत्।[2]

आचार्यमण्डनमते ज्ञानोदये सत्यपि तत्काले एव मुक्तिर्नभवति, किन्तु आरब्धकार्यकर्म क्षयानन्तरं देहपातानन्तरं मुक्तिर्भवति। ब्रह्मवेदनानन्तरं देहपातावधौ तस्य ब्रह्मविदोऽवस्था जीवन्मुक्तिरित्यभिधीयते। ब्रह्मज्ञाने जाते सर्वाणि कर्माणि क्षीयन्ते केवलं संस्कारवशादेव शरीरस्थितिब्रह्मविद इत्याचार्य मण्डनः प्रारब्धकर्मणः क्षयो न भवतीति भगवानशङ्करः। आचार्यमण्डनमते न च ब्रुमः ब्रह्मवेनानन्तर एव देहवियोगः, किन्तु आरब्धकार्यकर्मक्षयं भोगेन प्रतीक्षते। तत्र कस्यचित् तत्कालोऽपवर्गः, कस्यचित् कियांश्चित् क्षेपः, यथा रज्जवां सर्पसमारोपसमुत्थ मयजन्मानो वेपथुप्रभृतयस्तत्त्वदर्शनादपावृते भये कस्यचितदैव निवर्तन्ते, कस्यचित् कियन्तचित् कालमनुवर्तन्ते, तत्संस्कारात्, तथा सर्वकर्मक्षयेऽपि भुज्यमानविपाकसंस्कारानुवृतिनिबन्धना शरीरस्थितिः, कुलालव्यापारविगम इव चक्रभान्तिः। अतोऽस्मिन् मते ज्ञानान्तरमारब्ध-कर्माणि क्षीयन्ते किन्तु तेषां संस्कारादेव देहस्थितिर्भवत्या मुक्तेः।

अतोऽस्मिन् मते ज्ञानान्तरमारब्धकर्माणि क्षीयन्ते किन्तु तेषां संस्कारादेव देहस्थितिर्भवत्यामुक्तेः।

भगवत्शंकराचार्यस्य मते तु आरब्धकर्मणः क्षय एव न भवति इदं मतमुत्थाप्य श्रीमण्डनेन खण्डितम्। यथा हि-

ये तु मन्यते - प्रवृत्तभोगानां कर्मणां प्रवृत्तवेगस्येषोरिव चक्रस्येव वा न प्रतिबन्धः शक्यः, अतो भोगेन क्षय प्रतीक्षेति। तदसत्, शक्यो हीषुः प्रतिबद्धुं कुड्यादिभिः, नाशयितुं च च्छोदिभिः। स्वप्नादि सुचितोपस्थितविपाकवर्तमानदेहभोग्य-कर्मक्षयार्थानि च शान्तिकानि कर्माणि। तस्मात् संस्कारादेव स्थितिः। अत्र शङ्खपाणिराह यदिदं मतं भगवत्पादश्रीशंकरस्य। भगवत्पादीयं मतमुपन्य स्यति येत्विति। तद्दुषयति

---

1. सिद्धान्तश्लेष संग्रहः, पृ. 512-514
2. आत्मैवेति ब्रह्मसिद्धिकाराः, पृ. 514, 516

तदिति। स्वपक्षमुपसंहरति तस्मादिति। संस्कारादेवेति- प्रारब्धकार्यस्य कर्मणः क्षयप्रतीक्षां निवर्तयति। अस्मिन् विषये भगवतशंकराचार्यस्य मते जीवन्मुक्तः सिद्ध एव स्थितप्रज्ञ उच्यते। मण्डनमिश्रमते स्थितप्रज्ञः केवलं साधको न तु सिद्धः। एतदेवाभिप्रेत्य सर्वज्ञात्ममुनिना संक्षेप शारीरिक उक्तम्-

जीवन्मुक्तिगतो यदाह भगवान् सत् सम्प्रदायप्रभृ-
र्जीवाज्ञानवचस्तदीदृगुचितं पूर्वापरालोचनात्।

अन्यत्रापि तथा बहुश्रुतवचः पूर्वापरालोचना-
न्नेतव्यं परिवृत्त्य मण्डनवचस्तद्ध्यन्यथा प्रस्थितम्॥[1]

ध्याननियोगवादी श्रीब्रह्मदत्तो जीवन्मुक्ति न मन्यते। अस्य मते प्रारब्धकर्मणा लब्धो देहो ब्रह्मावासी बाधको भवति। देहपातानन्तरमेव ब्रह्मावाप्ति र्मोक्षो वा। एतच्च बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिके नैष्कर्म्यसिद्धेश्चन्द्रिकाटीकायां च स्पष्टीकृतम् -

भावनोपचयाद् देवो भूत्वा विद्वानिहैव तु।
देवानप्येति सोऽग्न्यादीञ् शरीरत्यागतः परम्॥[2]

अथाध्यात्मं पुनर्यायादाश्रितो मूढतां व्रजेत्।
स करोत्येव कर्माणि को ह्यज्ञं निवारयेत॥[3]

अत्र चन्द्रिकायामुक्तम् -

अवगतपरमार्थतत्त्वोऽपि पुनः कार्यकारणसङ्घातेऽहमभिमानवान् भवतीत्यर्थः। परिहरति आश्रित इति। एवं चेन्नासौ विदितपरमार्थतत्त्वः किं त्वज्ञ एव विपरीतदर्शन-वत्त्वात्।

श्रीब्रह्मदत्तमते मोक्षोऽदृष्टफलम्। शाङ्करमते तु मोक्षो दृष्टफलम्। अतः शाङ्करमते जिज्ञासोत्पद्यते मोक्षो न। तेन भगवता शङ्करेण ऐतरेयभाष्योपद्घात उक्तं यद् जीवन्मुक्तावस्थायां कर्मसंन्यासः स्वतः प्राप्तः। सत्वशुद्धौ वैराग्ये च कर्मसंन्यासो विधिप्राप्तः। एवमेवोपासनाविधिपक्षेऽपि श्रीब्रह्मदत्तश्रीशङ्कराचार्यमते विभेदः। शाङ्करमते ज्ञानाद् भिन्नोपासना। उपासनायां विधिः सम्भवत्यपि ज्ञाने न संभवति। यथोक्तं भगवता श्रीशङ्करेण-

ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसं तथापि पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं पुरुषतन्त्रत्वात्। ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम्। प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयम्। अतो ज्ञानं

---

1. श्रीशंकरात्प्रागद्वैतवादः, पृ. 463-465
2. बृ. आ. उ. भा. वा. 4।1।27, पृ. 1357
3. नै. सि. 1।76

कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुमशक्यं केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्। न चोदनातन्त्रम्, नापि पुरुषतन्त्रम्। तस्मान् मानसत्वेऽपि ज्ञानस्य महद् वैलक्षण्यम्।[1]

श्रीब्रह्मदत्तस्तु ज्ञानोपासनयोर्भेदं नाङ्गीकरोति। तेनात्मज्ञानेऽपि विधिं मन्यते। अतएव 'आत्मा वा अरे.....' इत्यादिविधिवाक्यानामस्मिन् मते प्राधान्यं न तु 'तत्त्वमसी' त्यादिवाक्यानाम्। यतो हि वस्तुस्वरूपज्ञानं विना भावनोपासना वा न संभवति। अतस्तत्त्वमस्यादिवाक्यानां वस्तुस्वरूपमात्रबोधकत्वेनाप्राधान्यम् उपासनाविधेश्च प्राधान्यम्। तेनात्मा उपासनविधेः शेषोऽस्ति। अस्मिन् मते पूर्वोत्तरमीमांसयारेतावानेव भेदो यत्पूर्वमीमांसा कर्मविधिः, उत्तरमीमांसा भावनाविधिः।

ध्याननियोगवादी

अयं श्रीब्रह्मदत्तो ध्याननियोगवादी न तु नियोगवादी। नियोगवादी स उच्यते यस्तत्त्वंपदार्थसंशोधनद्वारा ब्रह्मात्मैवज्ञं मनुते यथा भगवाँच्छङ्कराचार्यस्तदनुयायिनश्च। यथा–

नियोगपक्षमाश्रित्य विध्यर्थासम्भवो यथा।
एकोत्म्यसिद्धौ यत्नेन तथात्र प्रतिपद्यते।।[2]

अत्रानन्दगिरि व्यचिष्टे –

'इह तु ब्रह्मदत्तादिमतेन ज्ञानाभ्यासे विधिमाशङ्क्य निरस्यते तन्न पुनरुक्तिरित्याह– 'नियोगेति'। यस्तु तत्त्वमस्यादिवाक्यद्वारा ब्रह्मस्वरूपमवगत्य भावनया निदिध्यासनेन वा ब्रह्म साक्षात्कुरुते स ध्याननियोगवादी कथ्यते। श्रीभाष्ये श्रीशङ्करानुयायिनो जरन्नियोगवादिन उक्ताः। श्रुतप्रकाशिकायां च 'जरन्नियोगवादिनः' इत्यस्य व्याख्याने शाङ्करा एवाभिप्रेताः। श्रीभाष्य इदमप्युक्तं यद् ध्याननियोगवादिनो जीवन्मुक्ति नाभिप्रयन्ति। श्रीशङ्करमते यथा सत्त्वशुद्ध्या वैराग्येण वा ज्ञानमुत्पाद्यते ब्रह्मदत्तमते तु सत्त्वशुद्धया वैराग्येण वा भावना जायते।

जीवब्रह्मणोरभेदः

आचार्यब्रह्मदत्तमते जीवब्रह्मणो भेदोऽभेदो वेति स्पष्टं न प्रतीयते, किन्तु 'अहं ब्रह्मास्मि' इति भावनादाढ्येन मोक्षो भवतीतिकथनेन मोक्षार्थमभेदबुद्धिरावश्यकीति प्रतीयते। अभेदवादिभिरन्यैरप्याचार्यै र्मोक्षार्थं जीवब्रह्मणोरभेदबुद्धिरावश्यकीति प्रादर्शि। अतोऽस्य मते यदि जीवब्रह्मणो र्भेदस्तर्हि तयोरैक्यभावनया ब्रह्माणि लयो जायेतेति

---

1. ब्र.सू. 1।1।4 शा. भा.।
2. बृ. आ. उ. भा. वा. 797 स.वा.पृ.219

मन्यते। यदि जीवब्रह्मणोरशांशिभावोऽथवा अभेदस्तहर्यभेदभावनया भेदनिवृत्तिः, भेदनिवृत्त्या अभेदस्फुरणं ब्रह्मसाक्षात्कारो मुक्तिर्वा। अतएव च आत्मनि विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवतीतिप्रतिज्ञासिद्धिरस्यमतेऽपि जायते।

एवमयमाचार्यब्रह्मदत्तो ब्रह्मैव केवलं नित्यं ब्रह्मातिरिक्तं सर्वमनित्यं मनुते। अयं जीवस्य जगतश्च जन्म मन्यते। मोक्षावस्थायां च ब्रह्मणि जीवस्य लयं मन्यते। एम्भूतोऽपि मायावादित्वेनान्ते ब्रह्मणि लय इति स्वीकारेण मोक्षावस्थायां जीवब्रह्मणोरैक्यस्वीकाराच्चायमद्वैतवादीति कथ्यते। मोक्षसाधनविषयेऽयं ज्ञानकर्म-समुच्चवादमङ्गीकरोति। अस्य मतेऽज्ञाननिवृत्तिर्वेदान्तमहावाक्यजन्यज्ञानेन न भवति, किन्तु वेदान्तवाक्यश्रवणेन 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारकं ज्ञानमुत्पद्यते। एवंविधज्ञानानन्तरं तदाकारभावना क्रियते। भावना, उपासना प्रसंख्यानमेकमेव तत्त्वम्। भावनोत्कर्षेणापरोक्षं ज्ञानं जायते। तदा पूर्णतया अज्ञानं नश्यति। 'देवो भूत्वा देवानप्येति' इतिश्रुतेरप्यत्रैव तात्पर्यम्। अहं ब्रह्मास्मीत्युक्तभावनोपचयेन ब्रह्मभावस्य साक्षात्कारस्तथा देहपातानन्तरं ब्रह्मभावापत्तिः अतो ज्ञानाभ्याससमये कर्मणा सह ज्ञानस्य समुच्चयः संगच्छते। ब्रह्मदत्तमते यथा कर्मकाण्डे विधिप्राधान्यं तथैव ज्ञानेऽपि विधिप्राधान्यं किन्त्वियान् भेदो यत् कर्मकाण्डे कर्मविधिः, ज्ञाने चोपासना विधिः। उपासना भावना प्रसंख्यानं च नामान्तरमिति पूर्वमुक्तमेव। अस्य मते 'आत्मेत्येवोपासीत' इत्युपासनाविधावेव उपनिषद्वाक्यानां तात्पर्यन्नतु 'तत्त्वमसि'इत्यादिमहावाक्यजज्ञाने। तत्त्वमस्यादिवाक्यं केवलमुपासनाया विषयं निर्दिशति। मुक्तये प्रसंख्यानस्यावश्यकता।

श्रीब्रह्मदत्तश्रीशङ्कराचार्ययोरियान् भेदो यद् ब्रह्मदत्तो वेदान्तमहावाक्यजन्य-ज्ञानानन्तरं ब्रह्मसाक्षात्कारार्थं ध्यानमुपासनां आवश्यकं मन्यते। भगवाँच्छङ्करस्तु उत्तमाधिकारिणां कृते महावाक्यजन्यज्ञानान्तरमविलम्बमेव ब्रह्मसाक्षात्कारं मन्यते। अज्ञाननिवृत्त्यर्थं कर्मण आवश्यकतां तूभावपि मन्वाते, किन्तु ब्रह्मदत्तो वेदान्तमहावाक्य-जज्ञानान्तरमपि कर्मण आवश्यकतां ब्रवीति, श्रीशङ्करस्तु तत्त्वमस्यादिमहावाक्यज-ज्ञानपूर्वक्षणपर्यन्तमेव कर्मण आवश्यकतां स्वीकरोति। एवं ब्रह्मदत्तमते औपनिषदज्ञानानन्तरं मुक्तावस्थामध्ये वैदिककर्मणामनुष्ठानमावश्यकम्।

श्रीब्रह्मदत्तसमान एव श्रीमण्डनस्यापि समुच्चयवादः। किन्तु एतवान् भेदो यद् वाक्यजं सर्वं ज्ञानं संसर्गात्मकं भवति। अतोऽहं ब्रह्मास्मीतिदान्तवाक्यजं ज्ञानं संसर्गात्मकमेव। अत एतत्संसर्गात्मकज्ञानानन्तरम् असंसर्गात्मकज्ञानार्थं भावनोपासना वा आवश्यकी। अतः 'तत्त्वमसि' इतिमहावाक्यजाहं ब्रह्मास्मीतिसंसर्गात्मकज्ञानानन्तरं यावत्कालं प्रत्यगात्मविषयकम् 'अहं ब्रह्म', इत्याकारकम्, असंसर्गात्मकम्, असंसृष्टात्मकम्, अवाक्यार्थरूपं ज्ञानं नाविर्भवत् तावत्कालं निदिध्यासनाभ्यासः कार्यः। महावाक्येन संसर्गात्मकमेव ज्ञानं जायते, अतोऽवाक्यार्थप्रतिपत्तयेऽखण्डाकार-

ज्ञानप्रतिपत्तये च महावाक्यजज्ञानब्रह्मसाक्षात्कारयोर्मध्ये ध्यानस्यावश्यकता। अतः प्रसंख्यानपक्षवाद्ययं कथ्यते। श्रीमण्डनमते 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इति श्रुतेः सङ्गतिरित्थं जायते यत् संसृष्टरूपब्रह्मज्ञानानन्तरं प्रज्ञा अर्थात् साक्षात्कारात्मकस्य असंसर्गात्मकस्य ज्ञानस्याभ्यासः कार्यः। अयं जीवन्मुक्तिं नाभिमनुते। अस्य मते मोक्षोऽदृष्टफलं श्रीशङ्करमते तु मोक्षो दृष्टफलम्।[1]

इत्थञ्चाद्वैतमते बन्धनमज्ञानहेतुकम्। अज्ञानञ्चानादि, किन्तु तस्य नाशो मन्यते। सत्यज्ञाननाशे कियत्कालं शरीरधारण जीवन्मुक्तिरुच्यते। जीवन्मुक्तो शैव आदर्शोऽस्ति। जीवन्मुक्तेरनन्तरं शरीरपाते सति विदेहकैवल्यं प्रकाशते। अस्यामवस्थायामपि वस्तुरूपेण न चेतनस्य किञ्चिद्बन्धनमस्ति न वा मुक्तिर्भवति सतु बिम्बभूतः। आकाशस्यार्क-वत्सदापूर्णो निर्लेपश्चावतिष्ठते। विशुद्धश्चेतनस्य रूपोऽस्ति।

✦✦✦

1. श्रीशङ्करात्प्रागद्वैतवादः, पृ. 282–283

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

महाभारताधारित-सिन्धुराजवधमहाकाव्यस्य लोकोपयोगिता

पूजा

शोधच्छात्राः, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थान
मानितविश्वविद्यालयः, नई दिल्ली

महाभारतं भारतीयसंस्कृतेः संस्कृतवाङ्मयस्य चातिमहत्त्वपूर्णं प्रामाणिकञ्च ग्रन्थोऽस्ति। भारतीयजनजीवनस्य पुरातन-सामाजिक-सांस्कृतिकराष्ट्रियपरम्पराणां राजनीतिकतथ्यानां सिद्धान्तानाञ्च प्रतिपादनम् अस्मिन्वर्त्तते। महाभारतविषये अत एवोच्यते-

धर्मे ह्यर्थे कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥

अयं ग्रन्थः त्रिषु लोकेषु ज्ञानागाररूपे प्रतिष्ठितोऽस्ति। ब्राह्मणादयः संक्षिप्त-विस्तृतोभयरूपाभिः अध्ययन-अध्यापनपरम्पराभिः इमं स्वहृदि धारयन्ति। अयं ललितैः माङ्गलिकैश्च शब्दविन्यासैः अलङ्कृतो वर्तते। विभिन्नछन्दसामलङ्काराणाञ्च प्रयोगैः ग्रन्थोऽयं विदुषामतिप्रियो विद्यते। यथोच्यते-

इदं त्रिषु लोकेषु महज्ज्ञानं प्रतिष्ठितम्।
विस्तरैश्च समासैश्च धार्यते यद् द्विजातिभिः॥

अलङ्कृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः।
छन्दो वृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियतम्॥

(महा.आदिपर्व 1/27, 28)

महाभारतं संस्कृतसाहित्यस्य सर्वाङ्गपूर्णः सर्वमान्यश्च एकोऽद्भुतः ग्रन्थरत्नोऽस्तीति निर्विवादम्। आदिमकालादेवायं महाभारतग्रन्थः सांसारिकसमस्यानां समाधाने संलग्नः सनयनपथमधिरोहति। तदस्माकं भारतीयानां कृते ग्रन्थराज एषः धर्मशास्त्रस्यापि कार्यं साधु साधयति। अस्य ग्रन्थस्य रचयिता श्रीवेदव्यासः भारतीयार्थनीतेः राजनीतेः आध्यात्मिकतत्त्वानाञ्च गम्भीरतापूर्वकविचारान् अत्र प्रकटितवान्।

भारतीयसंस्कृतेः भव्यरूपमस्मिन् अद्वितीये ग्रन्थे परिलक्ष्यते। न केवलं महाभारते कौरवपाण्डवानामेव वर्णनमपितु भारतीयधर्मस्य सविस्तरं चित्रणमपि तस्य

प्रमुखं लक्ष्यं विद्यते। इतिहासत्वात् एषः अस्मत्पुरतोऽस्मदीयानां पूर्वजानां इतिवृत्तमपि प्रस्तौति। अतएव महत्त्वमस्योद्गायता प्रोच्यते-

"महत्वात् भारत्वाच्च महाभारतमुच्यते"

भारतवर्षस्य समग्रविषयवस्तु महाभारते विद्यते। महाभारते यन्न विद्यते तत् समग्रेऽपि भारतवर्षे दुर्लभं भवति। अत एवोक्तम्-"यन्न भारते तन्न भारते"। यते यत् महाभारतं भारतवर्षस्य आधारस्तम्भः। महाभारते आदिपर्वण आरभ्य स्वर्गारोहणपर्वपर्यन्तमनेके विषयाः समुल्लसिताः सन्दृश्यन्ते। महाभारतस्य कलेवरमत्यन्तं विशालं वर्त्तते। अतएव महाभारतीय-कथावस्तूपजीव्येन भास-भारवि-माघादिमहाकवयः बहूनि काव्यानि विरचितवन्तः। अवान्तरकालीनाः अपि कविगणाः अनेकानां महाकाव्यानां रचनाः कृतवन्तः। क्रमेऽस्मिन् विंशतिशताब्द्याः कविवरः साहित्याचार्यादिविरुदावलिविभूषितः डॉ. बलभद्रप्रसादशास्त्री स्वकीयया अनन्यसामान्यया नवनवोन्मेषशालिनिप्रतिभया पञ्चदशसर्गान्वितं सिन्धुराजवधमहाकाव्यं विरचितवान्।

काव्येऽस्मिन् भाषा सरसा सरला प्रवाहवाहिनी प्रसादगुणशालिनी च। विषयप्रतिपादनमपि व्यवस्थितं प्राञ्जलञ्चास्ति। वर्ण्यविषयानुरूपमेव भावाभिव्यञ्जनपद्धतिरपि विलक्षणं सौष्ठवमवगाहते। "काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म" इति काव्यप्रकाशस्यारम्भे यत् मम्मटाचार्याणामभिमतमस्ति, तस्य दर्शनमत्र महाकाव्ये सारल्येन भवति।

महाभारतयुद्धं वस्तुतः द्वापरयुगीना महती रक्तपातमयी विभीषिका आसीत्। यस्य जनकाः दुराचारिणो मदोन्मत्ताः धनलोलुपाः धार्त्तराष्ट्राः आसन्, ये नितरामनाचारेण, अन्यायेन, दलछद्मद्यूतेन न केवलं स्वबान्धवानां पाण्डुपुत्राणां राज्यसम्पदामेवापाहरन् अपितु तेषां वधूं द्रौपदीमपि वस्त्रापहरणेन दुर्वचोभिर्धोरापमानितां चाप्यकुर्वन्। शत्रुच्छद्मजालमध्ये पतिताः पाण्डवाः त्रयोदशवर्षाणि वनेषु भ्रमन्तोऽपि दुर्योधनात् न्यायं न प्राप्तवन्तः, तेषां शान्तिसन्धिप्रस्तावाः अपि तिरस्कृताः। तदा-

हतो वा प्राप्स्यसे स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुतिष्ठ कौन्तेय! युद्धाय कृतनिश्चयः॥

इति कृष्णस्य निर्देशमनुसरन्तस्ते राज्यधनदारापहारीणां मदान्धक्रूरकौरवाणां विनाशाय लोकहिताय धर्मसंस्थापनाय च इदं युद्धमयुध्यन्त। महाभारतयुद्धे धर्मक्षेत्रेऽपि कौरवैर्यदा अभिमन्युः छलेन चक्रव्यूहं विधाय निरस्त्रं कृत्वा हतः, तदा तत्प्रतिक्रिया तस्य पितुः गाण्डीविनोऽर्जुनस्य हृदये भीषणाक्रोशरूपेण प्रस्फुटिता। तदानीमेव पुत्रवधस्य प्रमुखहेतुभूतं सिन्धुराजं प्रातरेव निहन्तुं अर्जुनस्य विहितस्तत् कठोरप्रतिज्ञा संकल्प एवास्य महाकाव्यस्य मूलाधारभूमिर्वर्त्तते। जयद्रथवधे विफलश्चेद् धनञ्जयः सांयकाले तत्रैवात्मानं भस्मसात् करिष्यति-

दिक्कालानलवायुभूमिसलिलाकाशेन्दुतारागणान्,
साक्षीकृत्य च केशवं गुरुजनानेतत् प्रतिज्ञायते।
प्रातश्चेन्न जयद्रथं रणतले शत्रुं हनिष्याम्यहं,
धक्ष्याम्याहतजीवनं ननु तदैवास्तंगते भास्करे॥ (सिन्धु. 9/41)

नासीत्तस्यैतत् शब्दप्रदर्शनमात्रम्। असौ सायं संकल्पविफलः काष्ठचितामधिरोढुं समुद्यतोऽभूत् परं तत्क्षणमेव सन्मुखे प्रहसन्तं जयद्रथं विलोक्य सहसैव तस्य शिरश्छेदं विधाय स्वप्रतिज्ञामपूरयत्। महाकाव्यमेतत् अर्जुनस्य तत्कठोरसंकल्पशक्तिं, अभिमन्योः स्वाभिमानरक्षार्थं प्राणोत्सर्गञ्च स्मारयति। युद्धे अर्जुनं दूरे संप्रेष्य यदा द्रोणाचार्यः चक्रव्यूहमरचयत्, तदा तस्य भेदनविधेरनभिज्ञाः पाण्डवाः चिन्तामग्नाः अभूवन्। तदानीं सहसैव प्रविश्य बालोऽप्यबालसत्त्वोऽयमभिमन्युः यानि वचांसि प्राह तानि तस्य साहसं स्वाभिमानञ्च प्रकटयन्ति। यथा-

कूटानि किं दुर्मदकौरवाणां, शक्ता निरोद्धुं गतिमस्मदीयाम्।
तमो विहन्तुं समुदीय सूर्यो वाधाशतेष्याक्रमतेऽन्तरिक्षम्॥
(सिन्धु. 7/15)

अन्यच्च-

जगज्जयो जन्मनि जन्मनि स्यात् कीर्तिः कलामातनुते न तेन।
अनीतिमन्तं नयता यमान्तं यथा प्रजामुन्नयता नृपेण॥
(सिन्धु. 4/16)

यदा षोडशवर्षदेशीयं कुलस्य बीजम् एकाकिनं कुमारं कथमप्यरातिबलि विधातुं अनीहमाने युधिष्ठिरे महावीरोऽयमभिमन्युः तदा यदाह तत्तस्य लोकोत्तरशौर्यस्यैव योग्यम्

मृत्युर्यदा कवलयत्यरिमित्रबन्धून्
व्यादाय कालविकरालमुखं समन्तात्।
हित्वा विमोहमयशस्करमाहवान्ते
चेया तदा बुधवरैरसुभिः सुकीर्तिः॥ (सिन्धु. 4/33)

कुमारेणाभिमन्युना व्यूहे प्रविश्य लोकोत्तरं पराक्रान्तं तथा समरभूमौ प्रसिद्धान् महारथिनोऽप्यनेकशः सः पराजितवान् तदा तस्य शौर्यशक्तिः अपूर्वा दृग्गोचरी भवति स्म। यथा-

विस्फारं धनुषः शरप्रहरणं विष्वक् सरीसर्पणम्,
सम्पातं रथिनामधीरकरिणां व्यूहेऽसकृद् बृंहणम्।

प्रेतासृक्सरितः प्रवाहपतताम्मुद्धेषणं वाजिनां,
नाज्ञासीदरिवाहिनी विशसिताजौ लाघवेनार्जुनेः॥ (सिन्धु. 6/53)

महाकाव्येऽस्मिन् न केवलं अभिमन्युरादिमहावीराः एव शौर्यशक्तिप्रतीकभूताः वर्त्तन्ते अपितु नार्योऽपि प्रेरणापुञ्जस्वरूपाः विद्यन्ते। मत्स्येन्द्रसुता उत्तरा गुरुद्रोणाचार्य-विरचितं चक्रव्यूहं संहर्तुं अभिमन्योः रणाभियानं कर्णपरम्पराभिः संश्रुत्य स्वयमपि समरनभूमौ गन्तुं सज्जाऽभवत्। यथा-

अन्तः पुराचार कुलागतानि विहाय रत्नाभरणानि सद्यः।
अबालसत्वोत्कर्षणान्यधासीदङ्गेषु लौहावरणानि बाला॥
(सिन्धु. 5/4)

अन्यच्च-

रेजे लसन्मणिकिरीटतलेऽर्धमग्नः पृष्ठे
गतो वरमुखन्निचयोऽलकानाम्।
धर्मांशुना च युगपच्छशिना गृहीतो
भीत्याकुलः परिपतन्निव संहिकेयः॥ (सिन्धु. 5/5)

सा वीराङ्गना कुरूणां कपटे अमर्षप्रकर्षमादधाना युद्धाय सन्नद्धा साक्षात् 'पञ्चेषु वामा' रतिरिव दृग्गोचरी भवति स्म-

निधाय चित्ते चरणौ मुरारेराधाय धीरा धनुराहवाय।
मन्येऽभिरामा युधि यातुकामा पञ्चेषु वामा सहसाऽजगाम॥
(सिन्धु. 5/8)

इदं भारतीय-वीराङ्गनानां चिरन्तनान् आदर्शान् स्फुटमभिव्यनक्ति। ताः राष्ट्र-रक्षायै औदार्येण स्वपत्युः युद्धाय प्रेष्य स्वनारीत्वमलङ्कुर्वन्ति स्म। यथा-

वीराङ्गना वीरमुदारभावात् समर्चयन्ती पतिमादरेण।
सम्प्रेष्य रक्षार्थमथार्यभूमेर्नारीत्वमार्या समलङ्करोति॥ (सिन्धु. 5/19)

इत्थं काव्यमिदं राष्ट्रियतायाः उदात्ततमाभावनाभिः परिपूर्णं वर्त्तते। अस्मिन् राष्ट्ररक्षाव्रती वीरोऽभिमन्युः युवाशौर्यप्रतीकोऽद्यतन यूनां कृते प्रेरणास्रोतो विद्यते। इदानीं चापि समस्तं राष्ट्रियजीवनं कौरवसदृशैः कूटछलप्रपञ्चसम्पन्नैः परसम्पदालोलुपैः शत्रुभिः समाछन्नं वर्त्तते। अस्य राष्ट्रस्यानेके भागा अद्यापि लाक्षागृहवद् दह्यन्ते। नारीजनानां तिरस्क्रिया भूयशो वर्धमाना दृश्यन्ते। निरपराधा अपि युवानो वीरा निरीहा अपि जनाः छलेन हन्यन्ते। अतः महाभारतयुद्धकालीना एव परिस्थितियः सर्वत्राऽद्यापि राष्ट्रे विद्यन्ते।

अतएव भीमार्जुनाभिमन्यूनां शौर्यसम्पन्नराष्ट्रपुत्राणां वीरनारीणाञ्च महती आवश्यकता सम्प्रति वरीवर्त्तते। येन अधर्मानाचारात्याचारातङ्कतिमिरं विनष्टं भवेत्। महाकाव्यमेतत् कातरत्वं धुन्वन्निष्ठाबद्धमस्माकं हृदयेषु कर्त्तव्यबोधं जनयति। राष्ट्रधर्मस्य कृते मरणं जीवनं वा उपदिशति। संकल्पशक्तिं दृढ़यति, शौर्यसाहसं साधयति तथा मायामोहभ्रमं दूरीकृत्य निष्कामकर्म योगपथञ्च दर्शयति। राष्ट्ररक्षायै सर्वस्वत्यागं शिक्षयति। अन्यायाधर्मात्याचाराणां विरोधाय अस्मासु शक्तिं जागरयति।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

डॉ. हरिनारायणदीक्षितविरचितस्य भारतमाताब्रूते महाकाव्ये वर्णितसामाजिकदशायाः समीक्षात्मकमध्ययनम्

विष्णु-दत्त-तिवारी

संगीतविशारदः

मानितविश्वविद्यालयः, नई दिल्ली

काव्यशास्त्रीयपुण्यपरम्परायामादिकविवाल्मीकि-वेदव्यास-भास-कालिदास-दण्डी-भवभूतिप्रभृतयः अत्यन्तादरभाजः कवयो वर्तन्ते। एतेषां महतां कवीनां सा पुण्यपरम्परायां साम्प्रतमपि प्रवाहमाना दरीदृश्यते। आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये नैके कवयः, चिन्तकाः, आर्चायाश्च नैकविधविधाः समाश्रित्य साहित्यरचनां कुर्वन्तो वर्तन्ते। वस्तुतः साम्प्रतिके काले संस्कृतसाहित्ये विरचय्याधुनिककवयः साहित्य-मिदमत्यन्तं गौरवान्वितं कारयन्। अस्यामेवपरम्परायामेकः कविः डॉ. हरिनारायण-दीक्षितमहाशयोप्यभवत्। यस्य कृतीः अवलोक्य विद्वद्भिः सः अत्यन्तं समादृयते। अनेनाचार्येणानेक ग्रन्थाः विरचिताः। तेषु ग्रन्थेषु भारतमाताब्रूते शीर्षकान्वितो ग्रन्थः महाकाव्यरूपेण विराजते। अस्मिन् महाकाव्ये अधुनातनभारतीयसमाजे संक्रामकरोगाणामिव तीव्रगतया प्रसार्यमाणः अपसंस्कृत्यसभ्यतायाश्च विभिन्नपक्षाणां, सम्मुखीकृत्य जनानां तस्मात् दूरे निवसनाय संदेशं दत्तमस्ति।

भारतीयः समाजोऽयं स्वीये संस्कृतिसभ्यते।
प्रायोपमानयन् मोहात् परकीये प्रशंसति।

-भारतमाता ब्रूते, 12/42

अस्मिन् भौतिकसंसारे मानवाः सहस्राणि वर्षाणि व्यतीतवन्तः। क्रमेऽस्मिन् मानवाः केवलं स्वविकासस्यैव यात्रां नियोजितवन्तः। तेन विज्ञानस्य प्रविधेश्च क्षेत्रेऽद्भुतं विकासङ्कृतवन्तः। परञ्च तस्य संघर्षमधुनापर्यन्तन्तमप्यनवरतरूपेण व्यक्तिगतस्तरे, राष्ट्रियस्तरे, विश्वस्तरे च प्रचलत्येव। सम्प्रति मानवाः सर्वत्र खिन्नासन्तुष्टाः तनावयुक्ताश्च दृश्यन्ते।

संगीते सा-रे-ग-म-प-ध-नी एतैः सप्तस्वरैः समन्वितेन नैके रागारुद्भवन्ति, मधुरं संगीतं जनयन्ति, जनान् रञ्जयन्ति च। परञ्च यत्र स्वराणां सामञ्जस्यं

समुचितन्न भवति, भवति तत्राशान्तेः प्रार्दुभावः। नियमोऽयं सर्वत्र प्रवर्तते। स्वराणामिव समाजे विचाराणां समन्वयनाभावात् मानवाः क्लेशाक्रान्ताः सञ्जाताः।

संगीते स्वरमार्धुर्यं
व्यञ्जना कवितास्वरे।
आधुनिकेसमाजेस्मिन-
नुभयं विरलायते॥ भारतमाता ब्रूते-12/39

सम्प्रति समाजे मानवीय मूल्यानां ह्रासो दृश्यते। पारिवारिकसम्बन्धेषु विकृतयः जायन्ते। काञ्चनं कामं-कामिनीञ्च प्रत्याकर्षणं भवति। नैतिकतायाः महत्त्व क्षीणं भवति। छद्मवेषता-कपटता-कृतिमता-भ्रूणहत्या-दहेजप्रतारणादयश्चावलोकयितुं शक्यन्ते पदे पदे। सम्प्रत्यशान्तेरराजकतायाश्च मेघाः सर्वत्र व्याप्तास्सन्ति। सम्पूर्णविश्वे उग्रवादः, क्षेत्रवादः, जातिवादः, सम्प्रदायादिवादानां प्रभावो दृश्यते। आर्द्रतां प्राप्य शैलीन्ध्राणामिवाशान्तेः साम्राज्यं प्रतिदिनं वर्धयिष्यति।

ईष्यासूया च पैशुन्यं
कार्पण्यं कामदासता।
कृतघ्नत्वं च धूर्तत्वं
यान्तिवृद्धिं समन्ततः॥ भारतमाता ब्रूते- 12/29

अस्मिन् महाकाव्ये सर्म्पूणभारते परिव्याप्ताधर्माधर्मवर्णनं बहूत्तमरूपेण कृतमस्ति। मया चिन्तयते यदस्य महाकाव्यस्यातीवावश्यकता समाजाय वर्तते। यदस्माकं समाजः शनैः शनैः स्वाघ्यात्मिकावधाराणां त्यक्त्वा भौतिकवादं प्रति तीव्रगत्या गच्छति। परिणामतः अत्र गृहेषु, परिवारेषु, समाजेषु, ग्रामेषु, नगरेषु, विद्यालयेषु, मार्गेषु, चिकित्सालयेषु, न्यायालयेषु, प्रजातन्त्रस्यमन्दिरेष्वापि सः प्रचलति यः देशस्य संस्कृतिसभ्यतयोश्च कृतेऽनुकूलं नास्ति।

जनाः कर्तव्याणि विस्मृतवन्तः, आधिपत्यं च दर्शयन्ति। अधुना जरावस्था भयभीता, युवावस्या स्वच्छन्दतां गता, ज्ञानं सङ्कुचितं छद्मो हसति, अहिंसा प्रलपति। परिणामतः अस्माकं समाजः प्रगत्याधुनिकतयोश्च नाम्ना शनैः शनैः सर्वतोन्मुखी पतनं प्रति गच्छन्नस्ति। अस्मिन् महाकाव्ये प्रायः समाजस्य प्रतिव्यक्तेः व्यथाकयां श्रावयित्वा मानवतायाः विपरीतं सिद्धाकृता परिस्थितिः, तथा च तस्याः समूलं विनाशाय सन्देशमपि दत्तमस्ति कविना।

यथा-

1. **हिंसाप्रवृत्तेस्तु जनैरशेषैः,**
कार्यो यथाशक्तिविरोध एव।

न केवलं यो विदधाति हिंसां,
यो नो विरुन्धे स जनोऽपि पापी।

भारतमाता ब्रूते, 2/36

2. स सत्पतिर्यस्सुखदस्वपत्न्याः पत्नीसती सा मनुते पतिं या।
मिथोनुकूलौ यदि दम्पतीस्तो, गेहे तदास्यात्सुखशान्तिवासः॥

भारतमाता ब्रूते, 2/44

लोकजनितविषयमवलम्ब्य कविः स्वप्रतिभया लोकोत्तरसनाथितं काव्यवर्णनं करोति। येन सहृदया रसाङ्गभूतकाव्यस्य स्वादपूर्वकं तद्रूपाचारणे प्रवृत्तो भवन्ति। इदं निश्चप्रचमेव यत् समाजः सहित्येन प्रभावितस्सन तस्याचरणे प्रवृत्तो भवति। साम्प्रतिक-काले कवेः हरिनारायणदीक्षितस्य भारतमाता ब्रूते इतीदं वारणायोपायाः निश्चयेन समाजं समुचितर्मागं दर्शयितुं शक्नुवन्ति। अस्य महाकाव्यस्य परमावश्यकता परिलक्ष्यते नारीणां मनोदशा परिवर्तनार्थं। कारणं यत् वर्तमानसमाजे नैके दुष्प्रभावाः भौतिक-सत्यस्वरूपं विचारयतातां मानवानां बाहुल्यं पारलौकिकदिव्यभावनायाः प्ररोहाभावाः आध्यात्मिकद्रढतायारभावः, श्रद्धाभक्तेरभावः, दुष्टशक्तीनां प्राबल्यं-एवमेव नानाप्रकारकाः दुष्प्रभावाः दृष्टिगोचरतामागच्छन्ति। साम्प्रतिकसमाजे भारतीयासंस्कृतस्तु वेदमूलास्ति। भारतीय जनाः आध्यात्मैकात्मवादं स्वीकुर्वन्ति न तु भौतिकवादं "रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवदिति" उपदेशमङ्गीकृत्य आचरन्ति। तेनैव क्रमेण ते चतुर्वर्गमाप्नुवन्ति। अतः तैः सत्काव्यानि समालोचनीयानि भवन्ति। तेषां रचनासु प्राच्याधुनिकोभय-विषयलम्ब्य विषयवर्णनं कृतं विधयते। वर्तमानसमाजस्याध्यात्मिकसचित्रणं एषु सत्काव्येषु दर्पणवदवलोकयितुं शक्यते। वर्तमानसमाजे जायमानस्य प्राचीनादर्शसभ्यता-संस्कृत्योः द्रुतह्रासस्य नैकानिस्वरूपाणि शक्यतेऽवलोकयितुं। विशेषतो भारतीयसमाजे आधुनिकपरिवारे संबन्धानां स्वजनानाञ्च किं महत्त्वं भवतीत्येवं प्रायः क्षीणतां गच्छन् दृश्यते। मातृपितृसेवया संवर्धितः पुत्रः यौवनां संप्राप्य स्वातन्त्र्यं वाञ्छति, येन कारणेन सः स्वपितरौ दूरस्थितामानाश्रमादिषु प्रेषयितुं यतते। आधुनिकपरिप्रेक्ष्ये सर्वत्र एव अनाचाराक्रान्तामनुष्याः आध्यात्मविधिनास्वकर्तव्याकर्तव्य विवेचनं विस्मृत्य केवलं क्लिश्यन्ति स्वोदर पूर्तये एव तथा च पाश्चात्य संस्कृतेः पक्षपातिनः धर्म-परिर्वतनपरायणाः। छद्मवेषता, कपटता, कृत्रिमता, भ्रूणहत्या, दहेजप्रतारणा चावालोकयितुं शक्यते पदे पदे। क्रमेस्मिन्नेव डॉ. हरिनारायणदीक्षितमहोदयेन विरचिते भारतमाता ब्रूते महाकाव्ये दूर्गामिन्याः दृष्टेः समापतितानि महान्ति गूढ़तत्वानि काव्येस्मिन् पदशः अवलोकयितुं शक्यन्ते। सदाचारसच्चरित्रवतामेव मानवानां जीवनं श्रेष्ठं भवतीति।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

भक्तिस्वरूपं तद्भेदाश्च

प्रवीण कुमार राय
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली

श्रीमद्भागवतस्य तृतीयस्कन्धे एकोनत्रिंशेऽध्याये कपिलदेवहूतिसंवादे भक्ति-योगस्य निरूपणमस्ति यथा सङ्केतितं श्रीधरस्वामिना–

एकोनत्रिंशके भक्तियोगस्तु बहुधोच्यते।
कालस्य च बलं घोरा संसृतिश्च विरक्तये॥
(श्रीधरः, भावार्थदीपिका 3।29)

देवहूतिः कपिलं भक्तियोगस्य कालस्य जीवलोकस्य गश्च स्वरूपं पृच्छति–

लक्षणं महदादीनां प्रकृतेः पुरुषस्य च।
स्वरूपं लभ्यतेऽमीषां येन तत्पारमार्थिकम्॥1॥

यथा सांख्येषु कथितं यन्मूलं तत्प्रचक्षते।
भक्तियोगस्य मे मार्ग ब्रूहि विस्तरशः प्रभो॥2॥

विरागो येन पुरुषो भगवान् सर्वतो भवेत्।
आचक्ष्व जीवलोकस्य विविधा मम संसृतीः॥3॥

कालेत्येश्वररूपस्य परेषां च परस्य ते।
स्वरूपं बत कुर्वन्ति यद्धेतोः कुशलं जनाः॥4॥

लोकस्य मिथ्याभिमतेरचक्षुष-
श्चिरं प्रसुप्तस्य तमस्यनाश्रये।
श्रान्तस्य कर्मस्वनुविद्धया धिया
त्वमाविरासीः किल योगभास्करः॥5॥
(श्रीमद्भागवत. 3/29/15)

स्वमातुर्वचः प्रतिनन्द्य महामुनिः कपिल आदौ भक्तियोगस्य स्वरूपमुवाच–

इति मातुर्वचः श्लक्ष्णं प्रतिनन्द्ये महामुनिः।
आवभाषे कुरुश्रेष्ठ प्रीतस्तां करुणार्दितः॥6॥

भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते॥7॥

अभिसंधाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः॥8॥
विषयानभिसंधाय यश ऐश्वर्यमेव वा।
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः॥9॥
कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः॥10॥
मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥11॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥12॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥13॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥14॥

(श्रीमद्भागवत-3/29/6-14)

भावोऽयं, स्वभाविभूता ये सत्त्वरजस्तमोगुणास्तेषां भेदेन भक्तिभावोऽपि भिद्यते। एवं भक्तानां त्रयो भेदा भवन्ति-(1) तामसः (2) राजसः (3) सात्त्विकश्च। यो भेददर्शी क्रोधी पुरुषो हृदये हिंसां, दम्भं मात्सर्यं वा सङ्कल्प्य भगवति प्रेम कुर्यात् स तामसो भक्तो भवति। यो जनो विषयाणां, यशस ऐश्वर्यस्य वा कामनया प्रतिमादौ भगक्तो भेदभावेन पूजनं करोति, स राजसो भक्तो भवति। यश्च कर्मनिर्हारमर्थात् पापक्षयं, भगवत्प्रीतिमुद्दिश्य परमेश्वरे कर्मार्पणं यष्टव्यमिति अर्थात् विधिसिद्ध्यर्थमुद्दिश्य यजते स सात्त्विको भक्तो भवति। तदेवं तामसादिभक्तिषु त्रयस्त्रयो भेदाः। तासु यथोत्तरं श्रैष्ठ्यम्। एवञ्च श्रवण- कीर्तनादयो नवापि प्रत्येकं नव नव भेदाः। तदेवं सगुणा भक्तिरेकाशीति (81) भेदा भवति।

निर्गुणा तु भक्तिरेकविधैव भवति। यथा हि गङ्गाप्रवाहोऽखण्डरूपेण समुद्रमभिगच्छति तथैव भगवद्गुणानां श्रवणमात्रेण मनोगत्यास्तैलधारावद् अविच्छिन्नरूपेण सर्वान्तर्यामिनं भगवन्तं प्रति अभिमुखीभवनं किञ्च भगवति पुरुषोत्तमे अहैतुकं (निष्कामं) भेददर्शनरहितं अनन्यं च प्रेम निर्गुणभक्तियोगः कथ्यते। निष्कामभक्ताः (निर्गुणभक्तियोगिनः) सालोक्य-सार्ष्टि- सामीप्य-सारूप्य-सायुज्यमोक्षं दीयमनिमपि न स्वीकुर्वन्ति। भगत्तसेवार्थं मुक्तिं तिरस्कुर्वाणोऽयं भक्तियोग एव परमपुरुषार्थोऽथवा परमं साध्यमुच्यते। अनेन जनस्त्रिगुणानतीत्य भगवद्भावायोपपद्यते। इत्थं निष्काम-

भक्तियोगः सर्वातिशायी वर्तते।

निष्कामभावेन श्रद्धापूर्वकं स्वधर्मपालनेन भक्तस्य चित्तम् अत्यन्तं शुद्धं सत् भगवद्- गुणश्रवणमात्रेण अनायासमेव भगवति संसक्तं जायते–

निषेवितेनानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्त्रेण नित्यशः।।15।।

मद्विष्ण्यदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवन्दनैः।
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासङ्गमेन च।।16।।

महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च।।17।।

आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसङ्कीर्तनाच्च मे।
आजीवेनार्यसङ्गेन निरहंक्रियया तथा।।18।।

मद्धर्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः।
पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम्।।19।।

(श्रीमद्भागवत-3/29/15-19)

यथा वायुना नीयमानो गन्धः स्वाश्रयात् पुष्पात् घ्राणेन्द्रियं यावत् प्राप्नोति तथैव भक्तियोगे तत्परं रागद्वेषादिविकारैः शून्यं चित्तं परमात्मानमाप्नोति। भगवान् आत्मरूपेण सर्वदा सर्वभूतेषु तिष्ठति, अतो यो जनाः सर्वभूतस्थं परमात्मानमनादृत्य केवलं प्रतिमायामेव तस्य पूजां करोति स तु दम्भमेव करोति। अथ च तस्यार्चानं भस्मनि हवनमिव व्यर्थमाभाति। यो भेददर्शी अभिमानी च पुरुषः परकाये द्वेष्टि प्राणिषु च बद्धवैरो भवति तस्य मनः कदापि शान्तिं न लभते। प्राणिसमूहस्यावमानी जनो यदि बहुभिर्द्रव्यैर्विविधैर्विधिभिश्च भगवतः प्रतिमायाः पूजनं कुर्यात्तदा-पीश्वरस्तस्मात्प्रसन्नो न भवति। मनुष्यः स्वकर्मानुष्ठानं कुर्वाणस्तावदेव प्रतिमादौ ईश्वरस्य पूजां कुर्याद् यावत् स स्वहृदये सर्वभूतस्थस्य परमात्मनोऽनुभवं न करोति। आत्मनः परमात्मनश्च मध्ये यो जनो मनागप्यन्तरं करोति तस्य भेददर्शिनः कृते भगवान् मृत्युरूपेण महान्तं भयमुपस्थापयति। अतः सम्पूर्णप्राणिषु कृतालयं सर्वभूतात्मानं परमेश्वरं जनो दानेन, मानेन, मैत्र्या समदृष्ट्या च पूजयेत्। तदेवोक्तम्-

यथा वातरथो घ्राणमावृङ्क्ते गन्ध आशयात्।
एवं योगरतं चेत आत्मानमविकारि यत्।।20।।

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्।।21।।

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।

हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः॥22॥

द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति॥23॥

अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः॥24॥

अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत्।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम्॥25॥

आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम्।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम्॥26॥

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा॥27॥

(श्रीमद्भागवत 3/29/20-27)

इतोऽग्रे भगवान् कपिलः भगवत्यर्पितात्मनः भगवति संन्यस्तकर्मणः, समदर्शनस्य अकर्तुर्भक्तस्य सर्वश्रेष्ठत्वं प्रतिपादयति। अजीवानां पाषाणादीनामपेक्षया वृक्षादयो जीवाः श्रेष्ठाः। 'अजीवा' इत्यस्य 'अचेतना' इत्यर्थः। जीवेभ्यः प्राणवृत्तिमन्तः श्रेष्ठाः। प्राणवृत्तिभ्यः सचित्ताः श्रेष्ठाः। इन्द्रियाणां वृत्तयो येषु ते जीवाः सचित्तेभ्यः श्रेष्ठाः। सेन्द्रियेषु प्राणिषु केवलं स्पर्शस्यैव अनुभवकर्तृभ्यो रसस्यानुभवकर्तारो मत्स्यादयः श्रेष्ठाः। रसवेदिभ्यो गन्धवेदिनो भ्रमरादय उत्कृष्टतराः। गन्धवेदिभ्यः शब्दविदः सर्पादय उत्कृष्टतराः। शब्दवेदिभ्यो रूपभेदवेदिनः काकादयः श्रेष्ठाः। उभयतो दन्ता येषां ते अश्वादयः प्राणिनः उत्कृष्टतराः। ततोऽपि अपादेभ्यो बहुपदाः श्रेष्ठाः। तेभ्योऽपि चतुष्पदाः श्रेष्ठाः। ततोऽपि श्रेष्ठो द्विपादो मनुष्येऽस्ति। मनुष्येष्वपि चत्वारो वर्णाः श्रेष्ठाः। चतुर्षु वर्णेषु ब्राह्मणः श्रेष्ठः। ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञः श्रेष्ठः। वेदज्ञेष्वपि स श्रेष्ठो यो वेदार्थं जानाति। अर्थज्ञेभ्योऽपि संशयच्छेत्तारः श्रेष्ठा भवन्ति। ततोऽपि स्ववर्णाश्रमोचितं कर्म कुर्वाणाः श्रेष्ठाः। ततोऽपि मुक्तसङ्गाः श्रेष्ठाः। ततोऽपि श्रेष्ठास्ते सन्ति ये धर्मं निष्कामभावेनाचरन्ति। तदपेक्षयापि ये जनाः स्वकर्म, तत्फलं स्वशरीरं च भगवत्येव अर्पयित्वा अकर्तारः समदर्शिनश्च भवन्ति। ते श्रेष्ठाः। एतादृशा एव जना भगवतः प्रियतमा भवन्ति।

अतः समस्तेषु जीवेषु भगवानेव जीवरूपेण प्रविष्टोऽस्तीति मन्यमानो जनः सर्वाणि भूतानि बहु मानयन् प्रणमेत्। गोस्वामिना श्रीतुलसीदासेनापीदमेवोक्तं 'श्रीरामचरितमानसे', यथा–

सीय राम मय सब जग जानी।

करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

इत्थं भगवता कपिलेन सर्वेषु प्राणिषु तस्य जनस्य श्रेष्ठत्वं साधितं यः कर्तृत्वाभिमानशून्यः सन् सर्वत्र परमेश्वरं पश्यति–

जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभूतः शुभे।
ततः सचित्ताः प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तयः॥28॥

तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः।
तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठास्ततः शब्दविदो वराः॥29॥

रूपभेदविदस्तत्र ततश्चोभयतोदतः।
तेषां बहुपदाः श्रेष्ठाश्चतुष्पादस्ततो द्विपयात्॥30॥

ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तमः।
ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः॥31॥

अर्थज्ञात्संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान् स्वकर्मकृत्।
मुक्तसङ्गस्ततो भूयानदोग्धा धर्ममात्मनः॥32॥

तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः।
मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः।
न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात्॥33॥

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥34॥

(श्रीमद्भाग. 3/29/29-34)

भक्तियोगश्च योगश्च मया मानव्युदीरितः।
ययोरेकतरेणैव पुरुषः पुरुषं व्रजेत्॥35॥

एतद्भगवतो रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः।
परं प्रधानपुरुषं दैवं कर्मविचेष्टितम्॥36॥

(श्रीमद्भागवत 3/29/35-36)

इत्थं भक्तियोगस्य अष्टाङ्गयोगस्य वा साधनेन जीवः परमपुरुषं परमात्मानं प्रपद्यते। इतोऽग्रे देवहूत्याः कालस्वरूपसम्बन्धिनं प्रश्नमुत्तरन् भगवान् कपिलः कालस्य निरूपणं करोति–

रूपभेदास्पदं दिव्यं काल इत्यभिधीयते।
भूतानां महदादीनां यतो भिन्नदृशां भयम्॥37॥

योऽन्तः प्रविश्य भूतानि भूतैरत्त्यखिलाश्रयः।

स विष्ण्वाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां प्रभुः।।38।।

न चास्य कश्चिद्दयितो न द्वेष्यो न च बान्धवः।
आविशत्यप्रमत्तोऽसौ प्रमत्तं जनमन्तकृत्।।39।।

यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात्।
यद्भयाद्वर्षते देवी भगणो भाति यद्भयात्।।40।।

यद्वनस्पतयो भीता लताश्चौषधिभिः सह।
स्वे स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च।।41।।

स्वन्ति सरितो भीता नोत्सर्पत्युदधिर्यतः।
अग्निरिन्धे सगिरिभिर्भूर्न मज्जति यद्भयात्।।42।।

नभो ददाति श्वसतां पदं यन्नियमाददः।
लोकं स्वदेहं तनुते महान् सप्तभिरावृतम्।।43।।

गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिवस्य यद्भयात्।
वर्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतच्चराचरम्।।44।।

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः।
जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनान्तकम्।।45।।

(श्रीमद्भागवत 3/29/37-45)

भगवतः परमात्मनः परब्रह्मणः अद्भुतप्रभावसम्पन्नः जागतिकपदार्थानां नानाविधस्य वैचित्र्यस्य हेतुभूतः स्वरूपविशेष एव 'काल' सञ्ज्ञया विख्यातोऽस्ति। प्रकृति-पुरुषौ अस्यैव रूपम्। एताभ्यामयं पृथगप्यस्ति। नानाप्रकारकाणां कर्मणां मूलमदृष्टमप्ययमेवास्ति। अस्मात् कालादेव महदादीनाम् अभिमानिनः भेददर्शिनः प्राणिनः बिभ्यति।

अयं कालो भूतानि अन्तः प्रविश्य भूतैरेव संहरति। अयमखिलाश्रयोऽस्ति। अयमेव विष्ण्वभिधेयो यज्ञफलदातास्ति। अयं वशीकुर्वतां ब्रह्मादीनामपि प्रभुरस्ति। अस्य कालस्य न तु कश्चित् सुहृदस्ति नापि शत्रुः, न चास्य कश्चिद् बान्धवोऽस्ति। अयं सर्वदा जागरूकोऽस्ति। स्वस्वरूपभूतं भगवन्तं विस्मृत्य भोगरूपेण प्रमादेन ग्रस्तं प्राणिनमाक्रम्य संहरति। कालस्य भयादेव वायुर्वाति; अस्यैव भयात् सूर्यस्तपति; अस्यैव भयाद् देवो वर्षति; अस्यैव भयात् नक्षत्राणि भान्ति; अस्यैव भयात् ओषधिभिः सहिता लता वनस्पतयश्च स्वे स्वे काले पुष्पाणि फलानि च धारयन्ति; अस्यैव भयाद् नद्यः प्रवहन्ति; अस्यैव भयात् समुद्रः स्वमर्यादां नोल्लङ्घति; अस्यैव भयादग्निर्दीप्यते; अस्यैव भयात् पर्वतैः सहिता पृथिवी जले न मज्जति। कालस्यैव शासनात् आकाशं जीवितानां प्राणिनां श्वासप्रश्वासार्थम् अवकाशं ददाति; अस्यैव नियमात् महत्तत्त्वम् अहङ्काररूपशरीरस्य सप्तभिरावरणैर्युक्तस्य ब्रह्माण्डस्य

रूपे विस्तारं कुरुते। कालस्यैव भयात् सत्त्वादिगुणानां निधायका ब्रह्मविष्णोदिदेवाः, यदधीनमिदं समस्तं चराचरात्मकं जगदस्ति, एव जगद्रचना-पालन-संहाररूपेषु कार्येषु युगक्रमेण तत्परास्तिष्ठन्ति अविनाशी कालः स्वयमनादिः परमन्येषामादिकर्तास्ति, स्वयमनन्तः सन्नप्यन्येषामन्तकशोऽस्ति। अयं पित्रायदिना पुत्रादिं जनयन्नादिकृदस्ति, स्वसंहारशक्तिरूपेण मृत्युना यमराजमपि मारयति।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

संस्कृतवाङ्मये आधुनिकनाटकेषु श्रीरामेश्वरदयालुविरचितं "शान्तामङ्गलम्" इति नाटकस्य प्रासङ्गिकता

मनोजकुमारः
शोधार्थी
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्,
जनकपुरी, नवदेहली

संस्कृतसाहित्यपरम्पराऽतीव विपुला, विस्तृता च वर्तते। यस्यान्तर्गतं नाटकं, महाकाव्यं, कथा, कविताऽऽदीनामन्तर्भावं भवति। काव्यमिदं दृश्यश्रव्य भेदयोः मुख्यतमं द्विविधं भवति। तत्र दृश्यकाव्यान्तर्गते 'नाटकम्' इत्यस्यान्तर्भावं भवति। किं भवति 'नाटकम्' इत्यस्मिन् विषये महत्त्वपूर्णमस्ति आचार्य धनञ्जयस्य कारिकेयं-

अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् (दशरूपकम्-1/7)

अस्य 'दृश्यमानता' इत्यनेन गुणविषेशेण नाटकमिदं रूपमित्यानया संज्ञयाऽपि ज्ञायते-

'रूपं दृश्यतयोच्यते' (दशरूपकम्-1/8)

तथा च यस्मिन् काले नटः रामादिणामनुकरणं करोति तस्मिन् काले वर्णनमिदं रूपकमिति नाम्ना ज्ञायते-

'रूपकं तत्समारोमात्' (दशरूपकम्-1/9)

तद्रूपकमिदं दशविधं वर्तते। तद्यथा-

दशधैव रसाश्रयम्। (दशरूपकम्-1/8)

अनेन ज्ञायते यद्रूपकमिदं रसाश्रितं भवति। तद्रुपकस्यास्य दशभेदाः यथा सन्ति-

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति। (दशरूपकम्-1/8)

ऐतेषु दशभेदेषु प्रथमोऽस्ति नाटकम्। तत्र नाटकं प्रथमं प्रतिपादयन् कथयति आचार्यः -

प्रकृतित्वादथन्येषां भूयो रसपरिग्रहात्
सम्पूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते॥ (दशरूपकम्-3/1)

तत्रायं नाटकोत्पत्तिः कदा बभूव इत्यस्मिन् विषये विदुषां मतेषु ऐक्यं नैव वर्तते। यतो हि भारतीयविद्वांसः तु वेदेभ्य एव स्वीकुर्वन्ति नाटकोत्पत्तिः। परञ्च पाश्चात्यविद्वांसः तु लोकादेवास्योत्पत्तिः स्वीकुर्वन्ति।

लौकिकसंस्कृतसाहित्ये महाकविः भासः वर्तते प्रथम नाटककारः। अस्यानन्तरं शूद्रकः, कालिदासः, भवभूतिः प्रभृतय अनेके काव्यकाराणां नाट्यरचनाः साहित्य-क्षेत्रेऽस्मिन् प्रसिद्धा एव वर्तन्ते।

आधुनिककालेऽपि अम्बिकादत्तव्यासः, मूलशंकरयाज्ञिकः, मथुरानाथदीक्षितः आचार्य राधावल्लभः, आचार्य अभिराजराजेन्द्रमिश्रः प्रभृतयः नाटककाराः सन्ति, येषां रचनाः साम्प्रतिककाले प्रसिद्धाः सन्ति। एतेषु एव रचनाकारेषु समुपस्थितोऽस्ति श्री रामेश्वरदयालु महोदयः। येषां विरचितं 'शान्तामङ्गलम्' इति नाटकं प्रसिद्धं, महत्त्वपूर्णञ्च वर्तते। नाटकेऽस्मिन् सप्ताङ्काः सन्ति।

अस्मिन् नाटके प्रकृतेः अलौकिकं सौन्दर्यं वर्णितं वर्तते। येषां वर्णनप्रसङ्गे कविनाऽत्र विविधालंकार-समासादिनां प्रयोगं विस्ताररूपेण विहितम्। अर्वाचीननाटकेषु नाट्यरचनेयम् अद्वितीया वर्तते।

नाटकस्य निर्माणाय येषां तत्त्वानां आवश्यकता वर्तते तानि सर्वाणि पूर्णत्वेनात्र समुपलभ्यते। साहित्यशास्त्रस्य सर्वेषां सैद्धान्तिक-तत्त्वानामनुपालनं नाटकेऽस्मिन् नाटककारेण कृतम्। अत्र पात्रेभ्यः प्रस्तुता संवादशैली अपि अतिविशिष्टा वर्तते। यत्र शब्दानां चयनं अभिनयस्यानुकूल्यं वर्तते। यथार्थघटनानां सामान्यवर्णनमपि नाटकस्यास्य शोभां वितनोति।

तद्यथा एकस्मिन् वर्णने यत्र राजारोमपादेन श्रृङ्गीमानेतुं चपला-विमला नाम्ना वेश्याः वनं प्रति प्रेषिताः। यत्र स स्वपितुः विभाण्डकेन सह निवसति स्मः। तत्र यदा विभाण्डकः श्रृङ्गीमपहाय परशुरामस्य यज्ञे हिमाचलराज्यस्य किन्नरक्षेत्रं (वर्तमाने किन्नौर) प्रति गन्तुं प्रवर्तितो वर्तते, तदाऽवसरं दृष्ट्वा कथयति चपला-

नाऽऽयान्ति यौवनधनानि विनिर्गतानि
वृक्षोज्झितानि न फलानि पुनर्लगन्ति।
भूयो भवन्ति हरिता न हि शुष्कधानाः
हस्तच्युता अवसरा न पुनर्मिलन्ति॥ (शा.म.-6/74)

वसन्ततिलका वृत्तौऽस्मिन् दृष्टान्तालङ्कारस्य यथार्थ वर्णनं वर्तते। यत्र स श्रृङ्गीमङ्गदेशं प्रति नेतुं प्रेरयति चपला।

शान्ताश्रृङ्गयोः विवाहप्रसङ्गे विभाण्डकं प्रति राजा रोमपादस्य प्रायश्चितमिदं सहृदयानामन्तःकरणे आनन्दमुत्पादयति। यत्र प्रायश्चित रूपे रोमपादः स्वकन्याशान्तायाः विवाहं श्रृङ्गेण सह कर्तुमुत्सुकः भवति-

स्वभावशान्ता मम कन्यकेयम्,
सुतस्तवायं किलशान्तिमूर्तिः।
अस्याः करं चास्य करे समर्प्य,
ब्रजामि शान्तिं मनसाप्यगम्याम्॥ (शा.म.-7/111)

रोमपादस्य राज्ये जायमाना अनार्वष्टेः कारणात् अन्नादि सर्वाणि साधनानि विनष्टानि जाताति, अङ्गराज्ये सर्वत्र सर्वेषां संसाधनानामभावोऽभवत्, येषां कारणेन तत्रनेके व्याधयः समुत्पन्ना जाता। व्याधि-बुभुक्षा कारणेन जना अकालमृत्युमुपगताः। एतस्मिन् विषये वसन्ततिलका छन्दसि माध्यमेन वृत्तान्तमिदमुपस्थापयति राजा रोमपादः-

वर्षन्ति भास्करकरा ज्वलिता फुलिङ्गिन्,
भूः सर्वतस्तपति लौहकटाहतुल्या।
देहं दहन्ति मरूतो जडजङ्गमानाम्,
नीरं स्वयं कलति भूरिनृषा तृषापि॥ (शा.म.-4/44)

नाटकेऽस्मिन् करूणोऽस्ति प्रधानरसः। तद्यथा बुभुक्षा-पिपासयोः पीडितजनानां पीडा इयं हृदये वेदनामुत्पादयति तथा च राजां प्रति तेषामाशायाः दर्शनमत्रोपस्थापयति-

अन्नं नास्ति जलं नास्ति, नास्ति द्रव्यं प्रतिक्रिया।
क्व गच्छेम वयं सर्वे, रोमपादोस्तु नो गतिः॥ (शा.म.-5/55)

अनेन प्रकारेण नाटकेस्मिन् समाजस्य तत्कालीनसामाजिक-राजनीतिकपरिस्थितेः तेषां समस्यानां च वर्णनमत्र जायते, येषां समाधाने राजाऽपि स्वस्य सर्वं समर्पितुं तत्परः भवति स्मः। इदं सर्वं सम्प्रति अद्यतनीय शासनव्यवस्थायां कृते आदर्शरूपेण समुपस्थिता जायते।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

व्याकरणशास्त्रे शब्दः प्रमाणम्

डॉ. सुरेश पाण्डेय
सहायकाचार्य, गंगानाथ झा परिसर
इलाहाबाद

इदानीं शब्दाख्यं प्रमाणं निरूपयामः। एतद्विषये सन्ति वादिनां बहवः पक्षाः तत्र केचन शब्दं सर्वथैव प्रमाणं न मन्यन्ते। यथा चार्वाकाः। अपरे पुनः शब्दस्य प्रामाण्यमिच्छन्तोऽपि न तस्य पृथक् प्रामाण्यमातिष्ठन्ते अपितु अनुमानविधया। इतरे पुनः शब्दाख्यं स्वतन्त्रं (अतिरिक्तं) प्रमाणमुर-रीकुर्वन्ति यथा नैयायिकादयः। अस्मिन्पक्षत्रये शाब्दिकास्तावत् चरममेव पक्षं समाद्रियन्ते किं बहुना इदं प्रमाणं शाब्दिकानां हृदयमेव। यदाह भगवान्पतञ्जलिः शब्द प्रमाणका वयम् यच्छब्द आह-तदस्माकं प्रमाणमिति[1], तदशिष्यं संज्ञा प्रमाणत्वात्[2], इति सूत्रयता पाणिनिना, लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्म नियम; क्रियते, इति वदता वार्तिककृता च स्फुटमेव शब्दस्य प्रामाण्यं स्वीक्रियते यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणमिति वदता भाष्यकृतापिशब्दस्य प्रामाण्यं सुष्ठु व्यवस्थापितम्। वाक्यपदीये हरिणापि[3] शब्द प्रामाण्यं बहु समर्थितम्। इत्थञ्च शब्द प्रामाण्यविषयेऽस्ति शाब्दिकाचार्याणां पूर्णसम्मतिः।

कीदृशस्य शब्दस्य प्रामाण्यम्

यद्यपि शब्दः प्रमाणमिति कथनेन शब्दमात्रस्य प्रमाण्यं प्रतीयते। तथापि नैतदस्ति नहि शब्दमात्रं भवति प्रमाणमपितु शब्द विशेष एव। यदाह भाष्यकारः प्रमत्तगीत एष तत्र भवतः यस्त्वप्रमत्तगीतः स प्रमाणमिति।[4] इदमत्र ध्येयं यत् अन्यद् शब्दस्य प्रमाणत्वम्। अन्यच्च बोधजनकत्वं तत्र बोधजनकत्वं भवेन्नाम यस्य कस्यापि शब्दस्य प्रमाजकत्वरूपं प्रमाणत्वन्तु न सर्वस्य शब्दस्य, अपितु अप्रमत्त-गीतस्यैव इदञ्चाप्रमत्तगीतत्वं आप्तोच्चरितत्त्वे एव पर्यवस्यति। एवञ्चाप्तोच्चरितः शब्दः प्रमाणमिति फलितम्। वेदस्य पौरुषेयत्ववादे आप्तेन उच्चरितत्व रूप

---

1. म.भा.पस्प. 1।1।1।।
2. पा.सू. 1।2।53।।
3. वा.प. 1।35-44-50।।
4. म.भा.पस्प.।।

आप्तोच्चरितत्वं वेदेऽपि अव्याहतमेव तस्य अपौरुषेयवत्ववादे तु आप्तोच्चरित इत्यत्र, उपर्युक्तभाष्ये अप्रमत्तगीत इत्यत्र च तृतीया तत्पुरुषस्येव समानाधिकरण तत्पुरुषस्य (कर्मधारयस्य) अपि स्वीकारेण वेदस्य प्रामाण्यं निर्वहति।

आप्तलक्षणम्

अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कात्स्न्र्येन निश्चयवान् रागादिवशादपि नान्यथा वादी यः सः इति आप्तस्वरूपमुट्टङ्कितं पतञ्जलिना। अन्यत्रापि आप्तलक्षणं दृश्यते तद्यथा भ्रमप्रमाद विप्रलिप्सा शून्यत्वमाप्तत्त्वमिति। अत्र भ्रमः, अर्थविषयको वोध्यः। प्रमादः शब्दविषयकः। विप्रलिप्सा प्रतारणा। इत्थञ्च अर्थविषये भ्रान्तः। शब्दविषये अप्रमत्तः (कञ्चिच्छब्दमुच्चारयितुं प्रवृत्तः प्रमादवशेन) (अनवधानतया) तत्थाने शब्दान्तरं यत्प्रयुङ्क्ते स शब्दविषये प्रमत्तः यस्तु न तथा सोऽप्रमत्तः) वंचना शून्यः योऽर्थं शब्दञ्च सम्यग् जानन्नपि परं वञ्चयितुं अन्यथा प्रयुङ्क्ते स वंचना शीलःय यस्तु न तथा च स आप्तः यस्त्वप्रमत्तगीतः, इति वदता महाभाष्यकृतापि अप्रमत्त इत्यनेनेदमेव आप्तस्वरूप सूचितम्। अत्र भाष्ये प्रमत्तपदं भ्रान्तवंचकयोरप्युपलक्षणम्। अनुभवेनेत्यादि पतञ्जल्युक्तमाप्त-लक्षणमपि अत्रैव पर्यवस्यति तथा ह्युक्त लक्षणे वस्तुतत्त्वस्य कात्स्र्नेन निश्चयवान् इत्यनेन भ्रमशून्यता बोध्यते। रागादिवशादपि नान्यथावादी इति कथनेन प्रमादविप्रलिप्से निराक्रियेते। रागादीत्यत्र आदि पदैनतयो-र्ग्रहणस्य वक्तुं शक्यत्वात्। तर्कसंग्रहे अन्नम भट्टेन 'आप्तस्तु यथार्थ वक्ता', इति उदीरितम्। इदञ्च लक्षणमुपर्य्युक्तलक्षणद्वयस्य फलितार्थप्रतिपादकमेव।

शब्दस्य ज्ञातस्य स्वरूपसतो वा प्रमाजनकत्वम् :

अथ शब्दः यां प्रमां जनयति तस्या किं स्वरूपम्? कथञ्च तत्र शब्दो जनकः? कानि च अन्यानि सहकारीणि तत्रापेक्ष्यन्ते इत्यादिकं विचारयामः। तत्र शब्दः प्रमाणमिति कथनेन शब्दः प्रमायाः जनको भवतीति स्फुटमेव परन्तु नायं शब्दः स्वरूपसन् (सत्तामात्रेण) प्रमां जनयति, अपितु ज्ञान; सन्नेव। तच्च ज्ञानं श्रावण-प्रत्यक्षात्मकमेव प्रत्यक्षान्तरस्य शब्देऽसम्भवात् प्रत्यक्षातिरिक्तस्य स्मृत्याद्यात्मकस्य ज्ञानस्य सम्भवेऽपि तेन शाब्दबोधानुत्पादनात् यदाह भगवान् भाष्यकृत् "ह्रस्व सम्प्रत्ययादिति चेदुच्चार्यमाणः शब्दः सम्प्रत्यायको भवति न सम्प्रतीयमान"[1] इति। अत्र उच्चार्यमाणत्वस्य श्रूयमाणतायामेव पर्यवसानम् उच्चारणस्य श्रवणे प्रयोजकत्वात्। श्रवणाभावे केवलस्योच्चारणस्याकिञ्चित्करत्वाच्च। सप्रतीयमान इत्यस्य स्मृत्यादि विषय इत्यर्थः। एष एवाशयः स्फोरितः लघुमञ्जुषायां श्री नागोजिभट्टेन "यथा

---

1. म.भा. 1।1।68।।

घ्राणेन्द्रियगृहीतस्यैव गन्धस्य सुखादिजनकत्वम्, यथा च महतः पटहादिशब्दस्य कर्णपीडाजनकत्वं श्रुतस्यैव न स्मृतस्य, तथा पदानां बोधजनकत्वं श्रुतानामेव न यथा कथं चित्प्रतीतानाम्"[1] इति। इदञ्च वाह्यस्फोटस्य अर्थात् श्रोत्रेण ग्राह्यस्य बोधजनकत्वमिति मते सूचितञ्चैतन्मतम्[2]। आन्तरस्फोटस्य (मध्यमात्मकस्य-शब्दस्य) एव बोधजनकत्वमिति पक्षे पुनः या सरणी शाब्दिकानामभिमता सा अग्रे उपस्थापयिष्यमाणेन स्फोटविषयकविवेचनेन स्फुटतामायास्यति। एतावता विवेचितेन शब्दस्य बोधजनकत्व विषये शाब्दिकमतं प्रकाशितम्। अत्र विषये अन्यावपि वादिनां द्वौ पक्षौ स्तः। तत्र केचन ज्ञायमानस्य शब्दस्य बोधजनकत्वं वांच्छन्ति[3]। एतद्रीत्या ज्ञानविषयः शब्दः बोधजनक इति शब्दसत्ता अपेक्ष्यते। अपरे पुनः शब्दस्य ज्ञानमेव बोधजनकं मन्वते न तु ज्ञायमानं शब्दम्। एतद्रीत्या शब्दस्यासत्वेऽपि तज्ज्ञानस्य सत्वे शाब्दबोधः उपपद्यते। तत्र आद्ये पक्षे द्वितीयपक्षवादिनः इत्थमाक्षिपन्ति यद् ज्ञायमानस्य शब्दस्य बोधजनकत्वे मौनिश्लोकादितः बोधः अनुपपन्नः। तत्रोच्चारणभावेन, शब्दस्य चोच्चारणसत्ताधीनसत्ताकत्वेन नास्ति शब्दस्य सत्ता। ज्ञानन्तु तस्य अस्त्येवेति। इत्थञ्चास्मिन्पक्षे (द्वितीय पक्षे) स्मृत्याद्यात्म-कमपि शब्दज्ञानं शाब्दबोधप्रयोजकं स्वीक्रियते। उक्त स्थले (मौनिश्लोकादौ) इदृशस्यैव तस्य सम्भवात्। समर्थितश्चायं पक्षः आद्यपक्षनिरसनपुरस्सरं न्याय सिद्धान्तमुक्तावल्यां शब्दखण्डे विश्वनाथेन।

इदमत्र ध्येयम्। यद्यपि महता संरम्भेण नव्यतार्किकैः पदज्ञानस्य बोधजकत्वं व्यवस्थापितम् तथापि नैतच्छाव्दिकैरवश्यमादरणीयम्। यतः शाब्दिकमते स्मृत्याद्यात्मकं शब्दज्ञानं नैवभवति शाब्दबोधे प्रयोजकम् अपितु प्रत्यक्षमेव। तच्च श्रावणमेवेति यदा शब्दस्य श्रावणं प्रत्यक्षं तदैव शाब्दबोधः। तदानीञ्च शब्देनावश्यं भवितव्यमेवेति श्रूयमाणस्य शब्दस्यैव बोधजनकत्वाङ्गीकारै शाब्दिकनये न कापि क्षतिः। मौनिश्लोकादौ तु यदि केवलं शब्दस्य स्मरणमेव तदा नैवेष्यते तत्र शाब्दो बोधः, अपितु मानसः सः। वस्तुतस्तत्रापि अस्त्येव शब्दस्यसूक्ष्मोच्चरणम्। तद्द्वारा स्वमात्रनिष्ठं श्रवणञ्चेति भवत्येव श्रूयमाण शब्दसत्ता।

शब्दप्रमाणे व्यापारः

शब्दः प्रमाणम्। अर्थात् प्रमायाः करणमित्युक्तम्। तत्र करणस्य व्यापारनियतत्त्वेनेदानीं व्यापारौ विचार्यते। अत्र विषये पक्षद्वयं जागर्ति। वृत्त्या पदजन्यपदार्थज्ञानं शाब्दबोधे व्यापारः इत्येकः पक्षः। एषा ह्यत्र प्रक्रिया। आदौ पदश्रवणं ततः पदार्थज्ञानं

---

1. वै.सि. ल.म. पृ.सं. 129।।
2. म.भा. पस्प. ।।
3. अयं पक्षः उदयनाचार्याणां सम्मतः।।

ततो वाक्यार्थज्ञानं एष एव शाब्दबोध इति इह विवक्षितः। तत्र एकसम्बन्धिज्ञानमपर-सम्बन्धिनं स्मारयतीति विधया पदज्ञानं भजति पदार्थज्ञाने हेतुताम्। अस्ति हि वृत्त्या-त्मकेन सम्बन्धेन पदार्थः पदस्य सम्बन्धी। तच्च पदार्थज्ञानं अग्रे शाब्दबोधं (वाक्यार्थ-बोधं) इति जनयतीति भवत्यस्य तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वरूपं व्यापारत्वम्। सम्मता च पदार्थज्ञानस्य शाब्दबोधे हेतुता (व्यापारता) महाभाष्यकाराणाम्। तथा च भाष्यम "वर्णानामुपदेशस्तावत् उपदेशोत्तरकाला इत्संज्ञा, इत्संज्ञोत्तरकाल 'आदिरन्त्येन सहेता', इति प्रत्याहारः, प्रत्याहारोत्तर काल सवर्णसंज्ञा, सवर्णसंज्ञोत्तरकालमणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय इति। सैषोपदेशोत्तरकालाऽवरकाला सती वर्णानामुत्पत्तौ निमित्तत्वाय कल्पयिष्यते इत्येतत्र"[1]। अत्रोद्योते नागेशः "अवर कालैवेति-- वाक्यार्थ ज्ञाने पदार्थज्ञानस्य कारणत्वादिति भावः"। हरेरपि सम्मतोऽयं पक्षः यदाह सः।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति हेतवः[2]।

वैयाकरण भूषणसारकर्तुः कौण्डभट्टस्यापि अस्त्येव सम्मतिरत्र पक्षे यल्लिखति सः "विषयतया शाब्दबोधं प्रति तदंशविषयक वृत्तिजन्योपस्थितिर्हेतुरिति वाच्यम्[3]"।

परमत्रेदमवधेयम्। यद् पदार्थज्ञानं न, येन केनापि सम्बन्धेन सम्बन्धिनोऽर्थ-स्यज्ञानम्, अपितु वृत्त्यात्मकेन सम्बन्धेनैव। स च सम्बन्धो ज्ञात एवोपयुज्यते न स्वरूपसन्। ध्वनितं चैतदुक्तभाष्ये अणुदित्सवर्णस्येति वाक्यार्थ-बोधकारणीभूतं पदार्थ-ज्ञानमुपपादयितु तत्तत्पदशक्तिग्राहकमादिरन्त्येनेति संज्ञासूत्रमुद्धरता भाष्यकृता। इत्थञ्च वृत्तिज्ञानप्रयोज्यं पदज्ञानजन्यं पदार्थज्ञानं व्यापार इति स्थितम्।

पदज्ञानोद्बुद्ध-पदार्थविषयकः संस्कार; पदज्ञानप्रयोज्यः पदार्थविषयकसंस्कारोद्बोध एव वा शाब्दबोधे कारणम् (व्यापारः) इति द्वितीयः पक्षः। सम्मतश्चायं वैयाकरण-मूर्धन्यस्य श्री नागेश भट्टस्य। एतन्मते हि पदार्थोपस्थितिर्न शाब्दबोधे कारणम्, अपितु पदज्ञानोद्बुद्धः-पदार्थ-विषयकः संस्कार एव। पदज्ञानेन पदार्थ-विषयकः संस्कारः उद्बोध्यते ततः शाब्दबोधः। मध्ये पदार्थोपस्थितिर्नापेक्ष्यते इति भावः। प्रपञ्चितञ्चैतद् वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषायां भट्टमहाभागेन। एतद्रीत्या यद्यपि संस्कारभास्यपदज्ञानजन्यत्वं नास्ति। न हि पदज्ञानेनोक्तः संस्कारो जन्यते, अपितूद्बो-ध्यते। तथापि उद्बोधस्य पदज्ञानजन्यत्वे तद्विशिष्टे संस्कारेऽपि तस्यारोपेण पदज्ञान-जन्यत्वमुपपादयितुं शक्यते संस्कारे इति व्यापारत्वं संघटत एव संस्कारस्य। तत्सर्व-मालोच्यैव संस्कारोद्बोध एव वा व्यापार इति पक्षान्तरं निर्दिष्टमुपरि। एतत्पक्षे उद्बोधस्य सुतरां पदज्ञानजन्यत्वेनारोप क्लेशो न कर्तव्यो भवति।

---

1. म.भा. 1।1।67।।
2. वा.प. 2।318।।
3. वै.भू. सा. श. नि. सं. 197।।

अस्मिन्व्यापारविषयके पक्षद्वयेऽपि वृत्तिज्ञानमपेक्ष्यते एव। वृत्तिरूपस्य सम्बन्धस्य महिम्नैव भवति पदज्ञानं पदार्थविषयक संस्कारोद्बोधकम्। तद्वारा (संस्कारोद्बोधद्वारा) पदार्थस्मारकञ्च। इष्टञ्चैतन्महिम्ना उद्बुद्धस्य संस्कारस्यैव, जातस्य स्मरणस्यैव शाब्दबोधे कारणत्वम्।

वृत्तिस्वरूपम्

अथ एषा वृत्तिः निरूप्यते। शाब्दबोधोपयोगी पदपदार्थसम्बन्धो वृत्तिः। शाब्द-बोधानुकूल-पदार्थज्ञानप्रयोजक-ज्ञानविषयः-पदपदार्थयोः सम्बन्ध विशेषो वृत्तिरिति यावत्। इदं वृत्तेः स्वरूपं ध्वनितं महाभाष्ये तथाहि-हलोऽनन्तराः[1] संयोगः इति सूत्रे भाष्यम् "ग्राम शब्दोऽयं बह्वर्थः। अस्त्येव शाला समुदाये वर्तते, तद्यथा ग्रामो दग्ध इति-तद्यः सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते, तमभिसमीक्ष्यैतत्प्रयुज्यतेअनन्तरा-विमौ ग्रामाविति" अत्र अस्त्येव शालासमूहे वर्तते इत्यत्र वर्तत इत्यस्य वृत्तिरित्यर्थः। धात्वर्थमानं विवक्षितम्, लडर्थस्त्वविवक्षितः। अन्यथा अस्तीत्यस्य प्रयोगो व्यर्थः स्यात् वर्तत इत्यनेन गतार्थत्वात्। इत्थञ्च ग्रामशब्दस्य शालासमूहे प्रवृत्तिरस्तीति उक्त भाष्य वाक्यस्यार्थः। एष एवार्थः स्वीकृतः अत्रोद्योते नागेश भट्टेन। इत्थञ्च शब्दस्यार्थे वृत्ति नामकः कश्चित् सम्बन्धः अस्तीति उक्त भाष्यात्स्फुटं निःसरति।

वृत्तिभेदाः

इयं च वृत्तिर्मतमतान्तरेण चतुर्विधा शक्तिः (अमिधा) लक्षणा, व्यञ्जना, तात्पर्याख्या। तत्र शक्तिव्यञ्जने द्वे एव वृत्ती मुख्यतया शाब्दिक सिद्धान्तसिद्धे। इदं वृत्तिद्वयमपि सूचितम्-

द्योतिका वाचिका वा स्युर्द्वित्वादीनां विभक्तयः[2]

इति कारिकांशेन वाक्यपदीयकृता अत्र द्योतकत्वमेव व्यञ्जना, वाचकत्वमेव च शक्तिः। लक्षणा तु शक्त्यैव गतार्थ्यते शाब्दिकैः। एतच्च लक्षणानिरूपणावसरे स्फुटो भविष्यति। नागेशेन तु मतान्तर परतया "सा च वृत्तिस्त्रिधा शक्तिर्लक्षणा व्यञ्जना चेति" वैयाकरण सिद्धान्त लघुमञ्जूषायां लिखिता लक्षणा पृथक्परिगणिता। गतार्थिता चाग्रे (लक्षणा प्रकरणे) परे तु "आरोपित शक्यताच्छेदकरूपेण शक्त्यैव" इत्यादि वदता तेनैव शक्त्या सा। तात्पर्याख्यां वृत्तिं केचन वाञ्छन्ति अतिरिक्तम्[3]।

---

1. पा.सू. 1।1।7।।
2. वा.प. 3।100।।
   वाचिका द्योतिका वा पि सङ्ख्यानां या विभक्तयः। (पाठभेदो त्रास्ति)।।
3. तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वय-बोधने।
   तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे।। सा.द.द्वि. परिच्छेद का. 20।।

कैश्चित्तु शक्तिर्लक्षणेति वृत्तिद्वयमेवष्यते नेष्यते व्यञ्जना, यथा नैयायिकादिभिः।

शक्तिः

अत्र विषये शाब्दिकाः परस्परमेव विवदन्ते। तत्र सूत्रभाष्यादि पर्य्यालोचनेन पदपदार्थयोस्तादात्म्यं (तादात्म्याख्यः सम्बन्धः) शक्तिरिति प्रतीयते। तथा हि बृद्धि-रादैच्[1], इत्यादि सूत्रेण सूत्रकारः संज्ञासंज्ञिनोः तादात्म्येन प्रयोगं करोति, यथा नीलो घट इत्युक्ते विशेषणविशेष्योः नीलपदार्थ घटपदार्थयोस्तादात्म्यं परिस्फुरति। एवं बृद्धि-रादैच् इत्यादौ संज्ञासंज्ञिनोरपि। स्फोरितश्चायं विषयः अत्रैव सूत्रे "द्वयोरेव समाना-धिकरण्यं विशेषण विशेष्ययोर्वा संज्ञासज्ञिनोर्वा"[2] इति वदता महाभाष्यकृता। एतद्भाष्यं वचक्षाणेन उद्योतकृता तु पूर्णतया स्फुटतां नीत एष पक्षः तादात्म्यमेव शब्दार्थयोः शक्तिः"। वाक्यपदीय व्याख्यायां हेलाराजोऽपि तादात्म्यरूपं पदपदार्थयोः सम्बन्धं (शक्तिम्) उरीकरोति यल्लिखति सः "तादात्म्यमेव शब्दार्थयोः सम्बन्धो नादाभि-व्यक्तस्यान्तः करण सन्निवेशिनः शब्दस्यार्थ बोधने कारणम्"[3]।।

भट्टोजिदीक्षितप्रभृतयो वैयाकरणाः शब्दनिष्ठां बोधजनकतामेव शक्तिं मन्वते। एष एव पक्षः उपस्थापितो वैयाकरणभूषणसारे शक्ति-प्रकरणे श्री कौण्डभट्टेन। औपन्यस्ता चैतत्पक्षपोषकतयैषा हरिकारिका-

इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरथैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा[4]।।

एतन्मतानुसारं हरिरपि बोधजनकतारूपामेव शक्तिम्मन्यते। श्री नागेशेन तु अन्यथैव (स्वमतपरतया) इयं कारिका व्याख्यायते। वस्तु तोऽन्यत्र विषये श्रीमतो हरेः किं हृदयमिति स एव जानातु।

लघुमञ्जूषायां श्री नागेशभट्टेन तु इदं पक्षद्वयमपि अनाद्रित्य तृतीयः पक्षो व्यवस्थापितः। एतदनुसारं तादात्म्यबोधजनकत्वाभ्यामतिरिक्तः कश्चिद्विलक्षण एव पदपदार्थयोः सम्बन्धः शक्तिः। एष एव वाच्य वाचकभाव इत्यप्युच्यते[5]। अखण्ड-श्चायं न तु निरूपितवाचकतादिरूपः। तादात्म्यन्तु अस्याः शक्तेः ग्राहकम् न तु तदेव शक्तिः। निरूपितवाचकतादिरूपः।

---

1. पा.सू. 1।1।1।।
2. म.भा.पस्प. 1।1।1।।
3. वा. प. 1।24।26।।
4. वा. प. 3।3।29।।
5. व. सि. ल. म. श. नि.।।

यद्यप्यत्र विषये सन्ति विभिन्नानां दार्शनिकानां अतोऽप्यन्ते बहवः पक्षास्तथापि नेह तेषामुपस्थापनमावश्यकम्मन्यामहे। शाब्दिकानां पक्षास्तावदालोचिता एव।

लक्षणा

यद्यपि शाब्दिकैः लक्षणाख्या काचिदतिरिक्ता वृत्तिर्नाभ्युपगम्यते। तथापि अन्याभिमतलक्षणास्थले या सरणी तैराश्रीयते सैवेह प्रकाश्यते सैव लक्षणेत्यपि व्यवह्रियताम्।

शक्यतावच्छेदकारोपो लक्षणा, यथा गङ्गायां घोष इत्यादौ गङ्गात्वस्य तीरे आरोप इति गङ्गात्वेनैव तीरबोधः। तदाह लघुशब्देन्दु शेखरे कारकप्रकरणे प्रातिपदिकार्थ[1] इति सूत्रे नागेशः। "शक्यतावच्छेदकारोप एव च लक्षणा" ईदृश स्थले भाष्यकारोऽपि शक्यतावच्छेदकारोपं मन्यते यल्लिखत्यसौ पुँयोगादाख्यायामिति[2] सूत्रे भाष्ये नावश्य-मयमेवाभिसम्बन्धो भवति-तस्येदमिति, अयमप्यभिसम्बन्धो भवति-सोऽयमिति। कथं पनुरतस्मिन् सः इत्येतद्भवति? चतुर्भिः प्रकारैरतस्मिन् सः इत्येतद्भवति-तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात्, तत्साहचर्यादिति। तात्स्थ्यात्तावत्मञ्चा हसन्ति, गिरिर्दह्यते। ताद्धर्म्यात् जटिनं यान्तं ब्रह्मदत्त इत्याह। ब्रह्मदत्ते यानि कार्याणि जटिन्यपि तानि क्रियन्त इत्यतो जटी ब्रह्मदत्त इत्युच्यते।। तत्सामीप्याद्-गङ्गायां घोषः, कूपे गर्गकुलम्।। तत्साहचर्यात् कुन्तान् प्रवेशय, यष्टीः, प्रवेशयेति[3]।

स्फोरितश्चैतद्भाष्याशयः अत्रत्ये प्रदीपे कैयटेन "आरोप्यते ताद्रूप्यं न तु मुखम्, बालेषु मञ्चत्वारोपाद् मञ्चपदप्रवृत्तिः हसन्तीति पदान्तरप्रयोगाद् विज्ञायते"। हरिणापि एष पन्था दर्शितः।

गोत्वानुषङ्गो वाहीके निमित्तात्कैश्चिदिष्यते।
अर्थमात्रं विपर्यस्तं शब्दः स्वार्थे व्यवस्थितः[4]।

अस्याः कारिकाया एषोऽभिप्रायो यद् केश्चिद् (शाब्दिकैः) निमित्ताज्जाड्यादेर्वाहीके गोत्वस्यानुषङ्गः आरोपः इष्यते। एतेनेदमपि बोधितं यत् शक्यतावच्छेदकस्य न यत्र कुत्राप्यारोप; अपितु शक्यसम्बद्ध एवार्थे। एतच्च निमित्ता दित्यनेन सूचितम्। उपर्युक्त भाष्ये तात्स्थ्यात् ताद्धर्म्यात् इत्यादिनापि सूचितमेतद।

अथ कोऽयमारोप इति विचारयामः। उक्त भाष्ये "एतस्मिन् स इति भवति" इत्युक्त्या तच्छून्ये तन्मतिरारोप इति लभ्यते। स चायमारोपो द्विविधः

---

1. पा. सू. 1।3।46।।
2. पा. सू. 4।1।48।।
3. म. भा. 4।1।48 पृ. स. 326।।
4. वा.प. 2।257।।

अनाहार्यः, आहार्यश्च। तत्र अनाहार्यः भम रूप एव। आहार्यस्तु वाधकालिकेच्छा जन्यः, स्वविरोधिधर्मधर्मितावच्छेदकक: स्व प्रकारको वा। यथा रजतत्व विशिष्टं (रजतत्वेन ज्ञातम्) शुक्तित्वेन ज्ञास्यामि इतीक्षाजन्यं रजते शुक्तिरितिज्ञानम्। लक्षणा-स्थलेऽपि एष एवारोपः। सूचितश्च लक्षणास्थले आहार्य्यारोपः। "नावश्यमयमेवाभि-सम्बन्धो भवति तस्येदमिति अयमप्यभिसम्बन्धो भवति सोऽयमिति", इत्यादिना भाष्यकृता अत्र भाष्ये अयमपि नावश्यमिति अशद्वयस्वारस्येन यः तस्येदमित्यभि-सम्बन्धस्य विषय स एव भवति सोऽयमित्यभिसम्बन्धस्यापि विषय इति प्रतीयते। इत्थञ्च आहार्यारोप एव सूच्यते। अनाहार्यारोपे (भ्रमे) तु सोऽयमित्येवाभिसम्बन्धो नियमतो भविष्यति न तु तस्येदमित्यपि। एवञ्च अयमपि इति अपि शब्दः अस्वरस एव स्यात्।

इयं च लक्षणा नातिरिक्ता वृत्तिरिति शाब्दिकानां राद्धान्तः। एतेषामयमाशयो यल्लक्ष्यत्वेनाभिमतेऽर्थेऽपि शब्दस्य शक्तिरेव, परं सा अप्रसिद्धा तथा हि परमलघु-मञ्जूषायां नागेश भट्टेन प्रतिद्धाप्रसिद्धाभेदेन शक्तेरेव द्वैविद्धयं स्वीकृतम्। तत्र सर्वजन सम्वेद्यात्वं प्रसिद्धात्वम् सहृदयमात्र सम्वेद्यात्वं च अप्रसिद्धात्वम्। प्रसिद्धय-प्रसिद्धिमूलक एव च शब्दानां मुख्यत्व गौणत्व व्यवहारः, न तु वृत्ति भेद मूलकः सः।

"आरोपित-शक्यतावच्छेदकरूपेण शक्त्यैव तत्पदवाच्यत्वेन प्रसिद्धान्यव्यक्ति-बोधे व्यक्तिविशेषबोधे च लक्षणेति व्यवहारः"[1] इत्यादिनालघुमञ्जूषायामपि लक्षणा नातिरिका वृत्तिः, अपितु लक्ष्यत्वेनार्थेमतेऽप्यभि शक्तिरेव इति सूचितं श्री नागेश भट्टेन। अनुमोदितश्चायं पक्षः अनया कारिकया श्री हरिणापि-

सर्वशक्तेस्तु तस्यैव शब्दस्यानेकधर्मणः।
प्रसिद्धिभेदाद् गौणत्वं मुख्यत्वं चोपर्च्यते॥[2]

ध्वनितश्चायं सिद्धान्तः "पुँयोगादाख्यायाम्"[3] इति सूत्रे वार्तिककृता भाष्यकृता च तत्र हि वार्तिक "सिद्धं तु स्त्रियाः पुँशब्देनाभिद्यानात्" "सिद्धमेतत् कथम्? स्त्रियाः पुंशब्देनाभिद्यानात्" स्त्री पुंशब्दे नाकारान्तेनाभि धीयते" अत्र वार्तिकेऽभि-धानादित्यनेन भाष्ये चाभिधीयत इत्यनेन पुँशब्देन गोपादिशब्देन स्त्रीः (गोपसम्बन्धिनी स्त्रीः) (अभिधयैव) (शक्त्यैव) उपस्थाप्यते इति स्फुटमेवावगम्यते।

ईदृशस्थले एव च परैः लक्षणा स्वीक्रियते।

---

1. वै. सि.ल.म.ल.प्र.।।
2. वा.प. 2।252।।
3. पा.सू. 4।1।48।।

व्यञ्जना

इदानीं शब्दार्थयोः द्योत्यद्योतकभावसम्बन्धरूपां व्यञ्जनां निरूपयामः। इयं वृत्तिः, महदादरणीया शाब्दिकैः, आदृता चास्ति। यतः शाब्दिकानां यन्मुख्यं तत्त्वं स्फोटाख्यं तदस्यामेव निर्भरः। सङ्कीर्तिता चेयं वृत्तिः यत्र तत्र शाब्दिकाचार्यैः तद्यथा-

"प्रत्येकं व्यञ्जका भिन्ना वर्णवाक्यपदेषु ये"[1]।

इत्यादिना सङ्केत्यत एवैषा वृत्तिर्दूरिणा-"द्योतिका वाचिका वा स्युः द्वित्वादीनां विभक्तयः" इति हरिकारिकायामपि द्योतकक्त्वं व्यञ्जनैव।

"द्योतकाः प्रादयो[2] येन", आरोपितत्वं नञ्द्योत्यम्[3] इस्यादि वदतो दीक्षित-स्यापि अभिमतैवेयम्। किं बहुना भाष्यकृतापीयं वृत्तिर्ध्वनिता। तथा हि "भूवादयो धातवः"[4], इति सूत्रेभाष्यम्-'क्रियाविशेषक उपसर्गः पचतीति क्रिया गम्यते, तां प्र इत्युपसर्गो विशिनष्टि', अत्रोद्योतः-'क्रियाविशेषकः उपसर्ग इति-यथाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रत्ययोऽर्थबोधकस्तथा ताभ्यामेव क्रियागत विशेषद्योतक उपसर्गः, क्रियावाची धातुरेवेति भावः। एवंचात्रभाष्ये क्रिया विशेषकत्वं क्रियागतविशेषद्योतकत्वमेव तच्च व्यञ्जक-त्वादनतिरिक्तमेव यतः समभिव्याहृतपदीयशक्ति व्यञ्जकत्वमेव द्योतकत्वम्। एवमन्य-त्रापि तत्र व्यञ्जनायाः सङ्केताः लभ्यन्ते।

अथास्याः स्वरूपं विमृषामः। श्रीमता नागोजिभट्टेन व्यंजनोद्बुद्ध, संस्कारविशेषा-त्मिका स्वीकृता, तथा हि लघुमञ्जूषायां व्यञ्जनां प्रकरणे स लिखति। "मुख्यार्थ-वाधग्रहनिरपेक्ष्यबोधजनकः मुख्यार्थ सम्बद्धासम्बद्ध साधारणप्रसिद्धाप्रसिद्धार्थ विषयको वक्त्रादि वैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्धः संस्कार विशेषो व्यञ्जना"। वस्तुतस्तु शब्दार्थयोः (व्यंजकव्यङ्ग्ययोः) व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावापरपर्यायः सम्बन्ध विशेष एव व्यञ्जना। एतदेव च व्यंञ्जनास्वरूपं श्रीनागेशेनापि स्वीकार्यम्। अन्यथा नैयायिकसम्मता शक्ते-रिच्छास्वरूपता येन दोषेण दूषिता तेनस एव दोष; व्यंञ्जनायाः सँस्कार विशेषरूपतां स्वीकुर्वतो नागेशस्य शिरसि आपतेत्। अयमाशयो यद् आत्मनिष्ठायाः इच्छायाः पदपदार्थसम्बन्धत्वासम्भवेन शक्तेरिच्छारूप्त्वं न सम्भवति यतः शक्तिः वृत्तिविशेष एव। वृत्तिश्च शाब्दबोधोपयोगिपदपदार्थ सम्बन्धः।

अतः पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः वाच्यवाचकभावापर पर्याया, इति व्यवस्थापितं श्रीमता भट्टेन एवं च यथा शक्तेरिच्छारूपता अनेन खण्डिता

---

1. वा. प. 1।88।।
2. वै.भू.सा.कारि. 42।।
3. वै.भू.सा.कारि. 40।।
4. म.भा. 1।3।1।।

तथैव व्यंञ्जनाया अपि संस्कारात्मकता भवति खण्डिता। यतः इच्छावत् संस्कारोऽपि आत्मविशेषगुणः अतो न सः पदपदार्थ सम्बन्धरूपवृत्तिविशेषात्मक व्यञ्जनारूपतां धारयितुं शक्नोति।

एवं स्थिते महता विदुषा शाब्दिकशिरोमणिना कथं संस्कार विशेषात्मकता स्वीकृता व्यञ्जनायाः? इति चेत्, ब्रूमः। संस्कारस्य व्यंञ्जनारूपत्वाभावेऽपि उपर्युक्त सम्बन्धविशेषात्मक व्यंजनाया उद्बोद्यको भवत्येव स संस्कार विशेष इति कृत्वा संस्कार विशेषस्यैव व्यञ्जनात्वं व्यवहृतं मञ्जूषाकृता। स च व्यवहारः औपचारिक एव मन्तव्यः। अस्या (व्यञ्जनायाः) विषये बहु प्रपञ्चितमालङ्कारिकैः। नैयायिकैर्स्त्वियं स्वतन्त्रा वृत्तिर्नाङ्गीक्रियते, अपि तु अनुमानेनैव गतार्थ्यते। परं नैयायिकाभिमतमेतदस्या अनुमानेन गतार्थनं न शाब्दिकेभ्यो रोचते। अतस्तैरतिरिक्तैवैषा वृत्तिः उरीक्रियते। प्रपञ्चितं चैतत्सर्वं लघुमञ्जूषायाम्।

आकाङ्क्षा

शाब्दबोधे, प्रामाण्यनिश्चये, अप्रामाण्यसन्देहनिरासे वा सन्ति केचन सहकारिणः। ते च आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्तिः, तात्पर्यज्ञानं च। तत्र कैश्चिदेषां समेषामपि शाब्दबोधे कारणता इष्यते[1]। परं शाब्दिकमते नेतेषां सर्वेषां शाब्दबोधहेतुता एतच्चाग्रे स्फुटी भविष्यति। तत्र प्रथममाकाङ्क्षा निरूप्यते।

परस्परव्यपेक्षां सामर्थ्यमेके। का पुनः शब्दयोर्व्यपेक्षा? न ब्रूमः, शब्दयोरिति। किं तर्हि? अर्थयोः। इह राज्ञः पुरुषः इत्युक्ते राजा पुरुषमपेक्षते ममायमिति। पुरुषो (अपि) राजा राजानमपेक्षते अहमस्य[2] इति इत्यादिना भाष्यकृता आकाङ्क्षा सङ्केतिता, उपस्थापितं चास्या उदाहरणमपि अस्याः स्वरूपमपि इत एव भाष्यात् निःसरति। तथा हि इह राज्ञः पुरुष इत्युक्ते राजापुरुषमपेक्षते इति कथनेन एकपदार्थे स्वान्वययोग्यापरपदार्थव्यतिरेक प्रयुक्तं अन्वयबोधाजनकत्वमाकाङ्क्षेति ध्वन्यते। यतः राजा पुरुषमपेक्षते इत्यस्येदं तात्पर्यं यद् राजा-राजपदार्थः अन्वय बोधार्थं स्वान्वय योग्य पदार्थं पुरुषं अपेक्षते आकाङ्क्षते तं विना तस्यान्वयबोधासम्भवादिति। इत्थं चेयमाकाङ्क्षा भवत्यर्थनिष्ठेति का पुनः शब्दयोर्व्यपेक्षा? न ब्रूमः, शब्दयोरिति। किं तार्हि? अर्थयोः इति भाष्यमपि स्वरसत एव उपपद्यते।

नागेश भट्टस्तु ईदृशान्वयबोधाजनकत्व ज्ञानोत्थाप्यां एकपदार्थज्ञाने तदन्वययोग्यपदार्थान्तरविषयिणीं जिज्ञासामेव मुख्यामाकाङ्क्षा मनुते। स्वीकरोति च अयमर्थो-

---

1. आसत्तिसर्योग्यताकाङ्क्षा तात्पर्यज्ञानयिष्यते कारणम् (भा.प. शब्द खण्ड) अथवा (न्या. सि.मु.का. 82 पृ. 339।।)
2. म.भा. 2।1।1।।

ऽर्थान्तरमाकाङ्क्षते इत्यादौ, उक्त भाष्ये किं तर्हि[1]? अर्थयोः, इत्यत्र च वस्तुतो आत्मनिष्ठायाः अस्या आकाँक्षायाः आरोपात्मकं क्लेशम्। ईदृशाजिज्ञासोत्थापकं च प्रागुक्तान्वयबोधाजनकत्वज्ञानमिति तद्विषयेऽन्वयबोधाजनकत्वेऽपि आकाङ्क्षेति व्यवहारं मन्यते अयम्। परन्त्वेतन्मते एष गौणो व्यवहारः। मुख्यं आकाङ्क्षात्वन्तु जिज्ञासायामेव। उक्तमन्वयबोधाजनकत्वं तादृश समभिव्याहारकारणता ज्ञानमूलकं अतः समभिव्याहारोऽप्याकाङ्क्षेति दर्शनं श्रीनागेशस्य। इत्थं च जिज्ञासा, अन्वयबोधाजनकत्वम्, समभिव्याहारः, इत्येतत्रयमपि आकाङ्क्षापदेन व्यवहृयते शाब्दिकशिरोमणेः नागेशस्य सिद्धान्ते[2]। तत्र जिज्ञासायां स व्यवहारो मुख्यः। इतरयोस्तु गौणः।

अस्याऽन्वयी अर्थः कः? इति जिज्ञासयान्वयीभूतेऽर्थे ज्ञाते सति एतदर्थाऽन्विते परार्थे वाक्यस्य शक्तिर्निश्चीयते इति वाक्य निष्ठायाः शक्तेर्ग्राहकतया अस्याः वाक्यार्थबोधे (शाब्दबोधे) हेतुता स्फुटैव एत एवाह श्रीनागेशभट्टः वाक्य समयग्राहिका च आकाङ्क्षा। उपर्युक्त भाष्येणापि अनुमोद्यते एवास्याः शाब्दबोध हेतुता।

योग्यताः

लघुमञ्जूषायां योग्यता प्रकरणे योग्यताविषयकपरमतोपस्थापनावसरे योग्यता-स्वरूपं इत्थं अभ्यधाहि श्रीनागेशभट्टेन तात्पर्य विषयीभूतसंसर्गवृत्तिधर्मे संसर्गता-वच्छेदकाख्ये सम्बन्धिनिष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगितावच्छेदकत्वाभावो योग्यता[3], इति एतत्समन्वयो यथा-जलेन सिञ्चतीत्यादौ सेचनस्य जले स्वनिरूपितकरणत्वं तात्पर्य विषयीभूतः संसर्गः तद्वृत्तिः संसर्गतावच्छेदको धर्मः करणतात्वम्। तस्मिं जलरूप सम्बन्धिनिष्ठस्यात्यन्ताभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वं नास्तीति, इति अवच्छेदकत्वा-भावरूपायोग्यता संघटते। नहि एवं बह्निना सिञ्चतीत्यादौ। अत्र हि वह्नौ सम्बन्धिनि सेचन निरूपितकरणत्वस्य तथा विधसंसर्गस्याभावेन संसर्गतावच्छेदकं करणतात्त्वं सम्बन्धनिष्ठात्यन्ताभाव (बह्निनिष्ठ सेचन करणत्वाभाव) प्रतियोगितावच्छेदकमेव भवति करणत्वत्वम्।

अस्याश्च योग्यतायाः ज्ञानं शाब्दबोधे कारणमिति केषाञ्चित् (नैयायिकादीनां) मतम्। कैश्चित्तु योग्यता ज्ञानस्य शाब्दबोधे कारणत्वमस्वीकृत्य अयोग्यता निश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वमिष्यत। एतन्मते च प्रतिबन्धकाभाव विधया तादृश निश्चयाभावः शाब्दबोधे कारणम्। परमेतन्मतद्वयमपि शाब्दिकप्रवरेण श्रीनागेश भट्टेन बहुभिर्युक्तिभिः खण्डितम्। एतत्सिद्धान्ते हि वह्निना सिञ्चतीत्यादावपि भवत्येव शाब्दबोधः। अत

---

1. म.भा. 2।1।1।।
2. द्रष्टव्यमेतत्सर्वं लघुमञ्जूषायां आकाङ्क्षा प्रकरणै।।
3. वै. सि. ल. म. तात्पर्य प्रकरणम्।।

एव एतद्वाक्यप्रयोगान्तरं श्रोतृभिः क्रियमाणो वक्तुरुपहासः सङ्गच्छत। बोधस्यैवाभावे कुतः उपहासप्रसङ्गः। एतएव च-

एष बन्ध्यासुतः, अस्यक्षोपणि पतेः, इत्यादौ सत्यप्ययोग्यता निश्चयेऽनुभूयते शाब्दबोधः। अथ योग्यता ज्ञानस्य यदि न शाब्दबोधकारणत्वं तदा क्व अस्योपयोग इति चेत्, शाब्दबोधे प्रमाण्य निश्चये, अयोग्यता सन्देहादिना प्रसक्तस्याप्रामाण्यज्ञानस्य निरासे वा एतस्योपयोगः। प्रपञ्चितञ्चैतत्सर्वं लघुमञ्जूषायां श्रीमता भट्टेन।

एष एव च सिद्धान्तः सर्वेषां शाब्दिकाचार्याणाम्। यतो बौद्ध एवार्थः शाब्दबोधस्य विषय इति सकलशाब्दिकराद्धान्तः। बौद्धे चार्थे बाध एव नास्तीति कुतः शाब्दबोधः प्रतिबन्धः। बह्निना सिञ्चतीत्यादावपि बौद्धे बह्नौ बौद्ध सेचन करणत्वमवाधितमेव।

आसत्तिः

अन्वयप्रतियोग्यनुयोगिनोः पदार्थयोःतद्वाचकपदयोश्च अव्यवधानेनो पस्थिति-रासत्तिरिति आसत्तेः स्वरूपं आभिहितवान्, वैयाकरण सिद्धान्तलघुमञ्जूषायां नागेशः। इयञ्चासत्तिः ज्ञानरूपा इति स्वरूपसती एव मन्दानामविलम्बेन शाब्दबोधे हेतुः। व्युत्पन्नानां तु एतदभावेऽपि भवत्येव शाब्दबोधः। मन्दानामपि भवति एतदभावेऽपि योजनया बोधः परन्तु विलम्बेन। सूचितमेतत्सर्व पणिनि[1] सूत्रे माहाभाष्ये तत्रत्य प्रदीपोद्योतयोश्च। अत्र हि भाष्ये पूर्वं आसत्तेः बोधकारणत्वं सङ्केतितम्। पश्चाच्च खण्डितम्। तद्दृश्यतां अत्रत्य भाष्यम्। "आनुपूर्व्येण सन्निविष्टानां यथेष्टमभिसम्बन्धः शक्यते[2] कर्तुम्", अत्रोद्योतः "पदान्तरेणाव्यवधानरूपासत्तिरानुपूर्व्यम्, भाष्ये यथेष्टं सम्बन्धः इष्टवाक्यार्थ बोधजनकत्वरूपः" पुनर्भाष्यम् "अनानुपूर्व्येणापि सन्निविष्टामभि सम्बन्धो भवति तद्यथा-अनड्वाहमुदहारि। या शिरसा कुम्भं भगिनि! साचीनमभि-धावन्तमद्राक्षीः, इति तस्य यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति उदहारि भगिनि या त्वं कुम्भं शिरसा हरसि, अनड्वाहं साचीनममिधावन्तमद्राक्षीरिति" इति। अत्र प्रदीपः अनड्वाह-मिति पाठक्रमादार्थक्रमो वलीयानिति यथेष्टमत्राभि सम्बन्ध इति। अत्रोद्योतः भाष्यात्तु आसत्यभावेऽपि पदार्थोपस्थितौ आकाङ्क्षादिवशाद् व्युत्पत्त्यनुसारेणान्वयबोध इति लभ्यत[3] इति।

वस्तुतस्त्वन्वय प्रतियोग्यनुयोगिनोः पदार्थयोरव्यवधानेनोपस्थिततिरेवासत्तिः तदर्थञ्च तद्वाचकपदयोः अव्यवधानेनोपस्थितिमन्दैरपेक्ष्यते इत्यन्यत्। इत्थं चेयमासत्तिराकाङ्क्षयैव गतार्था।

---

1. पा.सू. 1।1।57।। वै. सि. ल. म.
2. म.भा. 1।1।57।।
3. म.भा. 1।1।57।।

तात्पर्यम्

वक्तुरिच्छा तात्पर्यम्। वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितम्[1]। एतज्ज्ञानं शाब्दबोधे कारणं मन्यते कैश्चित् (नैयायिकादिभिः) अथ वक्त्रृनिष्ठाया इच्छायाः तात्पर्यस्य श्रोत्रा कथं ज्ञानमितिचेत् संयोगादितः।

तथा च हरिकारिका-

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति-हेतवः[2]॥

अत्र शाब्दिकाः तात्पर्यज्ञानं न शाब्दबोधे हेतुः। अतएव शुकसारिकाद्युदीरितेभ्यो वाक्येभ्यो बोधो जायते।

नहि तत्र वक्तुः तात्पर्यं श्रोतुस्तद् ज्ञानवा अस्ति। अतएव चास्माद्वाक्यादर्थ-द्वयविषयको बोधो जायते तात्पर्यं क्व? इति तु न ज्ञायते इति सर्वजनीनः अनुभवः संगच्छते। दृश्यते च पय आनय इत्युक्ते दुग्धं जलं वा आनेयमिति अप्रकरणज्ञस्य सन्देहः। तात्पर्यज्ञानस्य बोधकारणत्वे तु उक्त वाक्यात् बोधस्यैवाभावे कुतः सन्देहः। ध्वनितं चैतद् तात्पर्यज्ञानस्य शाब्दबोधेऽहेतुत्वम्। बहुगणवतुडति संख्या[3], इति सूत्रे भाष्ये। तत्र हि अर्थात् प्रकरणाद्वा लोके 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्य सम्प्रत्ययो भवति' अप्रकरणज्ञमागतं ब्रवीतु-गोपालकमानय कटजकमानयेति, उभयगतिस्तस्य भवति, साधीयो वा यष्टिहस्तं गमिष्यति, इत्युक्तम्। गोपालकमानयेत्युक्ते अप्रकरण-ज्ञस्योभयगतिर्भवतीति कथनेन स्फुटमेव बोधिता तात्पर्यज्ञानस्य शाब्दबोधेऽहेतुता। अथ यदि तात्पर्य ज्ञानं शाब्दबोधे न करणं तदा क्व अस्योयोप इति शाब्दबोधे प्रामाण्यनिश्चये, तद्वारा प्रवृत्यादौ च।

उक्तभाष्ये अर्थात्प्रकरणाद्वा लोके कृत्रिमाकृत्रिमयोः[4] कृत्रिमे कार्य सम्प्रत्ययो भवति इत्युक्त्या ध्वन्यते। तात्पर्यज्ञानस्यैष उपयोगः इत्याहुः। प्रपञ्चितञ्चैतत्सर्वं लघुञ्चूषायां तात्पर्य प्रकरणे श्रीनागेशभट्टेन।

✦✦✦

1. न्या. सि. मु. का. 84, पृ. सं. 351॥
2. वा. प. 2।317, 18॥
3. न. म. भा. 1।1।23॥ पृ. स. 193॥
4. प. शे. प.।

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

वेदेषु राष्ट्रचिन्तनम्

विकासकोठारी

शोधच्छात्रः

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्,

जनकपुरी, नवदेहली-58

भारतीयसंस्कृतेरितिहासे वेदानां नितान्तं महत्त्वपूर्णं गौरवपूर्णञ्च स्थानमस्ति। संस्कृते वेद शब्दस्यार्थः ज्ञानमस्ति, यतोह्यं शब्दः ज्ञानार्थक विद् धातोः निष्पद्यते। केषाञ्चिद् विदुषां मते "वेद" शब्दः अलौकिक ज्ञानवाचकः इदमलौकिकं ज्ञान-मिष्टप्राप्तिस्तथाचानिष्टपरिहारः अस्ति। वेदस्य श्रुतिः, आम्नाय त्रयी-छन्दः-स्वाध्याय-आगम-निगमाश्चैते नैके पर्यायवाचिनः शब्दाः सन्ति। केषाञ्चिद्विदुषां मते वेदशब्दो धर्मवाचकोऽस्ति। यतो 'धर्मज्ञानमवाप्यते सः वेदः।'

वेदानां विषये भगवता मनुना प्रोक्तम् - **"सर्वज्ञानमयो हि सः"** अर्थाद् वेदेषु सर्वविद्यानां सूत्राणि विद्यमानानि सन्ति, यत्र आचारशिक्षा नीतिशिक्षा, सामाजिकजीवनम्, अर्थशास्त्रम्, तर्कशास्त्रादीनि विवेचितानि तत्रैव विज्ञानसम्बन्धि सामग्रीणामपि प्राचूर्येण चर्चा विलोक्यते, वेदेषु भौतिकविज्ञानम्, रसायनविज्ञानम्, जीवविज्ञानम्, आयुर्विज्ञानम्, वनस्पतिविज्ञानम्, प्रोद्योगिकीविज्ञानम्, गणितविज्ञानम्, ज्योतिर्विज्ञानम्, पर्यावरणविज्ञानम्, भूगर्भविज्ञानादीनि तथ्यानि सम्यगुपलब्धानि भवन्ति।

वेदेषु राष्ट्रस्य स्पष्टः वर्णनमस्ति, राष्ट्रस्य उन्नतिः, राष्ट्रस्य सुरक्षा, राष्ट्रस्य संचालनं राष्ट्रस्य सामाजिक व्यवस्थाः भावनाश्च वर्णनं नैके मन्त्रेषु विद्यन्ते -

"राष्ट्रं मे देहि"[1]

यजुर्वेदे राष्ट्रीय सुरक्षायाः जागृतिः विषये उल्लेखः वर्तते -

"वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः"।[2]

इत्थमेव अथर्ववेदेऽपि "राष्ट्राणि" शब्देन विभिन्नराष्ट्राणां संकेतं विद्यते -

"त्वं राष्ट्राणि रक्षसि"।[3]

1. यजु. 102, तः 4
2. यजु. 9.23
3. अथर्व. 19.30.3

अतः अथर्ववेदे एकस्मिन् स्थाने देशशब्दस्य प्रयोगोत्तमप्रकारेण, लभते, एवं राष्ट्रस्योपरि विपत्तिः निवारणाय स्तुतिः समुपलभ्यते-

''देशोपसर्गाः शमु नो भवन्तु''।[1]

वेदेषु आध्यात्मिकी भावना -

भारतवर्षस्य एका स्वीया संस्कृतिरस्ति या संस्कृतिराध्यात्मिकी वर्तते अस्यां भौतिकसुखोपभागमनगीं कृत्य भारतीयाः मोक्षभावना भाविताः लक्ष्यन्ते। भारतीयैः एका सामाजिकी व्यवस्थापि विकासिता, तेषां धारणानुसारं कमपि सिद्धान्तं प्रतिपालयितुं व्यक्तिगतसामाजिकानुशासनयोः आवश्यकता वर्तते, व्यक्तिगतानुशासनदृष्ट्या अस्यां व्यवस्थायां सत्याहिंसादि सामान्यः वर्गाणां यम-नियम-आसनप्राणायामादीनामपि नियमाः सन्ति। तथा सामाजिकानुशासनदृष्ट्या वर्णाश्रमधर्मत्यवपाऽस्ति वर्णश्चतुर्विधः ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्यशूद्ररूपः, आश्रमाश्च ब्रह्मचर्यग्रहस्थवानप्रस्थसंन्यासाः। इमे सामाजिक-व्यवस्थां स्थिरीकर्तुमेव निर्मिताः।

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं "मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्"।[2]

अतः यजुर्वेदे एवं अथर्ववेदे चतुःवर्णानां सुखसमृद्धिश्चैवं तेजस्य स्तुतिः विद्यते -

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।[3]

प्रियं मा कृणु देवेषु, प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।[4]

वेदेषु आर्थिकव्यवस्था -

कस्यापि राष्ट्रस्योन्नत्ये आर्थिकविकासः परमावश्यकः भवति, धनमेव मूलकारणं राष्ट्रं प्रगतिपथानयने। वैदिककालस्यार्थिकविकासविश्लेषणेन ज्ञायते यत् वैदिककालस्य जनसमुदायः पर्वरूपेण विकसितः आसीत् तेषामार्थिकजीवनं सम्यक्तया व्यवस्थितं सुसंचालितं चासीत्, किन्तु प्राचीनभारतीयजीवने आर्थिकविकास एव सर्वस्वं नासीत्, अपितु तु आर्थिकविकासेऽपि धर्मस्योच्चतमं स्थानमासीत्, धार्मिकभूमिकायामेव आर्थिकविकासस्य प्रचलनमासीत् कृषिवाणिज्यव्यवस्थायादिभिः द्रव्योपार्जनं विहाय

---

1. अथर्व. 19.9.9
2. यजु. 30.5
3. यजु. 18.48
4. अथर्व., 19.62.1

ऐहिकोन्नतिः आसीत्, वर्णव्यवस्थायां वैश्यवर्णः आर्थिकविकासेन सम्बद्ध आसीत्, वैदिकयुगस्यार्थिकविकासस्य मुख्यार्थानि कृषि-गोपालन-वाणिज्य व्यवसायादीनि आसन्, एतेषां सम्बन्धः भूमिः सह आसीत् यत्र (एतेषां) विकासः सम्पाद्यते स्म। अथर्ववेदे भूमिः एवं पर्जन्यं स्तुतिः दृश्यते -

"भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षभेदसे"।[1]

वाणिज्यवैदेशिक व्यापारयोः सम्बन्धनगरे सह आसीत्, नगराणि एव विभिन्नावश्यकतानां केन्द्राणि आसन्।

ऋग्वेदस्येकस्मिन् स्थले कृषिकार्यस्योल्लेखः निम्नलिखितमन्त्रे द्रष्टुं शक्यते-

युनवत सीरा वियुवा तनुर्ध्व कृते यौनौ वपतेत् बीजम्।
मिरा च त्रुष्टिः समरा असन्तो नेदीयः इत्सृण्यः पववमेयावत्।।[2]

ऋग्वेदे गौहत्याकृते जनानां सामाजिकः बहिष्कारस्य निर्देशः विद्यते -

"आरे ते गोघनम्।"[3]

वेदेषु भौगोलिकस्थितिः -

वेदेषु भौगोलिक चित्रणं सम्यक् रूपेण विहितम्, अतः वेदेषु समुद्राणां, नदीनां पर्वतानाञ्च वर्णनं दृश्यन्ते। ऋग्वेदे एवम् अथर्ववेदेऽपि द्वौ, त्रयः चत्वारः प्रकारोऽयं समुद्राणामोल्लेखः प्राप्यन्ते –

"उभा समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः"[4]

"उभा समुद्रौ."[5]

"त्रीन् समुद्रान्"[6]

"चतुः समुद्रं धरणं रयीणाम्"[7]

ऋग्वेदअथर्ववेदेश्च अपि "सप्तसिन्धवः" सप्तनदीनां सम्यक् विवेचनमस्ति-

"सप्त सिन्धून्"[8]

---

1. अथर्व. 12.1.42
2. ऋग्. 10.101.3
3. ऋग. 1.114.10
4. ऋग. 10.136.5
5. अथर्व-1.2.10.4
6. अथर्व 19.27.4
7. ऋग्. 10.47.2
8. ऋग. 1.3.5.8

"हिमवतः प्रस्रवन्ति सिन्धौ समह संगमः"[1]

हे पृथिवी इमे हिमवदादि विभिन्नः पर्वताः इमानि गहनानि वनानि मां मोदयन्तु, अस्यां भूमौ अहम् अविजितः अक्षतश्च भूत्वा निवासं कामये –

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं
ते पृथिवि स्थानमस्तु।
वर्थु कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां
धृत्वा भूमिं पृथिवी मिन्द्रगुप्ताम्
अजितो हतो वक्षतोऽम्यष्ठां पृथिवीमहम्[2]

वेदेषु प्राकृतिक-चिन्तनम् –

प्राकृतिकसम्पदापि राष्ट्रौन्नतिमूलभूता वनादीनां महत्त्वं राष्ट्राभिवृद्धि दृष्ट्या एव स्वीक्रियते। विभिन्नकाव्यग्रन्थेषु वर्णिताः वननदीपर्वताः नहि केवलं सौन्दर्यदृष्ट्या वर्णिताः अपि तु राष्ट्रस्योपयोगिनी अपि भवन्ति, तदतिरिक्तं कमपि आवश्यकं यत् यथासमयं पर्यन्तो वर्षतु जल वर्षणेन च धरणिः पत्रपुष्पफलशालिनो भवेयुः पक्वान्नं समुचितपरिमाणेन प्राप्यते तु येन राष्ट्रस्य जनाः सुखिना भवेयुः।

वेदेषु राजतान्त्रिकी व्यवस्था –

वैदिकयुगस्य राजनीतिकजीवनं राजतन्त्रस्य महत्त्वपूर्णस्थानमासीत् – तात्कालिकभारतदेशे विभिन्नराज्यानि वर्तमानान्यासन् येषां शासनं प्राधान्येन राजभिः सम्पाद्यन्ते स्म। तस्मिन् युगे राज्ञां परोक्षरुपेणोल्लेखः वैदिकसाहित्ये यत्र-तत्र प्राप्यते। तद्युगीनराज्ञां कर्तव्योत्तरदायित्वानां साधारणतया भागद्वयं कर्तुं शक्यते –

सभा च मा समितिश्चावतां, प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छ उप मा च शिक्षात्, चारु वदानि पितरः संगतेषु।।[3]

वैदिकयुगस्य राजनैतिकजीवने सभायाः समितेर्वा महत्त्वपूर्ण स्थानमासीत्। सभासमित्योरुल्लेखः वैदिकसाहित्यस्य नैकेषु स्थलेषु मिलति। समित्यां राज्ञः उपस्थितरावश्यकी आसीत्। ऋग्वेदे राज्ञः समितिगमानोल्लेखोऽस्ति –

राजा न सत्यः समितीरियानः।[4]

---

1. अथर्व 6.24.1
2. अर्थ. 12.1.11
3. अथर्व. 7.12.1
4. ऋग्. 9.92.6

सभाया उल्लेखोऽपि वैदिकसाहितये मिलति यस्यार्थो भवति केनाप्युद्देश्येन एकत्रितः जनानां समूहः सम्मेलनं वा, ऋग्वेदस्यानैकेषु सभासदस्यानामुल्लेखेन इदं प्रतिभाति यत् समाजे तेषां सदस्यानां महत्वपूर्ण स्थानमासीत्।

'सभेय' शब्दः ऋग्वेदे आदरसूचकेऽर्थे प्रयुक्तोऽस्ति[1]

धनिनां 'सभायां' गमनोल्लेखोऽपि ऋग्वेदे दृश्यते[2]

अथर्ववेदे राज्ञां सभायां गमनोल्लेखोऽपि मिलति तथा च प्रार्थना कृतास्ति –

"सभासभ्य सभासदां रक्षार्थं"[3]

वेदेषु राष्ट्रोन्नतेः साधनानि –

भारतीयसंस्कृते मूलभूते वैदिकवाङ्मये राष्ट्रस्य कीदृशं भव्य स्वरूपं चित्रितमिति अथर्ववेदस्य मंत्रेऽस्मिन् स्पष्टतः परिलक्ष्यते –

"भद्रमिच्छन्न ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसनमन्तु॥"[4]

मन्त्रस्य भावोऽयं तपः एवं दीक्षां (समर्पण) स्वीकृत्येव कोऽपि राष्ट्रं उन्नतं समृद्धञ्च भवतीति।

शोधपत्रसारांशः

वैदिककाले धार्मिकाणां सुदृढ़विश्वासः आसीत् यत् देवाः सदैव तेषां पार्श्वे निवसन्ति, अतः यदि ते किमपि पापकर्म करिष्यन्ति चेत् तस्य परिणामः तैरवश्यं भोक्तव्यः अनया भावनया तेषां जीवनं सत्य-दया-न्यायधर्मानुकूलमेवासीत् अतः समाजे सुखसमृद्ध्याधिक्यमासीत्।

राष्ट्रस्य कल्याणं त्यागेनेव भवितुमर्हति न तु सर्वस्य हरणेन। भारतराष्ट्रस्य अयमेव उच्चादर्श आसीत्। अतैव तु वेदेष्वपि त्यागस्य महत्त्वं सम्यगुपमादितं वर्तते। विश्वेऽस्मिन् सर्वे देशाः स्वार्थिनः लौभिनश्चावलोक्यन्ते, तेषां कृते वैदिकयुगस्यार्याणां सन्देशः सर्वथानुकरणीयः। यजुर्वेदोद्घोषयति निखिलमिदं जगत् परमेश्वरस्यावश्यम्। सर्वत्रैव परमात्मा निवसति, स एव सर्वान् जीवान् च जीवयति। अतैव तेन प्रदप्तं वस्तु गृहाणः कस्यापि जनस्य धनाहरणं मा कुरु। लोकेऽस्मिन् स्थित्वा निजकर्माचरणं कुर्वन् शतं वर्षाणि यावत् जीवितुमिच्छेत् –

---

1. ऋग्वे. 1.91.20
2. ऋ. 8.4.9
3. अथर्व. 19.58.2
4. अथर्व. 19.41.1

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चं जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥[1]
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥[2]

इदानीं सर्वत्रैवासंतोषस्य अशान्तश्च नग्ननृत्यं दरीदृश्यते। किन्तु वैदिकयुगे बाल्यादेव सत्ययाथानुकूलाचरणस्य शिक्षायाश्च आवश्यकता आर्यैः स्वीकृता तेषां दृष्टिपथे "**असतो मा सद्गमय**" इत्यस्यादर्शः आसीत्। समये-समये या काचिदपि सुख-दुःखयोः परिस्थितिः समुत्पन्ना भूत् तां सर्वे सम्मिल्य संतोषेण धैर्येण च प्रभोः प्रसादरूपेण स्वीकृतवन्तः। अनैनेव कारणेन समाजे राग-द्वेषयोः प्राबल्यं नासीत्। सर्वे जनाः आध्यात्मिकोन्नत्यै प्रयत्नमानाः आसन्। वस्तु तस्तु वेदानां यथार्थादर्शः "**वसुधैव कुटुम्बकम्**" एवास्ति। राष्ट्रोन्नत्यै चारित्रिकोन्नतिः परमावश्यकी यत्कृते वेदाध्ययनस्य महत्वं सुस्पष्टमैवेति॥शम्॥

✦✦✦

1. यजु. 40.1
2. यजु. 40.2

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

पञ्चमहायज्ञानां वर्णनम्

डा. रामबाबू पाण्डेयः
आचार्य तुलसी सर्वोदय बालविद्यालयः
छतरपुर नवदेहली

वैदिकसाहित्ये संहितानन्तरं द्वितीयं बृहत्साहित्यं ब्राह्मणग्रन्थानामस्ति, ग्रन्थार्थे ब्राह्मणशब्दस्य प्रयोगो नपुंसकलिङ्गे एव भवति। यज्ञीयकर्मकाण्डस्य व्याख्यात्मकग्रन्थानां नाम ब्राह्मणम् अस्ति। यज्ञानाम् अनुष्ठानकाले प्रयुज्यमानानां संहिताभागस्य विधिविधानानां संकलनम्, एषु ब्राह्मणग्रन्थेषु सुरक्षितमस्ति। ब्राह्मणसाहित्यम् अतीव व्यापकं विशालं चास्ति। यज्ञीयकर्मकाण्डस्य व्याख्याविवरणयोः सम्पादनं ब्राह्मणग्रन्थानां मुख्यो विषयः। वेदस्य शेषभूता इमे ब्राह्मणग्रन्थाः यज्ञानुष्ठानस्य विस्तृतं विवेचनं कुर्वन्ति। इदं ब्राह्मणसाहित्यम् अतीव विशालं, गद्यात्मकं यज्ञीयविधानकालनिर्देशकं, तेषाम् अधिकारि-निरूपकं च अस्ति। ब्रह्मणग्रन्थानां पूरकग्रन्थाः स्मृतिग्रन्थाः सन्ति। गृहस्थाश्रमस्य दैनिकक्रियाकलापेषु विशिष्टाक्रिया अस्ति पञ्चमहायज्ञानाम् अनुष्ठानम्। तेषां यज्ञानां वर्णनं ब्रह्मणग्रन्थेषु विस्तृतरूपेण अस्ति। शतपथब्राह्मणस्य कथनमस्ति- **'पञ्चैव महायज्ञाः। तान्येव महासत्राणि देवयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति।**[1] आश्वलायनगृह्यसूत्रेऽपि पञ्चमहायज्ञानां चर्चा अस्ति तत्र **'अथातः पञ्चयज्ञाः देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञो मनुष्ययज्ञ इति।**[2] आश्वलायनगृह्यसूत्रस्य व्याख्यायां पराशरमाधवीयेन लिखितमस्ति पञ्चमहायज्ञानां हि तैत्तिरीयारण्यकं मूलं पञ्च वा एते महायज्ञा इत्यादि। आपस्तम्बधर्मसूत्रेऽपि पञ्चमहायज्ञानां चर्चा अस्ति **'अथ ब्राह्मणोक्ता विधयः। तेषां महायज्ञा महासत्राणि च संस्तुतिः। अहरहर्भूतबलिमनुष्येभ्यो यथाशक्ति दानम्। देवेभ्यः स्वाहाकार आ काष्ठात् पितृभ्यः स्वधाकार ओदपात्रादृषिभ्यः स्वाध्याय इति।**[3] पञ्चमहायज्ञानां वर्णनं मनुस्मृतिग्रन्थेष्वपि विस्तृतरूपेण अस्ति।

---

1. शतपथ 11.5.6.7
2. आश्वलायन गृ. 3.1.1-2
3. आप. ध. सू. 1.4.12.13 एवं 1.4.13.1

ब्राह्मणग्रन्थेषु नानाविधानां यज्ञानाम्, विविधानुष्ठानानाम्, आख्यानानाम्, कर्ममीमांसादिविविधशास्त्राणामुदयस्य कथायाः विवेचनं सम्प्राप्यते। ब्राह्मणेषु प्रतिपाद्यः विषयः त्रिषु भागेषु भेत्तुं शक्यते-

विधिः- यस्मिन् यज्ञाय तत्सम्बद्धकर्मकलापाय नियमाः निर्दिश्यन्ते। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' अर्थात् यज्ञानुष्ठानम् अस्माकं महत्तमं कर्म विद्यते, अस्य उद्घोषो विधिभागस्य प्राणः। वेदमन्त्राणां विश्लेषणं अथवा व्याख्याकरणं तथा वैदिकपदानां व्याख्यानमपि ब्राह्मणानां विधिभागस्य मुख्यो विषयोऽस्ति। **उपनिषद्**- यस्मिन् आध्यात्मिकानामेव दार्शनिकविचाराणां समावेशोऽस्ति। आत्मविषयकज्ञानं प्रज्ञान-विषयकज्ञानं ब्रह्मविद्याविषयकं ज्ञानम् उपनिषत्सु वर्तते। **अर्थवादः** - अर्थवादे निन्दायाः तथा प्रशंसाया उभयोरेव निवेशो दृश्यते। यथा यज्ञे 'माष' निषिद्धत्वात् माषस्य निन्दा 'अमेध्या वै माषाः' -माष इत्युक्ते उडद) तथा 'वहिष् पवमान' स्तोत्रस्य उपादेयत्वकारणात् स्तुतिः कृताऽस्ति।

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भूतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥[1]

वैदिकपरम्परायां पञ्चमहायज्ञानां महत्त्वपूर्णं स्थानम् अस्ति। प्रत्येकं गृहस्थं प्रति पञ्चमहायज्ञानाम् अनुष्ठानमतीव महत्त्वपूर्णम् अस्ति। देवयज्ञः, पितृयज्ञः, भूतयज्ञः, मनुष्ययज्ञः, ब्रह्मयज्ञश्चेति, समष्टिरूपेण पञ्चमहायज्ञाः इत्याख्यायन्ते। एतेषां पञ्चमहायज्ञानाम् अनुष्ठानं प्रतिदिनं गृहस्थधर्मप्रविष्टानां मानवानाम् अत्यावश्यकं कर्तव्यमस्ति। तैत्तिरीयारण्यकस्य द्वितीयप्रपाठके- **'पञ्च वा एते महयज्ञाः सतति प्रतायन्ते सतति सन्तिष्ठन्ते'।**[2] इदानीं पञ्चमहायज्ञान् विदधाति पञ्च वा इति। नित्या एते यज्ञाः महत्त्वं विशेषणं स्तुतिमात्रम्। यथाऽऽहुः तेषां महायज्ञा महासत्राणीति संस्तुतिः इति। सततं दिने दिने क्रियन्ते दिने दिने समाप्यन्ते च न यज्ञान्तर-वदन्यस्मिन्नन्यारभ्यन्ते अस्मिन्नहनि समाप्यन्ते।

यः मनुष्यः देवानाम्, अतिथीनाम्, भृत्यानाम्, पितृणाम्, आत्मनश्च तोषकारकान् इमान् यज्ञान् न सम्पादयति स जीवन्नपि मृतः एव। पञ्चयज्ञविषये तैत्तिरीयारण्यके लिखितमस्ति -

'यदृचोऽधीते पयसः कूलया अस्य पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति यद्यजूंषि घृतस्य कूल्या यत्सामानि सोम एभ्यः पवते यदथर्वांगिरसो मधोः कूल्या यद् ब्रह्मणान् इतिहासपुराणानि कल्पान्गाथा नाराशंसीर्मेदसः कूल्याम् अस्य पितॄन्

---

1. मनुस्मृति - ३.७०
2. तैत्तिरीयारण्यक द्वितीयप्रपाठक

स्वधा अभिवहन्ति'।[1]

पयसा पूर्णाः कूल्याः कूलाहीः महानद्यः स्वधा भूत्वा अस्य अध्येतुः पितॄन् अभिलक्ष्य वहन्ति। घृतस्य कूल्या इति पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति। सोम इति पितृभ्यः सोमो धारावान् भूत्वा प्रवहति इति।

वैदिकयुगे एषां पञ्चानां दैनिकयज्ञानां महीयान् प्रचारः आसीत्। इमे पञ्चमहायज्ञाः विशालैः यज्ञैः तुल्याः सन्ति। उक्त पञ्चयज्ञेषु यदग्नौ जुहोति तद् देवयज्ञः। यथा मनुना प्रोक्तम्- 'होमो दैवः'। यत्पितृभ्यः स्वधा करोति तत् पितृयज्ञः। भूतेभ्यो यद् बलिर्दीयते तदैव भूतबलिः भूतयज्ञः भवति। अतिथीनां यः सत्कारः क्रियते तद् 'नृयज्ञः'। यत्स्वाध्यायमधीयते कामप्यृचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः। पञ्चमहायज्ञः देवयज्ञः, पितृयज्ञः, भूतयज्ञः, मनुष्ययज्ञः, ब्रह्मयज्ञश्चेति।

ब्रह्मयज्ञः -

ब्रह्मयज्ञस्य विषये अत्यन्तप्रचीनवर्णनं शतपथब्राह्मणे प्राप्यते। वेदमन्त्रपाठस्य अभिधानं स्वाध्यायो वा ब्रह्मयज्ञः। शतपथब्राह्मणि वेदाध्यनातिरिक्तवेदाङ्गविद्यायाः अध्यनस्य चर्चा कृता अस्ति। तैत्तरीयारण्यके - **'यत्स्वध्यायमधीयते कामप्यृचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः सन्तिष्ठते'।**[2] अस्य यज्ञस्य माध्यमेन मनुष्यः स्वप्राचीनान् ऋषीन् प्रति श्रद्धाभावम् आदरञ्च प्रकटयत्। एवं प्रकारेण मनुष्यः तान् ऋषीन् स्मृत्वा वेदमन्त्राणां पाठमकरोत्। इत्थं ब्रह्मयज्ञे वेदस्य अध्ययन-अध्यापनद्वारा ज्ञानवृद्धे समावेशो भवति। तैत्तरीयारण्यकः कथयति यत् ब्रह्मयज्ञस्य समापनम् - **'नमो ब्रह्मणे नमो स्वग्नये नमः पृथिव्यै नम ओषधीभ्यः। नमो वाचे नमो वाचस्पतये नमो विष्णवे बृहते करोमि॥'** इति मन्त्रं वारत्रयम् उक्त्वा कुर्यात्। नियमितरूपेण अस्य यज्ञस्य अनुष्ठानकर्त्तारः जनाः आत्मनः, स्वदेशस्य स्वजातेः एवं समग्रमानवजातेः कल्याणं विधाय अमरत्वमवाप्नुवन्। वेदस्यास्य नित्यम् अध्ययनअध्यापनेन मानवः सततं स्वज्ञानस्य वृद्ध्यर्थं सचेष्टो भवति। मनुना उक्तम्-

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्।[3]

देवयज्ञः -

यज्ञेऽस्मिन् देवतानां पूजनम् अर्चनं क्रियते स्म, बलिदानं समर्पणम् अग्नौ च देवेभ्यः आहुतिं प्रदाय तान् प्रति कृतज्ञत्वम् अभिव्यज्यते स्म। उक्तञ्च बौधायनधर्मसूत्रे-

---

1. तैत्तिरीयारण्यक।
2. तै. आ. 2/12
3. मनुस्मृति - ३.७५

'अहरहः स्वाहा कुर्यादाकाष्ठात्तथैतं देवयज्ञं समाप्नोति'[1] **एवं गौतमोऽपि 'देवपितृमनुष्ययज्ञाः स्वाध्यायश्च बलिकर्म। अग्नावग्निर्धन्वतरिर्विश्वेदेवाः प्रजापतिः स्विष्टिकृदिति होमः।**[2] मन्त्रोच्चारणपूर्वकं स्वाहा कुर्यात्। यथा- सोमाय स्वाहा, वनस्पतये स्वाहा, अग्निषोमाभ्यां स्वाहा, इत्यादि। वैखानसेन स्पष्टरूपेण लिखितमस्ति यत् **'पक्वेनान्नेन वैश्वदेवेन देवेभ्यो होमो दैवयज्ञः'**[3] मनुनाऽपि उक्तं **'होमो दैवः' इति।** आधुनिकयुगे प्रायेण मनुष्याः विश्वासं कुर्वन्ति स्म, यत्तेषां पार्श्वे यान्यपि सुख-सौविध्य-साधनानि सन्ति, तानि सर्वाणि ईश्वरप्रदत्तानि एव सन्ति। अतः प्रत्येकं नरस्य कर्तव्यमस्ति, यत् सः देवान् प्रति आभारं प्रदर्शयेत्। अस्मिन् यज्ञे अग्नौ देवेभ्य आहुतिप्रदानस्य तथा बलेः अर्थात् अमूल्यवस्तुनः समर्पणस्य विधानमस्ति, आहुतिप्रदानेन मनुष्यस्य कल्याणं भवति। विधिपूर्वकम् अग्नौ प्रक्षिप्ताहुतिः सूर्यं प्रति गच्छति सूर्यस्य अनुग्रहेण वृष्टिः, वृष्टेरन्नम्, अन्नेन प्रजाः जीवनं धारयन्ति। मनुना प्रोक्तम्-

दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम्।
अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥[4]

आरोग्यदृष्ट्यापि दैनिकं हवनम् अनुष्ठानं च उचितमस्ति, यतोहि जलस्य वायोश्च शुद्धिद्वारा वातावरणदोषाः नष्टाः भवन्ति। अनेन प्रकारेण गृहस्थाश्रमस्य अयं दैनिको देवयज्ञः व्यक्तिगतलाभं यावत् सीमितो नास्ति, अपितु सामाजिकाय श्रेयसे कल्याणकरो भवति।

पितृयज्ञः-

दैनिकजीवने कलहादीनाम् उपद्रवाणां दूरीकरणार्थं प्राचीनाः ऋषयः पितृयज्ञस्य विधानं कृतवन्तः। येन पारिवारिकं जीवनम् आनन्दपूर्वकं व्यतीतं भवेत्। अस्मिन् यज्ञे मनुष्यः पितॄन् अर्थात् स्वर्गस्थान् पूर्वजान् प्रति कृतज्ञतामज्ञापयत्। एवं विश्वासः आसीत्, यत्प्रत्येकं नरः पितृणाम् ऋणैः बद्धः। इदं ऋणं पितृयज्ञसम्पादनस्य पश्चादेव समाप्तिमगच्छत्। पितृतर्पण-बलिहरण-श्राद्धप्रभृतीनि कार्याणि पितृयज्ञस्य अन्तर्गतसम्पन्नानि भवन्ति। उक्तञ्च मनुस्मृतौ-

---

1. बौ. ध. 2.6.4
2. गौतम 5.8-9
3. वैखानसस्मार्त 6.17
4. मनुस्मृति -३.७५,७६

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन्।।[1]

शास्त्रकाराणामस्मिन् यज्ञे केवलं मृतपितृन् प्रति एवं तर्पणादीनि कर्तव्यानि अभीष्टानि नैवासन्, अपितु स्वस्वर्गस्थ-यशस्विनां पुण्यवतां पूर्वजानां गुणानात्मसात्कृत्य स्वजीवितमातापितृभिः सह अपि सेवा-भोजनादिसद्व्यवहारोऽपि अभीष्ट आसीत्।

भूतयज्ञः -

अयं 'बलिवैश्वदेव' अपि कथ्यते। अस्य सम्पादनस्य विधिरयमस्ति यत्पाक-शालायां यदपि भोजनं निर्मितमस्ति, तस्माद् मधुरान्नं गृहीत्वा तस्य मधुरान्नस्य काश्चिद् आहुतयः अग्नौ पाकशालायामेव दीयन्ते तदानीं अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा, इत्यादिविशिष्टमन्त्राणामुच्चारणं क्रियते। आपस्तम्बधर्मसूत्रमतानुसारेण क्षारलवणयुक्तान्नस्य होमः न भवति। एवमेव स्मृत्यर्थसारे उक्तमस्ति - **'क्रोद्रवं चणकं माषं मसूरं च कुलत्थकम्। क्षारं च लवणं सर्वं वैश्वदेवे विवर्जयेत्।।** (स्मृत्यर्थसारः) एतस्य अनन्तरं सूप-ओदन-रोटिकादीनां षड्भागाः गोकुक्कुर-वायसादिपक्षि- कृमि कीटादिसूक्ष्मजीवेभ्यः एवं अनाथपतितष्वपचादिभ्यो निःसार्यन्ते। उक्तं च-

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरागिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि।।[2]

याज्ञवल्क्येनाऽपि-उक्तम्-

देवेभ्यश्च हुतादन्नाच्छेषाद् भूतबलिं हरेत्।
अन्नं भूमौ श्वचाण्डालवायसेभ्यश्च निक्षिपेत्।। (1.103)

अत्र विश्वस्य अनाथान् असहायजीवान् प्रति सेवायाः भाव एव सन्निहितोऽस्ति। भूतयज्ञो वस्तुतः अस्मभ्यं त्यागपूर्वकं भोगस्य शिक्षां प्रददाति-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिद् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम्।।[3]

श्रीमद्भगवद्गीतायाः तृतीयाध्याये भगवताप्युक्तम् -

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।[4]

---

1. मनुस्मृति - 3/82
2. मनुस्मृति - 3/92
3. ईशोपनिषद् 1
4. श्रीमद्भगवद्गीता ३.१३

भारतीयविचारधारायाः अनुसारेण समग्रस्य विश्वस्य आत्मा परमात्मा एवास्ति स एव सर्वप्राणिषु चैतन्यरूपेण निवसति अतः भूतयज्ञद्वारा परमात्मनः एव पूजा सम्पाद्यते, तथा सर्वप्राणिनां सेवाया ईश्वरस्य पूजया परोपकारधर्मस्य पालनेन श्रेयः प्राप्यते।

नृयज्ञः

पञ्चमहायज्ञेषु अयं यज्ञः सर्वाधिकः महत्त्वपूर्ण अस्ति। अयमेव अतिथियज्ञनाम्ना प्रसिद्धः यथाकालं यथाशक्ति अतिथीनां सत्करणं गृहस्थस्य परमधर्मरूपेण अभिमतमस्ति। सामाजिक आत्मिक-नैतिकदृष्ट्या नृयज्ञस्य अत्यधिकं महत्त्वमस्ति। अस्य यज्ञस्य तात्पर्योऽस्ति यत् प्रत्येक गृहस्थजनः अतिथीन् प्रति स्वोत्तरदायित्वादिनि कर्तव्यानि चावगच्छेत्। अतिथिः कस्या अपि जातेर्भवेत् स सदैव समादरणीय एवाभिमतोऽस्ति। तैत्तिरीयसंहितानुसारे अतिथिदेवो भव! अर्थात् हे उपातविद्य! त्वं गृहस्थाश्रमे सदैव अतिथिदेवम् ईश्वरेण तुल्यं अवगच्छ। **उक्तञ्च 'यतिर्यस्य गृहे भुङ्क्ते तस्य भुङ्क्ते हरिः स्वयम्।**[1] अस्मिन् विषये एवमुक्तमस्ति यदसौ अतिथिः गृहस्थस्य भोजनं नैव अपितु तस्य पापानि भक्षयति। धर्मशास्त्रेषु अतिथिपूजनस्य महत्त्वं प्रतिपादयता ऋषिणा कथितं यत् यस्माद् गृहाद् अतिथिः निराशो भूत्वा निवर्तते तस्य गृहस्य सर्वाणि पुण्यानि नयति स्वपापानि च तत्र परित्यजति।

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्वते।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति।।[2]

कठोपनिषदि यमराजस्य पत्नी यमराजं प्रति अतिथिदेवापूजनस्य परिणामान् स्पष्टीकुर्वन्ती कथयति-

आशा प्रतीक्षे संगतं सूनृतां च,
इष्टापूर्ते पुत्र पशूश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्य अल्पमेधसो
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे।।[3]

अर्थात् अपूजितो वा असम्मानित अतिथिः गृहस्थस्य सर्वाणि पुण्यानि आदाय गच्छति। अद्यापि सर्वेषु धर्मेषु अतिथिसत्कारस्य महत्त्वं पूर्णतः स्वीकृतं दृश्यते। नैतिके धार्मिकेऽस्मिन् धरातले इमे पञ्चमहायज्ञाः मानवजीवनस्य सांस्कृतिकं पक्षं प्रस्तुवन्ति। एषामाचरणेन मनुष्यो जीवनस्य वास्तविकमानन्दं प्राप्तुं शक्नोति।

---

1. वृद्ध हारीत 8.89
2. महाभारतम् १२.१९१.१२
3. कठोपनिषद्

प्रत्येकं गृहस्थं प्रति पञ्चमहायज्ञानामनुष्ठानमतीव आवश्यकमनिवार्यं चास्ति। मनुस्मृत्यनुसारेण चुल्ली–पेषणी–कण्डनी–उपस्कर–उदकादिविषयकानां पापानां शमनार्थं पञ्चमहायज्ञानाम् अनुष्ठानं न केवल प्रामुख्यं भजतेऽपितु अनिवार्यं चास्ति। यथोक्तं भगवता मनुना–

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि।
पञ्चयज्ञविधानं च पंक्तिं चान्वाहिकीं गृही।।[1]

पञ्चसूनागृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डिनी चोदकम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्।।[2]

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्चक्लृपा महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्।।[3]

यथाशक्ति पञ्चमहायज्ञानां ब्रह्म–पितृ–देव–भूत–नृयज्ञानां कर्ता गृहे वसन्नपि चुल्ली– पेषण्युपस्करादिजन्यै पापैः न लिप्यते। एतद्विपरीतं तु जीवन्नपि गृहस्थः मृतकवत् एव। यथोक्तं भगवता मनुना–

पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते।[4]
देवताऽतिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानमुच्छवसन्न स जीवति।।[5]

इत्थं पञ्चमहायज्ञसिद्धान्तो गृहस्थं प्रत्येकं दृष्ट्या उन्नतिशीलमेव, आदर्श–मानवरूपेण आचरितुं चेष्टते। वैदिकयुगे ब्रह्म–पितृ–देव–भूत–नृपञ्चयज्ञानां दैनिकयज्ञानां महीयान् प्रचारः आसीत्। ब्रह्मयज्ञो वेदाध्ययनस्य अध्यापनयोः अभिधानमस्ति। पितृयज्ञः पिण्डदानम् अथवा तर्पणमस्ति। देवयज्ञः हवनादिकर्म विद्यते। भूतयज्ञः बलिरूपेण अन्नादिपदार्थानां दानमुच्यते। नृयज्ञः अतिथीनां भोजनादिना सत्कारेण सम्पद्यते। नैतिकधार्मिकधरातले इमे पञ्चमहायज्ञाः मानवजीवनस्य सांस्कृतिकं पक्षं प्रस्तुवन्ति। पञ्चमहायज्ञानामाचरणेन मनुष्यो जीवनस्य वास्तविकमानन्दं प्राप्तुं शक्नोति। अद्यापि पञ्चमहायज्ञानां महत्त्वं दृश्यते इति।।

✦✦✦

1. मनुस्मृति – 3/67
2. मनुस्मृति – 3/68
3. मनुस्मृति – 3/69
4. मनुस्मृति – 3/71
5. मनुस्मृति – 3/72

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

नाडीदोषस्तु विप्राणाम् ....

डॉ. गणेशत्रिपाठी

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, नवदेहली

शोधपत्रेऽस्मिन् ज्योतिर्वदा अनुसन्धात्रा विवाहमेलके प्रचलितवर्णपरककूटादि-दोषव्यवस्थानिरसनाय विविधग्रन्थोदाहरणपूर्वकमनेकानि तत्सम्बद्धप्रमाणानि प्रकटी-क्रियते। एतच्छोधलेखेन विवाहमेलकार्थं नवीनोपायाः लोके दृग्गोचरीभूताः स्युः।

सामान्यतः ज्योतिषशास्त्रे विवाहमेलापके **नाडीदोषस्तु विप्राणाम् ....इति** उक्तिरियं नितरां सर्वज्योतिर्वित्सु मुखे विराजते। षोडशसंस्कारेषु मुख्यत्वेन विराजमानः विवाहसंस्कारः निर्विघ्नम् आजीवनं सुखेन चलेदिति भावनया वधूवरयोर्मध्ये वर्णवश्य-तारायोनिग्रहगणभकूटनाडीजन्यानामष्टकूटानां विचारः प्रयोगश्च भूरिशः दृग्गोचरी भवति। तत्र तावत् ज्योतिषशास्त्रे विवाहमेलकार्थं सामान्यत अष्टकूटानां दशकूटानां द्वादशकूटानां अन्यप्रचलितकूटानां च प्रयोगाः देशकालपरिस्थित्यनुसारेण निर्दिष्टवर्णेभ्यः जातिभ्यः जनेभ्यश्च प्रभाविनः भवन्त्येव। तथाप्येवं भूते सत्यपि प्राधान्येन वर्णादि-कूटानि एव सर्वलोकप्रसिद्धत्वात् प्रमाणवचनानि ज्ञायन्ते। एतदतिरिच्यमपि वर्णानुसारेणापि विप्रादिवर्णमाश्रित्य कतिपयानां कूटानामतिशयः प्रयोगो भवति तथा च निर्दिष्टोक्तिरियं सर्वत्र बहुधा श्रूयते विचार्यते च। यथा आह-

नाडीदोषस्तु विप्राणां वर्णदोषस्तु भुभूजाम्।
गणदोषश्च वैश्यानां शूद्राणां योनिदूषणम्॥[1]

अस्यायमर्थः सम्पद्यते यत् विवाहकूटेषु विप्रेभ्यः विशेषतया नाडीदोषः क्षत्रियेभ्यः वर्णदोषः वैश्येभ्यः गणदोषः शूद्रेभ्यश्च योनिदोषः अतिशयेन विचार्यते। भारतीयसमाजे हि ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः चतुर्वर्णाः भवन्ति। विभिन्नगुणधर्मधारयतां जनानां वर्णानां शारीरिकमानसिकादिबहुविभेद् दृष्ट्यैव तेभ्यः कतिचन कूटानि विशिष्टतया अपरिहार्याणि विचारणीयानि च भवन्ति। मूलं विना वृक्षाभाव इति कल्पयित्वा नास्त्येतानि साम्प्रतिकानि कपोलकल्पितानि च। केचनेदं सर्वमविचार्यैव विवाहमेलापकं कुर्वन्ति तथा च राशिपरकं वर्णं मत्वा विचारणीय इति उदाहरन्ति। नास्त्येतत्समीचिनं मतं तेषां तु अल्पज्ञतावशादेतादृक् कुर्वन्ति। अतस्तत्परिशमनाय ज्योतिषशास्त्रीयविविधग्रन्थानामाधारीकृत्य विप्रादिवर्णपरककूटविवेचनं क्रियते। अत्रापि

1. शीघ्रबोधः 1.66

बहुविधं मतमवलोक्यते विपश्चिद्भिः। तदधः क्रमेण प्रस्तूयते शास्त्रानुरोधेन। ज्योतिषे सर्वप्रथमं वर्णपरककूटस्य बीजं विद्यामाधवप्रणीते मुहूर्त्तदर्शननामके ग्रन्थे प्राप्यते किन्तु तत्र भिन्नं मतमस्ति। तत्र विप्रेभ्यः मुनिगोत्रं, तथा चान्येभ्यः वर्णेभ्यः विशेषेण राशियोगः द्रष्टव्य इति प्रतिपादितः।[1] एतत्टीकायां तत्पुत्रः विष्णुशर्मा ब्रवीति यत् विप्रेभ्यः ग्रहमैत्री, क्षत्रियेभ्यः गणः, वैश्येभ्यः राशिः, शूद्रेभ्यश्च योनिविचारः परमावश्यकः भवति। तद्यथा हि–

विप्राणां ग्रहमैत्री स्यात् क्षत्रियाणां गणोऽधिकः।
वैश्यानां राशियोगस्स्यात् शूद्राणां योनिसंज्ञकः।।[2]

एतदेव क्वचिद् भिन्नं प्रतिपादितमस्ति। शार्ङ्गधरप्रणीतविवाहपटले लिखितमस्ति यत् विप्रेभ्यः नाडीराशीशौ, क्षत्रियेभ्यः गणवर्णौ, वैश्येभ्यः राशिकूटं, शूद्रेभ्यः योनिवर्गकूटे च विशेषरूपेण ध्यातव्याः भवन्ति। कालिदासप्रणीते ज्योदिर्विदाभरणे प्रोक्तं यत् विप्रेभ्यः तारा, क्षत्रियेभ्यः ग्रहमैत्री, वैश्येभ्यः गणमैत्री, शूद्रेभ्यश्च नाडी अवश्यमेव विचारयेत्।[3] पुनश्चापरनामधेयेन कालिदासेन पूर्वकालामृते प्रोक्तं यत् विप्रेभ्यः ग्रहमैत्री, क्षत्रियेभ्यः गणमैत्री, वैश्येभ्यः स्त्रीदूरं, शूद्रेभ्य अन्यवर्गेभ्यश्च योनिवर्गः सुतरां चिन्तनीयः। यथोच्यते–

वर्गाणां परिविंशतिः परिणये ज्ञेयाः स्फुटं भूसुरैः
विप्राणां ग्रहमित्रतैव नियता राज्ञां प्रधानं गणः।
स्त्रीदूरन्तु विशां प्रधानमपरो योन्याख्यवर्गो महान्
अन्येषां शुभदो भवेत् स्फुटमिदं शास्त्रं विचिन्त्यं बुधैः।।[4]

एतत्परमेव नृसिंहसूरिः स्वग्रन्थे कालप्रकाशिकायां प्रतिपादिवान् यत् विप्रेभ्यः दिनं, क्षत्रियेभ्यः गणः, वैश्येभ्यः राशिः, शूद्रेभ्यश्च योनिवर्गः प्रकृष्टेनोपायेन चिन्तनीयः। उक्तं च तत्र–

ब्राह्मणानां दिनं श्रेष्ठं क्षत्रियाणां गणं तथा।
राशिमैत्रं तु वैश्यानां शूद्राणां योनिरेव तु।।[5]

---

1. माहेन्द्रयोनिदिनराशिगृहेशयोगाः सामान्यतोऽधिकबलाः कथिताः दशभ्यः।
   अन्ये तु मध्यमबला मुनिगोत्रयोगाः श्रेष्ठो द्विजस्य तु परस्य राशियोगाः।।
   विद्यामाधवीयम् 8.33
2. विद्यामाधवीयटीकायां मुहूर्त्तदीपिकायाम् 8.33
3. दशावराध्यैरिह मुख्यमादिजान्मित्रं च ताराग्रहपुञ्जनाडीका।।
   ज्योतिर्विदाभरणम् 12.61
4. पूर्वकालामृतं तृतीयो बिन्दुः 94
5. कालप्रकाशिका 13.57

विवाहपटलग्रन्थे विप्राणां कृते नाडीविचारः क्षत्रियाणां कृते गणदोषः वर्णदोषश्च वैश्यानां कृते राशिदूरं शूद्राणां च कृते योनिदोषः वर्गदोषश्श्च विशेषतया विचारणीयो भवति। यतश्च–

नाडीमैत्री द्विजस्योक्ता गणवर्णौ च बाहुजे।
वैश्यस्य राशिदूरं च योनिवर्गौ च शूद्रजे॥[1]

वशिष्ठसंहितायामपि प्रोक्तं यत् विप्रेभ्यः ग्रहमैत्री, क्षत्रियेभ्यः ग्रहविचारः, वैश्येभ्यः स्त्रीदूरं, शूद्रेभ्यश्च योनिदोषः विशेषेण विचारणीयो भवति। तद्यथा हि–

मुख्योऽप्रजानां ग्रहमित्रवर्गः क्षमाधिपानां ग्रहसंज्ञकं च।
विशां प्रधानं वनिता विदूरं योन्याख्यवर्गं सततं परेषाम्॥[2]

दक्षिणभारतीयग्रन्थे प्रश्नमार्गे तु विप्रेभ्यः गोत्रविचारः, अन्येभ्यश्च जातिविचारः सातिशयेन करणीयो भवति।[3] एवमेव प्रकारेण पुरातनीयज्योतिषग्रन्थेषु वर्णपरकं विशिष्टं कूटं प्रतिपादितमस्ति। किन्तु तत्र समेषामाचार्याणां विभिन्ना मतिः नैकमतेरभावात् एतत्सर्वं ग्रन्थान्तरेषु भिन्नं-भिन्नं प्रतिपादितमस्ति। यदि एकैव ग्रहणं क्रियते तदा अन्यस्य विरोधः जायते। अन्यस्य गृह्यते तदा अपरस्य विरोधः जायते। परस्परविरोधाभासकारणादेव लोकेषु समेषां विचारः न क्रियते। साम्प्रतं काशीनाथप्रणीतस्य शीघ्रबोधस्य नाडीदोषस्तु विप्राणामिति वचनं सारस्वतप्रमाणरूपेण अङ्गीकृत्य स्वेच्छया व्यवहरन्ति। सर्वत्रैव आचार्याणां भिन्ना मतिः वर्तते। अतः कस्य ग्रहणं साररूपेण स्यादस्यापि निदर्शनं नास्ति। अन्येषां ग्रन्थवचनानां प्रमाणवलोकनभयादिदमेव ब्रह्मवाक्यं मन्यन्ते। नैतत्सर्वशास्त्राभिहतप्रमारूपम्। एतदत्रापि केचन विप्रादिजातिवर्णपरकं मन्यन्ते अन्ये च राशिजन्यवर्णपरकं स्वीकुर्वन्ति। तत्रापि न स्फुटा मतिः।

अर्वाचीनज्योतिर्ग्रन्थेषु वर्णाश्रितकूटानामुल्लेखः नैव प्राप्यते। एतत्क्रमे मुहूर्त्तमार्तण्ड–मुहूर्त्तचिन्तामणि–मुहूर्त्तकल्पद्रुम–विवाहवृन्दावन–मुहूर्त्तगणपति–रत्नमालादिषु ग्रन्थेषु लेशमात्रोऽपि निदर्शनं नास्त्येषां वर्णाश्रितकूटानाम्। अत इयं वर्णाश्रितकूटव्यवस्था कदाचित् पूर्वकालिका आसीत् किन्तु परिवर्तिनि काले एष नियमोऽपि परिवर्तितः तत्कारणेनास्योपाख्यानं मुहूर्त्तशास्त्रेषु नैव प्राप्यते। साम्प्रतं तु लोके अस्य प्रामाणिकता नास्ति सामान्ये सर्वे एव अष्टकूटानां दशकूटानां विविधकूटानां च प्रयोगं देशजाति–

---

1. नाडीमानविवाहपटलम् पृष्ठ 8
2. वशिष्ठसंहिता विवाहाध्यायः 224
3. वा यथा सम्भवं स्यात् जात्यैक्यं क्षत्रियादेर्भवतु च नियमाद् गोत्रभेदो द्विजस्य।
प्रश्नमार्गः 21.76

गुणानुसारं कुर्वन्ति। उत्तरभारते प्रायः अष्टकूटानां दक्षिणभारते दशकूटानां प्रयोगः दृष्टिपथमायाति। अष्टकूटानामप्राप्ते सति केवलं वर्णपरककूटस्य मेलकं कृत्वा विवाहादेशं कुर्वन्ति। अत्र केवलं प्राधान्येन वर्णपरकं कूटमपरिहार्यरूपेण विचारणीयं भवति। केवलं कूटविचारमेवाङ्गीकृत्य विवाहः सुखमयेन न चलति तत्कृते तु ग्रहमेलकस्यापि आवश्यकता विशेषतया भवति। पूर्वप्रतिपादितवर्णाश्रितकूटानि यथानुसारम्-

आचार्याः	**विप्रेभ्यः**	**क्षत्रियेभ्यः**	**वैश्येभ्यः**	**शूद्रेभ्यः**
विद्यामाधवः	मुनिगोत्रः	राशियोगः	राशियोगः	राशियोगः
विष्णुशर्मा	ग्रहमैत्री	गणः	राशिः	योनि
शार्ङ्गधरः	नाडी, राशीशः	गणःवर्णश्च	राशिदूरम्	योनिः वर्गश्च
कालिदासः	तारा	ग्रहमैत्री	गणमैत्री	नाडी
अपरकालिदासः	ग्रहमैत्री	गणमैत्री	स्त्रीदूरम्	योनिः
नृसिंहसूरिः	दिनवर्गः	गणः	राशिः	योनिः
प्रश्नमार्गः	गोत्रः	जातिः	जातिः	जातिः
शीघ्रबोधः	नाडी	वर्णः	गणः	योनिः
विवाहपटलम्	नाडी	गणवर्णौ	राशिदूरम्	योनिवर्गौ
वशिष्ठसंहिता	ग्रहमैत्री	ग्रहसंज्ञा	स्त्रीदूरम्	योनिः

सारांशः-

पूर्वप्रतिपादितविभिन्नज्योतिषशास्त्रीयग्रन्थानामनुशीलनेनेदं ज्ञायते यत् नाडीदोषस्तु विप्राणामिति श्लोकः पूर्णतया प्रमाणिको नास्ति। यदीदं प्रमारूपं मन्यते तदान्येषां वाक्यानां विरोधाभासः प्रतीयते। अतः समेषां विरोधापन्नकारणादेकस्य ग्रहणं शास्त्र-विरुद्धं भवतीति निश्चितम्। अथ च व्यवस्थैषा वर्णपरका राशिपरका वेति स्पष्टतया न कुत्रापि ज्ञायते। तथापि मन्मते तु विधिरयं वर्णपरकमस्ति न तु राशिपरमिति। यतो हि विप्रादिवर्णानां कृते दश-अष्ट-षट्-चतुर्कूटानामपि व्यवस्था अवलोक्यते। अन्यदपि भवितुं शक्नोति यतश्चानन्तशास्त्रमिति। प्रायः ज्योतिर्विदः यत् सरलं भवति तदेव विशेषं मत्वा लोकं व्यवहरन्ति। दृष्टान्तरूपेण वराहप्रतिपादित आयुर्जनितदशायाः प्रयोगं न केऽपि कुर्वन्ति। सर्वे विंशोत्तरीदशामेव व्यवहरन्ति। तत्रैव वराहस्य सर्वं प्रकरणं राशिग्रहप्रभावादिकं देववचनतुल्यं मत्वा शिरसा नमन्ति। अतः परिपाटीरियमपसारणीया विपश्चिद्भिः। यदि केवलं नाडीदोषस्तु विप्राणामिति गृह्यते

तदा अन्येषामपि वचनानां विचारोऽपि भवेत्। काशनाथप्रणीतः शीघ्रबोधः संग्रहग्रन्थः वर्तते। तत्रापि अनेकाः प्रमाणभूतश्लोकाः विराजन्ते विवाहपरकाः। अतः तेषामपि वचनानां ग्रहणं भवेदिति न केवलं नाडीदोषस्तु इति श्लोकः। तथा चान्ते-

केवलं ग्रहनक्षत्रं न करोति शुभाशुभम्।
सर्वमात्मकृतं कर्म लोकवादो ग्रहा इति॥[1]

1. ज्योतिषतत्त्वविवेक पृष्ठ 29

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

पाणिनिजैनेन्द्रयोः सन्धिसिद्धान्तदिग्दर्शनम्

गजाननधरेन्द्रः

संस्कृत-शिक्षकः

राजकीय-सर्वोदय-बालविद्यालयः,

जनकपुरी, नवदेहली

वेदानामर्थनिर्णये उपकारकस्य शब्दानुशासनस्य वेदाङ्गत्वमुपजायते। तत्र व्याकरणपरम्परायां पाणिनिव्याकरणमेव वेदाङ्गतया प्रसिद्धमस्ति, प्रतिपदसाधुत्वज्ञानविषयत्वाद् ऐन्द्रादीनि व्याकरणानि तथा न जातानि, यद् दिव्यवर्षाणां सहस्रं देवगुरुर्देवेन्द्रं तदुपदिशन्नपि नो प्राप्तं पर्यवसानं शतवर्षायुष्काणां जीवने समग्रस्याध्ययनस्य का कथा? अत एव साररूपेण भगवान् पाणिनिः चतुस्सहस्रसूत्रात्मकं व्याकरणं विरचयामास। तथा च स ग्रन्थः अष्टाध्यायीति नाम्ना प्रथितो वर्तते, ग्रन्थेऽत्र अष्टावध्यायाः वर्तन्ते, प्रत्यध्यायं चत्वारः पादाः विलसन्ति, अत एव पद्यमिदं रोचते-

"पाणिनीयं महाशास्त्रं पदसाधुत्वलक्षणम्।
सर्वोपकारकं ग्राह्यं कृत्स्नं त्याज्यं न किञ्चन"॥[1]

इत्यादिवचनेन सर्वतोभावेन पाणिनिव्याकरणस्य नितरां प्राशस्त्यमागच्छति दृष्टिपथे। वस्तुतः लक्ष्यलक्षणं व्याकरणमिति उक्त्वा व्याकरणशास्त्रस्य प्रयोजनचिन्तायां पतञ्जलिना रचितं महाभाष्यं दृष्टिपथमागच्छति तत्र मुख्यप्रयोजनानि (रक्षोहागम-लघ्वसंदेहाः) अथ च गौणप्रयोजनानि (त्रयोदश) विशदतया विवेचितानि वर्तन्ते, वस्तुतस्तु व्याकरणस्य परमं प्रधानं प्रयोजनं मोक्ष एव।

अत एव भर्तृहरिणा उक्तम्-

"इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः॥"[2]

पाणिनिव्याकरणस्यैव विकासभूताः अनेके वृत्तिग्रन्थाः, वार्त्तिकग्रन्थाः, भाष्यन्यासग्रन्थादयः समवलोक्यन्ते, पाणिनेः पद्धतिमङ्गीकृत्यैव नूतनाः अपि व्याकरणग्रन्थाः निर्मिताः सञ्जाताः प्रसङ्गेऽस्मिन् पद्यमिदं सर्वं प्रकाशते-

1. पाराशपुराणे व्यासेनोक्तम्।
2. वाक्यपदीयम्-१.१६

"इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः"।[1]

पद्यमिदं वोपदेवशास्त्रिणः उट्टङ्कितमिति। अत्र वैयाकरणानां कोटिद्वयं समुपलक्ष्यते, प्रथमपङ्क्तौ इन्द्रशाकटायनापिशलिकाशकृत्स्नपाणिनयः सन्ति। द्वितीयकोटौ चन्द्रामरजैनेन्द्राः वर्तन्ते। अत्र व्याकरणस्य प्रयोगोऽपि मानतामधिगच्छति, तथा हि **"ऋतूक्थासूत्रान्ताट्ठक्"** इति सूत्रोदाहरणे पञ्चव्याकरणः इति प्रयोगोऽवतरति, 'पञ्चव्याकरणः' इत्यस्यार्थः पञ्चानां व्याकरणानां अध्येता।।

पाणिनि- व्याकरणस्य विश्लेषणावसरे उपचतुःषष्टि-आचार्याणां नामानि समागतानि वर्तन्ते, एते सर्वे आचार्याः शब्दशास्त्रे तत्-तत्स्थले चर्चां कृतवन्तः। एतेषु वैयाकरणेषु त्रयाणां वैयाकरणानां (इन्द्रः, शाकटायनः, आपिशलिः) व्याकरणं नोपलभ्यते साम्प्रतम्। किन्तु पाणिनिप्राक्कालवर्त्तिनः अवश्यम्भाविनः आसन्, एवञ्च प्राचीनव्याकरणसामग्रीमधिकृत्य स्वसूक्ष्मेक्षिकया अष्टाध्यायीं विरचयामास। तदनु व्याकरणशास्त्रस्य नूतनः तादृशः ग्रन्थः जगतीतले केनापि न रचितः। यद्यपि न्यासग्रन्थाः वार्त्तिकग्रन्थाः, अथ च परिष्कारग्रन्थाः (व्याख्याग्रन्थाः) पाणिनि-व्याकरणानन्तरं समायाताः तथापि तादृशं वैशिष्ट्यं तेषां नास्ति।

* पाणिनिव्याकरणस्य वैशिष्ट्यम्

पाणिन्यष्टाध्याय्याः व्याकरणसम्प्रदाये अत्यन्तं महत्त्वं वर्तते, अस्याः वैशिष्ट्यम् अधोलिखितेषु पञ्चसु परिलक्ष्यते-

1. सूत्राणां लघुकायत्वम्।
2. सूत्राणां विशिष्टः रचनाप्रकारः।
3. भाषावैज्ञानिकता।
4. प्रकृतिप्रत्ययव्यवस्था।

* जैनेन्द्रव्याकरणम्, तद्वैशिष्ट्यञ्च

संस्कृतवाङ्मये व्याकरणस्य प्रमुखं स्थानं वर्तते, **"मुखं व्याकरणं स्मृतम्"**[2] इति वचनाद् मुखत्वात् व्याकरणस्य मुख्यत्वं जायते।

जैनाचार्यैः विरचितग्रन्थेषु चत्वारः व्याकरणग्रन्थाः प्रामुख्यं भजन्ते, तथाहि-

1. जैनेन्द्रव्याकरणम्
2. शाकटायनव्याकरणम्

---

1. बोपदेवकृत कविकल्पद्रुमारम्भे-पद्यम्-१३
2. पाणिनिशिक्षायाम्-भूमिका-११

3. सिद्धहैमशब्दानुशासनम्

4. मलयगिरिशब्दानुशासनम्

जैनवैयाकरणेषु जैनेन्द्रव्याकरणस्य रचयिता 'देवनन्दी' वर्तते, जैनव्याकरणे कालदृष्ट्या सर्वप्रथमं जैनेन्द्रव्याकरणमेव समुपलभ्यते। ग्रन्थोऽसौ अष्टाध्यायीमाश्रित्य लक्षणग्रन्थो वर्तते। जैनेन्द्रव्याकरणे अष्टाध्याय्याः अपेक्षया लघुता, सारल्यञ्च वर्तते, ग्रन्थेऽस्मिन् सर्वादौ मङ्गलार्थं स्वयम्भूदेवं प्रणम्य प्रारम्भो विहितो वर्तते।

तथाहि–

"लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य निरवद्याऽवभासते।
देवनन्दितपूजेशे नमस्तस्मै स्वयम्भुवे"॥[1]

आचार्येण देवनन्दिना पूर्ववर्त्तिनां षण्णाम् आचार्याणां स्वग्रन्थे उल्लेखो कृतो वर्तते। ते च आचार्याः–

1. श्रीदत्तः
2. यशोभद्रः
3. भूतबलिः
4. प्रभाचन्द्रः
5. सिद्धसेनः
6. समन्तभद्रः।

जैनेन्द्रव्याकरणस्य रचयिता

यद्यपि सामान्यतः अस्य ग्रन्थस्य प्रणेतृविषये पूर्वमेव उल्लेखो जातः। किन्तु प्रकृते किञ्चित् वैशिष्ट्यम् आनीयते। अत्र केचन विद्वांसः श्रद्धावशात् भगवन्तं महावीरं लेखकत्वेन स्वीकुर्वन्ति। डॉ. कीलहार्नमहोदयः श्यामसुन्दराचार्येण कृतायाः टीकायाः कल्पसूत्रस्य आरम्भे व्याकरणस्यास्य महावीरः कर्त्तेति स्वीकृतवान्। कल्पसूत्रस्य समयसुन्दरकृतटीकाया आधारेण इन्द्रद्वारा कृतप्रश्नानामुत्तररूपेण महावीरद्वारा उपस्थापितसामग्री एव जैनेन्द्रव्याकरणनाम्ना व्यवह्रियते। तथा च कल्पसूत्रस्यैव लक्ष्मीबल्लभकृत–कल्पद्रुमकलिकायां स्पष्टमुक्तं यत् जैनेन्द्रव्याकरणस्य रचयिता महावीर एव, तथा च जैनेन्द्रव्याकरणस्य वृत्तिकारः अथ चोदाहरणानां कर्त्ता इन्द्रोऽस्ति, उदयप्रभदेवसूरिकृत–उपदेशमालाकर्णिकायाः अनुसारं भगवान् महावीरः इन्द्राय शब्दशास्त्रम् उपदिदेश, तथा गुरुः तमेवोपदेशं ऐन्द्रव्याकरणनाम्ना प्रकाशितवान्

---

1. जै.व्याकरणम्–मङ्गलाचरणम्।

रचयितृविषये नैके पक्षाः सम्प्राप्यन्ते, वस्तुतस्तु देवनन्दी एव अस्य कर्त्तेति, अत्र प्रमाणरूपेण अधोलिखिताः पक्षाः वर्तन्ते- तथाहि-

1. जैनेन्द्रव्याकरणस्य "**उपज्ञाते**"[1] इति सूत्रवृत्तौ अभयनन्दिना "दैवनन्दिनमेकशेषं व्याकरणम्" इति उदाहरणं दत्तम्।
2. जैनेन्द्रव्याकरणस्य "**स्वस्याभाव्योऽत्परोऽणुदित्**" इत्यस्मिन् सूत्रे सोमदेवेन स्पष्टमभिहितम् यत्-

"आदेशः प्रत्ययश्चैव कटमेतो हि लक्ष्मणि।
भाव्यशब्देन पञ्चैते कथ्यन्ते देवनन्दिभिः॥"[2]

इत्याद्यनेकैः प्रमाणैः अभिज्ञायते यत् जैनेन्द्रव्याकरणस्य रचयिता देवनन्दी एवास्ति।

जैनेन्द्रव्याकरणस्य वैशिष्ट्यम्

जैनाचार्यैः रचितेषु व्याकरणग्रन्थेषु सर्वप्राचीनं जैनेन्द्रव्याकरणमेव वर्तते, व्याकरणस्य द्वौ सूत्रपाठौ विद्येते, तथा हि- लघुपाठः, बृहत्पाठश्च। अत्र लघुपाठ एव मूलपाठे विद्यते, ग्रन्थेऽत्र पञ्चाध्यायाः सन्ति, प्रत्यध्यायं चत्वारः पादाश्च वर्तन्ते अथ चाहत्य **3063** सूत्राणि वर्तन्ते, लघुपाठमाश्रित्यैव अभयनन्दिना महावृत्तिः विरचिता व्याकरणस्यास्य **500** वर्षेभ्यः प्राक् रचना जाता। ग्रन्थममुं अष्टाध्यायीमाश्रित्य प्रवर्तयामास, अत्र सिद्धान्तकौमुदीसदृशं वर्गीकरणं नोपलभ्यते, तथा चात्र पाणिनि-सूत्रापेक्षया सूत्राणां सारल्यं विद्यते,

जैनेन्द्रव्याकरणं पञ्चाङ्गव्याकरणं विद्यते, तानि च पञ्चाङ्गानि-धातुपाठ-गणपाठ-उणादिसूत्र-लिङ्गानुशासनानि वर्तन्ते।

जैनेन्द्रव्याकरणस्य पञ्चाध्यायीग्रन्थः पाणिनेः अष्टाध्यायीमाश्रित्य वर्तते। जैनेन्द्रव्याकरणस्य कतिपयसूत्राणि पाणिनिव्याकरणवत् तिष्ठन्ति अत्र पाणिनीयसूत्राणां कुत्रचित् योगविभागः कुत्रचित् द्वयोः संयोगः अथ च बहुत्र लघुकायत्वं सूक्ष्मरूपवत्वञ्च वर्तते। एतादृशबहुत्रस्थलेषु जैनेन्द्रव्याकरणे पाणिन्यष्टाध्याय्याः अपेक्षया अधिकतरं सारल्यं स्पष्टतया समुपजायते।

सन्धिसिद्धान्तदिग्दर्शनम्

आचार्येण देवनन्दिना जैनेन्द्रव्याकरणस्य चतुर्थाध्यायस्य तृतीयपादे तथा च

---

1. जै.व्या.३/८/८४
2. सोमदेवः जै.व्या.सू. व्याख्यायाम्।

पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थपादे सन्धिनियामकानि सूत्राणि प्रस्तुतानि वर्तन्ते। पाणिनि-व्याकरणापेक्षया तत्र साम्यमेव विद्यते।

पञ्चाध्याय्यां सन्धिसामग्र्याः विवरणम् –

पूज्यपाददेवनन्दिना जैनेन्द्रव्याकरणस्य चतुर्थाध्याये तृतीये पादे सूत्रसंख्यानुसारं सन्धिसूत्राणां वर्णनं प्राप्यते। यथा –

चतुर्थाध्यायस्य तृतीये पादे –

सूत्र सं.	4।3।60–73	=	14 सूत्राणि
	4।3।75–90	=	16 सूत्राणि
	4।3।92–105	=	18 सूत्राणि
	4।3।216....	=	01 सूत्रम्
			49 सूत्राणि

एवमेव –

पञ्चमाध्यायस्य तृतीये पादे –

5।3।57, 76, 78, 90, 94		=	05 सूत्राणि
			05

पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थे पादे –

5।4।1–36	=	36 सूत्राणि
5।4।119–123	=	05 सूत्राणि
5।4।125–140	=	16 सूत्राणि
		57

इत्थमाहत्य 49+5+36+05+16 संयोज्य शताधिकसूत्राणि उपदिष्टानि सन्ति। एतानि सूत्राणि संगृह्यैव मम शोधविषयः प्रचलिष्यत्यत्र। सन्धिनियमान् प्रतिपादयन् पूज्यपाददेवनन्दी पूर्णरूपेण पाणिनीयाष्टाध्याय्याः अनुकरणञ्चकार। सन्धि प्रकरणस्यानेकानि सूत्राणि जैनेन्द्रव्याकरणे अष्टाध्यायीतः परिवर्तनं विनैवोद्धृतानि सन्तीति।

जैनेन्द्रव्याकरणे "सन्धौ" ४/३/६०१ इति अधिकारसूत्रे चतुर्थाध्याये तृतीयचतुर्थपादयोः अथ च पञ्चमाध्यामे केषुचित् सूत्रेषु सन्धेः निरूपणं वर्तते। अथ च एतद् तौलनिकविमर्शात्प्राक् उपजीव्यत्वात् सन्धिप्रकरणस्य ज्ञाने प्राणभूतत्वात्

सहयोगित्वाच्च संज्ञापरिभाषाप्रकरणयोः सूत्राणां निदर्शनमपि करिष्यते। यतो हि सिद्धान्तकौमुदी सूत्राणां क्रमसंख्यानवरता स्यात्। विषयविस्तरभयात् विरमामीति शम्।

निम्नलिखितया तालिकया पाणिनिजैन्द्रव्याकरणयोः संज्ञासन्धिसूत्राणां तुलनात्मकतायाः स्पष्टरूपेण दिग्दर्शनमुपजायते। सिद्धान्तकौमुदीसूत्रक्रमानुसारेण....

संज्ञासन्धिसूत्राणां तुलनात्मिका सारिणी-

अथ संज्ञाप्रकरणम्

संज्ञासूत्राणां तुलनात्मकसारिणी

सि.कौ. सू. क्र.सं.	पाणिनीयसूत्रम् संख्या च	पाणिनीयसंज्ञा=जैनेन्द्रीयसंज्ञा (खुः)	जैनेन्द्रीयसूत्रम् संख्या च
१.	हलन्त्यम् १/३/३	इत्संज्ञा = इत्संज्ञा	कार्यार्थोऽप्रयोगीत् १/२/३
२.	आदिरन्त्येन सहेता १/१/७१	प्रत्याहारसंज्ञा = प्रत्याहरसंज्ञा	अन्त्येनेतादिः १.१.७३
३.	उपदेशेऽजनुनासिक इत् १/३/२	इत्संज्ञा = इत्संज्ञा	कार्यार्थोऽप्रयोगीत् १/२/३
४.	ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः १/२/२७	ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतसंज्ञा=प्र-दी-पसंज्ञा	आकालोऽच् प्र-दी-पः १/१/११
५.	उच्चैरुदात्तः १/२/२९	उदात्तसंज्ञा = उदात्तानुदात्तसंज्ञा	उच्चनीचावुदात्ता-नुदात्तौ १/१/१३
६.	नीचैरनुदात्तः १/२/३०	अनुदात्तसंज्ञा = उदात्तानुदात्तसंज्ञा	उच्चनीचावुदात्ता-नुदात्तौ १/१/१३
७.	समाहारः स्वरितः १/२/३१	स्वरितसंज्ञा = स्वरितसंज्ञा	व्यामिश्रः स्वरितः १/१/१४
८.	तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् १/२/३२		
९.	मुखनासिकावचनोऽनु-नासिकः १/१/८	अनुनासिकसंज्ञा = ङसंज्ञा	नासिक्यो ङः १/१/४
१०.	तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् १/१/९	सवर्णसंज्ञा = स्वम्संज्ञा	सस्थानक्रियं स्वम् १.१.२
११.	अ अ ८/४/६८	विवृतसंज्ञा =	

१२.	पूर्वत्रासिद्धम् ८/२/१	अधिकारसूत्रम् = अधिकारसूत्रम्	पूर्वत्रासिद्धम् ५/३/२७
१३.	नाऽऽज्झलौ १/१/१०	सवर्ण निषेध =	
१४.	अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः १/१/६९	ग्रहणकशास्त्रम् = ग्रहणकशास्त्रम्	अणुदित् स्वस्यात्म-नाऽभाव्योऽतपरः १/१/७२
१५.	तपरस्तत्कालस्य १/१/७०	समकालबोधकम् = समकालबोधकम्	अणुदित् स्वस्यात्म-नाऽभाव्योऽतपरः १/१/७२
१६.	वृद्धिरादैच १/१/१	वृद्धिसंज्ञा = ऐप्संज्ञा	आदैगैप् १/१/१५
१७.	अदेङ् गुणः १/१/२	गुणसंज्ञा = एप्संज्ञा	अदेङेप् १/१/१६
१८.	भूवादयो धातवः	धातुसंज्ञा = धुसंज्ञा	भूवादयो धुः १/२/१
१९.	प्राग्रीश्वरान्निपाताः १/४/५६	निपातसंज्ञा = निसंज्ञा	निः १/२/१२७
२०.	चादयोऽसत्त्वे १/४/५७	निपातसंज्ञा = निसंज्ञा	चादिरसत्वे १/२/१२८
२१.	प्रादयः १/४/५८	गतिसंज्ञा = निसंज्ञा	प्रादिः १/२/१२९
२२.	उपसर्गाः क्रियायोगे १/४/५९	उपसर्गसंज्ञा = गिसंज्ञा	क्रियायोगे गि १/२/१३०
२३.	गतिश्च १/४/६०	उपसर्ग/गतिसंज्ञा = तिसंज्ञा	ति १/२/१३१
२४.	न वेति विभाषा १/१/४४	विकल्पसंज्ञा =	
२५.	स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसञ्ज्ञा १/१/६८	स्वरूपसंज्ञा =	
२६.	येन विधिस्तदन्तस्य १/१/७२	तदन्तविधि = अलिविधि	येनालि विधिस्त-दन्ताद्यो: १/१/६७
२७.	विरामोऽवसानम् १/४/११०	अवसानसंज्ञा =	
२८.	परः सन्निकर्षः संहिता १/४/१०९	संहितासंज्ञा =	
२९.	सुप्तिङन्तं पदम् १/४/१४	पदसंज्ञा = पदसंज्ञा	सुम्मिङन्तं पदम् १/२/१०३
३०.	हलोऽनन्तराः संयोगः १/१/७	संयोगसंज्ञा = स्फसंज्ञा	हलोनन्तराः स्फः १/१/३

३१.	ह्रस्वं लघुः १/४/१०	लघुसंज्ञा = घिसंज्ञा	प्रो घि च १/२/९९
३२.	संयोगे गुरूः १/४/११	गुरूसंज्ञा = रूसंज्ञा	स्फे रूः १/२/१००
३३.	दीर्घञ्च	दीर्घसंज्ञा = दीसंज्ञा	दीः १/२/१०१

इति संज्ञाप्रकरणम्

अथपरिभाषाप्रकरणम्

सि.कौ. सू. क्र.सं.	पाणिनीयसूत्रम् संख्या च	पाणिनीयपरिभाषा = जैनेन्द्रीयपरिभाषा	जैनेन्द्रीयसूत्रम् संख्या च
३४.	इको गुणवृद्धी १/१/३	परिभाषासूत्रम्=साम्यत्वम्	इकस्तौ १/१/१७
३५.	अचश्च १/२/२८	परिभाषासूत्रम्=साम्यत्वम्	अचश्च १/१/१२
३६.	आद्यन्तौ टकितौ १/१/४६	परिभाषासूत्रम्=साम्यत्वम्	टिदादिः १/१/५३ किदन्तः १/१/५४
३७.	मिदचोऽन्त्यात्परः १/१/४७	परिभाषासूत्रम्=साम्यत्वम्	परोऽचो मित् १/१/५५
३८.	षष्ठी स्थानेयोगा १/१/४९	परिभाषासूत्रम्=साम्यत्वम्	ता स्थाने १/१/४६
३९.	स्थानेऽन्तरतमः १/१/५०	परिभाषासूत्रम्=साम्यत्वम्	स्थानेऽन्तरतमः १/१/४७
४०.	तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य १/१/६६	परिभाषासूत्रम्=साम्यत्वम्	ईप्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः १/१/६०
४१.	तस्मादित्युत्तरस्य १/१/६७	परिभाषासूत्रम्=साम्यत्वम्	ईप्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः १/१/६०
४२.	अलोऽन्त्यस्य १/१/५२	परिभाषासूत्रम्=साम्यत्वम्	अन्तेऽलः १/१/४९
४३.	ङिच्च १/१/५३	परिभाषासूत्रम्=साम्यत्वम्	ङित् १/१/५०
४४.	आदेः परस्य १/१/५४	परिभाषासूत्रम्=साम्यत्वम्	परस्यादेः १/१/५१
४५.	अनेकाल शित्सर्वस्य १/१/५५	परिभाषासूत्रम्=साम्यत्वम्	शित्सर्वस्य १/१/५२
४६.	स्वरितेनाधिकारः १/३/११	परिभाषासूत्रम्=साम्यत्वम्	स्वरितेनाधिकारः १/२/५

इति परिभाषाप्रकरणम्

अच्सन्धिप्रकरणम्

सि.कौ. सू. क्र.सं.	पाणिनीयसूत्रम्	सूत्रसंख्या	जैनेन्द्रीयसूत्रम्	सूत्रसंख्या
४७.	इको यणचि	६.१.७७	अचीको यण्	४.३.६५
४८.	अनचि च	८.४.४७	अनचि	५.४.१२७
४९.	स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ	१.१.५६	स्थानीवादेशोऽनल्विधौ	१.१.१५६
५०.	अचः परस्मिन्पूर्वविधौ	१.१.५७	परेऽचः पूर्वविधौ	१.१.१५७
५१.	न पदान्तर्द्विवचनवरेयलोप-स्वरसवर्णानुस्वार दीर्घजश्च-र्विधिषु	१.१.५८	न पदान्तद्वित्ववरेयखस्वानु-स्वारदीचर्विधौ	१.१.१५८
५२.	झलां जश् झशि	८.४.५३	झलां जश् झशि	५.४.१२८
५३.	अदर्शनं लोपः	१.१.६०	नाशः खम्	१.१.६१
५४.	संयोगान्तस्य लोपः	८.२.२३	स्फान्तस्य खम्	५.३.४१
५५.	नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य	८.४.४८	प्रतिरूपन्नास्ति	–
५६.	त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य	८.४.५०	प्रतिरूपन्नास्ति	–
५७.	सर्वत्र शाकल्यस्य	८.४.५१	प्रतिरूपन्नास्ति	–
५८.	दीर्घादाचार्याणाम्	८.४.५२	प्रतिरूपन्नास्ति	–
५९.	अचो रहाभ्यां द्वे	८.४.४६	अचो रहाद् द्वे	५.४.१२६
६०.	हलो यमां यमि लोपः	८.४.६४	हलो यमां यमि खम्	५.४.१३८
६१.	एचोऽयवायावः	६.१.७८	एचोऽयवायावः	४.३.६६
६२.	तस्य लोपः	१.३.९	प्रतिरूपन्नास्ति	–
६३.	वान्तो यि प्रत्यये	६.१.७९	यि त्ये	४.३.६७
६४.	धातोस्तन्निमित्तस्यैव	६.१.८०	धोस्तस्मिन्नेव	४.३.७०
६५.	क्ष्य्यजय्यौ शक्यार्थे	६.१.८१	क्षिज्योः शक्तौ	४.३.६८ ४.३.६९
६६.	क्रय्यस्तदर्थे	६.१.८२	क्रय्यः स्वार्थे	४.३.७१

६७.	लोपः शाकल्यस्य	८.३.१९	व्योः खं वा हलि	५.४.५ ५.४.६
६८.	एकः पूर्वपरयोः	६.१.८४	द्वयोरेकः	४.३.७२
६९.	आद्गुणः	६.१.८७	आदेप्	४.३.७५
७०.	उरण् रपरः	१.१.५१	रन्तोऽणुः	१.१.४८
७१.	झरो झरि सवर्णे	८.४.६५	झरो झरि स्वे	५.४.१३९
७२.	वृद्धिरेचि	६.१.८८	एच्चैप्	४.३.७६
७३.	एत्येधत्यूठ्सु	६.१८९	इत्येधत्यूठ् सु	४.३.७७
७४.	उपसर्गादृति धातौ	६.१.९१	धावृति गे	४.३.७९
७५.	अन्तादिवच्च	६.१.८५	तद्वत्	४.३.७३
७६.	खरवसानयोर्विसर्जनीयः	८.३.१५	विरामे विसर्जनीयः	५.४.१९
७७.	वा सुप्यापिशलेः	६.१.९२	वा सुपि	४.३.८०
७८.	एङि पररूपम्	६.१.९४	एङि पररूपम्	४.३.८१
७९.	अचोऽन्त्यादि टि	१.१.६४	अन्त्याद्यचष्टिः	१.१.६५
८०.	ओमाङोश्च	६.१.९५	ओमाङोः	४.३.८२
८१.	अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ	६.१९८	डाजर्हस्येताषतः	४.३.८५
८२.	नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा	६.१.९९	न म्रेस्तो वा	४.३.८६
८३.	तस्य परमाम्रेडितम्	८.१.२	परो म्रिः	५.३.२
८४.	झलां जशोऽन्ते	८.२.३९	झलो जश्	५.३.५७
८५.	अकः सवर्णे दीर्घः	६.१.१०१	स्वेऽको दीः	४.३.८८
८६.	एङः पदान्तादति	६.१.१०९	नेच्यात्	४.३.९२
८७.	सर्वत्र विभाषा गोः	६.१.१२२	प्रतिरूपन्नास्ति	–
८८.	अवङ् स्फोटायनस्य	६.१.१२३	विभाषाऽन्यत्र	४.३.१०२
८९.	इन्द्रे च	६.१.१२४	गोरिन्द्रेऽवङ्	४.३.१०१

प्रकृतिभावसन्धिः

सि.कौ. सू. क्र.सं.	पाणिनीयसूत्रम्	सूत्रसंख्या	जैनेन्द्रीयसूत्रम्	सूत्रसंख्या
९०.	प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्	६.१.१२५	प्रकृत्याऽचि दिपाः	४.३.१०३
९१.	इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च	६.१.१२७	विभाषेकोऽस्वे प्रश्च	४.३.१०४
९२.	ऋत्यकः	६.१.१२८	ऋत्यकः	४.३.१०५
९३.	वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः	८.२.८२	वाक्यस्य टेः पः	५.३.९०
९४.	प्रत्यभिवादेऽशूद्रे	८.२.८३	प्रत्यभिवादेऽशूद्रस्त्र्यसूयके	५.३.९१
९५.	दूराद्धूते च	८.२.८४	दूराद्धूते	५.३.९२
९६.	हैहेप्रयोगे हैहयोः	८.२.८५	हैहेप्रयोगे हैहयोः	५.३.९३
९७.	गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्	८.२.८६	अनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य रोः	५.३.९४
९८.	अप्लुतवदुपस्थिते	६.१.१२९	वाऽपवदितौ	४.३.१०६
९९.	ई ३ चाक्रवर्मणस्य	६.१.१३०	ई इत्	४.३.१०७
१००.	ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्	१.१.११	ईदूदेद्द्विर्द्विः	१.१.२०
१०१.	अदसो मात्	१.१.१२	द्यः	१.१.२१
१०२.	शे	१.१.१३	प्रतिरूपन्नास्ति	–
१०३.	निपात एकाजनाङ्	१.१.१४	निरेकाजनाङ्	१.१.२२
१०४.	ओत्	१.१.१५	ओत्	१.१.२३
१०५.	सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे	१.१.१६	कौ वेतौ	१.१.२४
१०६.	उञः	१.१.१७	उञः	१.१.२५
१०७.	ऊँ	१.१.१८	ऊम्	१.१.२६
१०८.	मय उञो वो वा	८.३.३३	मयो वोऽच्युञः	५.४.१५
१०९.	ईदूतौ च सप्तम्यर्थे	१.१.१९	प्रतिरूपन्नास्ति	–
११०.	अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः	८.४.५७	प्रतिरूपन्नास्ति	–

हल्सन्धिः

सि.कौ. सू. क्र.सं.	पाणिनीयसूत्रम्	सूत्रसंख्या	जैनेन्द्रीयसूत्रम्	सूत्रसंख्या
१११.	स्तोः श्चुना श्चुः	८.४.४०	स्तोः श्चुना श्चुः	५.४.११९
११२.	शात्	८.४.४४	शात्	५.४.१२३
११३.	ष्टुना ष्टुः	८.४.४१	ष्टुना ष्टुः	५.४.१२०
११४.	न पदान्ताट्टोरनाम्	८.४.४२	पदस्य टोर्नाम्नवतिनगरी	५.४.१२१
११५.	तोः षि	८.८.४३	न तोः षि	५.४.१२२
११६.	यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा	८.४.४५	यरो ङो विभाषा ङे	५.४.१२५
११७.	तोर्लि	८.४.६०	तोर्लि	५.४.१३४
११८.	उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य	८.४.६१	स्थास्तम्भोः पूर्वस्योदः	५.४.१३५
११९.	झयो होऽन्यतरस्याम्	८.४.६२	झयो हः	५.४.१३६
१२०.	शश्छोऽटि	८.४.६३	शश्छोऽटि	५.४.१३७
१२१.	खरि च	८.४.५५	खरि	५.४.१३०
१२२.	मोऽनुस्वारः	८.३.२३	मोऽनुस्वारः	५.४.७
१२३.	नश्चापदान्तस्य झलि	८.३.२४	नश्चापदान्तस्य झलि	५.४.८
१२४.	अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः	८.४.५८	यय्यनुस्वारस्य परस्वम्	५.४.१३२
१२५.	वा पदान्तस्य	८.४.५९	वा पदान्तस्य	५.४.१३३
१२६.	मो राजि समः क्वौ	८.३.२५	सम्राट्	५.४.९
१२७.	हे मपरे वा	८.३.२६	हि मपरे वा	५.४.१०
१२८.	यथासंख्यमनुदेशः समानाम्	१.३.१०	यथासंख्यं समाः	१.२.४
१२९.	नपरे नः	८.३.२७	नपरे नः	५.४.११
१३०.	ङ्णोः कुक्टुक्छरि	८.३.२८	ङ्णोः कुक्टुक्छरि	५.४.१२
१३१.	डः सि धुट्	८.३.२९	ङ्नां धुट् सोश्चः	५.४.१३
१३२.	नश्च	८.३.३०	नश्शि तुक्	५.४.१४
१३३.	शि तुक्	८.३.३१	नश्शि तुक्	५.४.१४
१३४.	ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्	८.३.३२	ङमो नित्यं ङमुट् प्रात्	५.४.१६
१३५.	समः सुटि	८.३.५	प्रतिरूपन्नास्ति	–
१३६.	अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा	८.३.२	प्रतिरूपन्नास्ति	–
१३७.	अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः	८.३.४	पुमः खय्यम्परे सोऽनुस्वारपूर्वः	५.४.१

१३८.	विसर्जनीयस्य सः	८.३.३४		
१३९.	पुमः खय्यम्परे	८.३.६	पुमः खय्यम्परे सोऽनुस्वारपूर्वः	५.४.१
१४०.	नश्छव्यप्रशान्	८.३.७	नश्छव्यप्रशान्	५.४.२
१४१.	नृपे	८.३.१०	प्रतिरूपन्नास्ति	–
१४२.	कुप्वो ≍ क ≍ पौ च	८.३.३७	क पौ	५.४.२१
			कुप्वोः	५.४.२२
१४३.	कानाम्रेडिते	८.३.१२	प्रतिरूपन्नास्ति	–
१४४.	कस्कादिषु च	८.३.४८	कस्कादौ	५.४.३६
१४५.	संहितायाम्	६.१.७२	सन्धौ	४.३.६०
१४६.	छे च	६.१.७३	छे	४.३.६१
१४७.	आङ्माङोश्च	६.१.७४	आङ्माङोः	४.३.६२
१४८.	दीर्घात्	६.१.७५	द्यः	४.३.६३
१४९.	पदान्ताद्वा	६.१.७६	वा पदस्य	४.३.६४

विसर्गसन्धिः

सि.कौ. सू. क्र.सं.	पाणिनीयसूत्रम्	सूत्रसंख्या	जैनेन्द्रीयसूत्रम्	सूत्रसंख्या
१५०.	शर्परेविसर्जनीयः	८.३.३५	शर्परे खरि	५.४.२०
१५१.	वा शरि	८.३.३६	शरि सश्च	५.४.२३
१५२.	सोऽपदादौ	८.३.३८	कुप्वोस्त्ये	५.४.२६
१५३.	इणः षः	८.३.३९	इणः षः	५.४.२७
१५४.	नमस्पुरसोर्गत्योः	८.३.४०	नमः पुरसोस्त्योः	५.४.२९
१५५.	इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य	८.३.४१	इदुदुङोऽत्यपुंमुहुसः	५.४.२८
१५६.	तिरसोऽन्यतरस्याम्	८.३.४२	तिरसो वा	५.४.३०
१५७.	द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे	८.३.४३	सुचः	५.४.३१
१५८.	इसुसोः सामर्थ्ये	८.३.४४	इसुसोः सामर्थ्ये	५.४.३२
१५९.	नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य	८.३.४५	सस्सेऽद्यु स्थस्य	५.४.३३
१६०.	अतः कृकमिकंसकुम्भपात्र-कुशाकर्णीष्वनव्ययस्य	८.३.४६	कृकमिकंसकुम्भकुशाकर्णी-पात्रेऽतोऽभेः	५.४.३४
१६१.	अधः शिरसी पदे	८.३.४७	शिरोऽधसोः पदे	५.४.३५

स्वादिसन्धिः

सि.कौ. सू. क्र.सं.	पाणिनीयसूत्रम्	सूत्रसंख्या	जैनेन्द्रीयसूत्रम्	सूत्रसंख्या
१६२.	ससजुषो रुः	८.२.६६	ससजुषो रिः	५.३.७६
१६३.	अतो रोरप्लुतादप्लुते	६.१.११३	रेरद्धसोः	४.३.१००
१६४.	प्रथमयोः पूर्वसवर्णः	६.१.१०२	सुटि पूर्वस्वम् शसि	४.३.८९ ४.३.९०
१६५.	नादिचि	६.१.१०४	नेच्यात्	४.३.९२
१६६.	हशि च	६.१.११४	रेरद्धसोः	४.३.१००
१६७.	भोभगोअघो अपूर्वस्य योऽशि	८.३.१७	ओदपूर्वस्य योऽशि	५.४.४
१६८.	व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य	८.३.१८	प्रतिरूपन्नास्ति	-
१६९.	ओतो गार्ग्यस्य	८.३.२०	व्योः खं वा	५.४.५
१७०.	उञि च पदे	८.३.२१	प्रतिरूपन्नास्ति	-
१७१.	हलि सर्वेषाम्	८.३.२२	हलि	५.४.६
१७२.	रोऽसुपि	८.२.६९	रोऽसुपि	५.३.७८
१७३.	रो रि	८.३.१४	रो रि	५.४.१८
१७४.	ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः	६.३.१११	ढ्रखे पूर्वस्याणो दीः	४.३.२१६
१७५.	विप्रतिषेधे परं कार्यम्	१.४.२	स्पर्द्धे परम्	१.२.९०
१७६.	एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्-समासे हलि	६.१.१३२	हल्येतत्तदोऽरनञ्सेऽकोः सुखम्	४.३.१०९
१७७.	सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्	६.१.१३४	प्रतिरूपन्नास्ति	-

उपसंहारः-

जैनेन्द्रव्याकरणे कृताभिरनेकाभिः टीकाभिः अनुमीयते यत् प्राकृतं व्याकरणं सर्वथा संस्कृतव्याकरणमाधारितमेव। जैनेन्द्रमहावृत्तौ काशिकाकृतेः पर्याप्तः प्रभावो दृष्टिगोचरः परिलक्ष्यते, अथ च कात्यायनद्वारा विरचितवार्तिकानां पतञ्जलि-कृतमहाभाष्यस्य च यद् वैशिष्ट्यं वर्तते, तत्सर्वं देवनन्दिना अंगीकृतम्। प्रसंगेऽस्मिन् डॉ. वासुदेवशरणअग्रवालःवदति यत् "आचार्यदेवनन्दिपाणिनिव्याकरणस्य कात्यायनस्य वार्तिकानां अथ पतञ्जलेः महाभाष्यस्य महान् विद्वान् आसीत्। इत्यत्र न विशयलेशः।

अथ च जैनधर्मदर्शने तेषां अत्यन्तमधिकारो वर्तते। ते गुप्तयुगस्य महान्तः सहित्यकाराः आसन्। कालान्तरे अनेकैः विद्वद्विः तेभ्यः पूज्यपाद इत्युपाधिः प्रायच्छन्। एवञ्च ज्ञायते यत् आचार्यदेवनन्दिः आदौ पाणिनिव्याकरणं सम्यगधीत्य स्वप्राकृतव्याकरणं तद्रीत्यैव विरचयामास, अस्तु विस्तरात् विरामः इति शम्।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1) संस्कृत साहित्य का इतिहास, युधिष्ठिर मीमांसक मोतीलालबनारसीदास
2) संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, युधिष्ठिर मीमांसक मोतीलालबनारसीदास
3) जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास तृ.भा. पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी १९९६
4) जैनाचार्यो का संस्कृत व्याकरण को योगदान-डा. प्रभाकुमारी, निर्माण प्रकाशन, दिल्ली १९९०
5) द्रष्टव्यः-आचार्यअभयनन्दिप्रणीतः "महावृत्तिसहितम्" ग्रन्थः
6) पाणिनीयाष्टाध्यायीस्थ सूत्राणि।
7) जैनेन्द्रपञ्चाध्यायीस्थ सूत्राणि।
8) जैनेन्द्रव्याकरणम् (अभयनन्दिप्रणीतजैनेन्द्रमहावृत्तिसहितम्), सम्पादकः-शम्भुनाथत्रिपाठी, भारतीयज्ञानपीठम्
9) पाणिनीयशिक्षा, पाणिनिः, सम्पादकः मनमोहनघोषयुनिवर्सिटी ऑफ कलकत्तानगरम्
10) महाभाष्यम् (ख.१-३) पतञ्जलिः, मोतीलालबनारसीदासः
11) सिद्धान्तकौमुदी (ख.१-३) भट्टोजिदीक्षितः, सम्पादकः श्रीशचन्द्रबसुः मातीलालबनारसीदासः

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

संस्कृत कविता के कुछ अनालोचित पक्ष

डॉ. अजय कुमार मिश्र
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
(मानित विश्वविद्यालय)
जनकपुरी, नवदेहली

प्रस्तुत आलेख *समकालीन भारतीय साहित्य* (साहित्य अकादमी, साहित्य अकादमी अंक 111 जनवरी-फरवरी 2004) में छपे बुद्धदेव बोस की चिन्तन भूमि *संस्कृत कविता और आधुनिक युग* तथा इससे जुड़े जयशंकर त्रिपाठी एवं अ.रा. आर्दी लिखित क्रमशः टिप्पणी *संस्कृत साहित्य सदा ही वर्तमान हैं* तथा *संस्कृत भाषा का स्थान* (दोनों *समकालीन भारतीय साहित्य,* साहित्य अकादमी, अंक 113 मई-जून 2004) पर आधारित हैं। ऐसा महसूस होता है कि बोस जी ने आज से तक़रीबन पचास साल पहले बांग्ला भाषा में जो यह आलेख अपनी किताब की भूमिका के रूप में लिखा था यदि आज इसका हिंदी तर्जुमा नहीं छप पाता तो संस्कृत बानगी की इतनी पुष्कल सामग्री पाठक समाज के हाथ नहीं लग पाती। बोस जी के पुख़्ता आलेख के तात्त्विक विश्लेषण से साफ है कि इनकी यह तफ़्तीश बड़ी बारीक और थोड़ी तल्खी भरी भी है। इनकी समीक्षा में छंद, अलंकार तथा रस आदि परिपाटी के साथ साहित्य के समाजशास्त्रीय विविध वातायन भी खुले नज़र आते हैं। अतः इसमें लुंसियन गोल्डमान तथा टेरी इगेलटन सदृश चिंतकों के फलसफे भी दस्तक देते सुनाई पड़ते हैं। संस्कृत विषयक सामग्री का अनूदित होकर पाठक तक पहुँचना एक तरफ इसकी समीचीनता तथा प्रासांगिकता को पुष्ट करता है तो दूसरी ओर यह भी संकेत मिलता है कि आज के संस्कृत समीक्षक इस तरह के तलस्पर्शी तथा बहुआयामी लेखन की दिशा में कोई खास पहल करते नहीं दिख रहे हैं। बोस जी के विषय में यह भी साफ कर देना जरूरी है कि जितना उन्हें समीक्षा दर्शन का ज्ञान है। अगर उतना ही संस्कृत वाङ्मय पर उनकी पकड़ होती तो संस्कृत कविता का मुआयना और साफ, सटीक तथा गंभीर होता।

त्रिपाठी जी ने अपनी टिप्पणी में बोस जी की इस कमजोरी को जरूर पकड़ा है। लेकिन उन्होंने भी संस्कृत कविता की पुरातन कड़ी को आधुनिकतम

कड़ी से नहीं जोड़ा है। इससे संस्कृत भाषा की आधुनिकता इसके कुछ क्लासिकल रचनाओं के आस-पास ही सिमट कर रह गयी है। बोस जी ने अपने आलेख के शीर्षक में *आधुनिक* शब्द का प्रयोग तो किया है लेकिन इसके अर्थवत्ता के संदर्भ का खुलासा नहीं किया है। उन्होंने संस्कृत वाङ्मय के कुछ चुनिंदा रचनाओं के आधार पर ही संस्कृत भाषा की आधुनिकता की तलाश करने का प्रयास किया है। जबकि संस्कृत साहित्य में कविता का अर्थ इसके महाकाव्य, खंडकाव्य, संदेशकाव्य, गीतिकाव्य, लहरीकाव्य, नीतिकाव्य तथा स्त्रोतकाव्य जैसी विधाओं से लगाया जाता है। इन दिनों संस्कृत ग़ज़ल तथा लघु कविता की भी विपुलता है। इसके अलावा पाश्चात्य शैली तथा छंदों में भी अनेक कविताएँ लिखी जा रही हैं।

संस्कृत भाषा के आधुनिक कालखंड के समय-निर्धारण की दिशा में पद्मभूषण बलदेव उपाध्याय, अभिराज राजेन्द्र मिश्र, राधावल्लभ त्रिपाठी तथा जयशंकर त्रिपाठी ने कुछ पहल तो की है, लेकिन यह सुव्यवस्थित नहीं लगता। इसकी वैज्ञानिक स्थापना अभी इसलिए भी जरूरी है कि संस्कृत भाषा का आधुनिक साहित्य ऊर्जस्वी तथा विपुल होते हुए भी आज बिखरा पड़ा है। जब तक इन्हें इतिहास के सूत्र में आबद्ध नहीं किया जाएगा तब तक इस युग के विषय में कुछ खास ठोस ढंग से नहीं कहा जा सकता है। बोस जी ने संस्कृत भाषा की आधुनिकता को आज के *आधुनिक युग* के संदर्भ में नहीं टटोला है। त्रिपाठी जी भी नॉस्टॉल्जिया से नहीं उभर पाये हैं। औपनिवेशिक हुक़ूमत हमारी भाषा और संस्कृति की जिस अक्षुण्ण कड़ी को गुमनाम किया है, उसकी तलाश और स्थापना तत्परता के साथ जरूरी है। ब्रितानी सत्ता की यह ख़ासियत रही है कि जब वह किसी मुल्क को तोड़ना या गुलाम बनाना चाहती है तो वहाँ की भाषा तथा साहित्य को नकार वहाँ की संस्कृति को विखण्डित कर देती है क्योंकि भाषा, संस्कृति का अन्तः साक्ष्य होती है। इस औपनिवेशिक दावपेंच से हम पूरा उबरे भी नहीं हैं कि *ग्लोबलाईजेशन* के बहाने फिरंगी फिर से सांस्कृतिक आक्रमण करने के लिये हम लोग पर घात लगाये बैठे हैं।

त्रिपाठी जी, कविता का उत्स वैदिक वाङ्मय से मानते हैं। उन्होंने इसके लिये ठोस प्रमाण भी दिया है। प्रगतिशीलतावादी चिंतक आचार्य रामविलास शर्मा ने भी अपना मत इसी साहित्य से जोड़ा है। यदि बोस जी इस जमीनी हक़ीक़त को थोड़ा समझ पाते तो वैदिक साहित्य से जुड़ी उनकी कई ग़लतफ़हमियों का निदान भी हो सकता था। लेकिन त्रिपाठी जी से यह उम्मीद की जाती है कि कविता के इस वैदिक सुदीर्घ इतिहास को संस्कृत भाषा की आधुनिक कविताओं

के प्रसंग से भी थोड़ा जोड़ें। इससे भारतीय कविता का समग्र स्वरूप निखर कर सामने आ सकता है। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के दौरान ऐसी अनेक मारक और धारदार कविताएँ बौद्धिकता के यज्ञकुण्ड में समिधा संग्रहीत कर ब्रितानी सत्ता को निरन्तर चुनौती दे रही थीं। साथ ही साथ तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों का भी भंडाफोड़ कर रही थी। वस्तुतः इनमें भगवत शरण उपाध्याय के राष्ट्रवादी तत्त्व जन, भूमि तथा संस्कृति के कारक तथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के आधुनिकतावादी विचार इतिहासबोध, इहलौकिक मंगल कामना तथा व्यक्ति परक कल्याण की जगह सामूहिक भाव के लक्षण भी मौजूद हैं। समसामयिक कविताओं में भी उपर्युक्त दोनों विद्वानों के क्रमशः राष्ट्रीयता परक तथा आधुनिकतावादी भाव निमज्जित हैं। इनमें पेंटागन का आतंकवाद, कारगिल का युद्ध, हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का मामला, शोषित तथा मेहतनकश वर्ग की मनोव्यथा और साम्प्रदायिक सद्भाव से लेकर सामाजिक तथा राजनैतिक मुद्दों का अंकन बड़े मुखर रूप से पढ़े जा सकते हैं अतः बोस जी का मानना है कि *आजकल संस्कृत कविता के साथ हमारा संबंध टूट गया है। (पृ.05) तथा वास्तव में हमारे समकालीन जीवन के साथ संस्कृत साहित्य का कोई सचमुच का संबंध नहीं बन सकता है।* (पृ.05-06) कोई मायने नहीं रखता।

यह तथ्य अलग है कि इस युग में अनेक ऐसी कविताएँ भी लिखी गई जो अंग्रेजी सत्ता का जी भर चाटुकारिता करती है। इनमें महारानी विक्टोरिया से जुड़ी स्तुति परक कविताओं की विपुलता है। भारतेन्दु हरिश्चंद ने भी अंग्रेज भक्ति परक कविता संकलन मानसोपायनम का संपादन कर डाला। लेकिन सत्ता विरोधी रचनाओं का ही पलड़ा भारी था। आज भी सत्ता अनुगामिनी कविताएँ लिखीं जा रही हैं। लेकिन पाठक समाज में वे समादृत नहीं हैं।

महायोगी अरविंद की कविता '*भवानी भारत* की' ने भारतीय जनमानस को काफ़ी झकझोरी थी। यद्यपि कलकत्ता पुलिस द्वारा इसकी इकलौती पाण्डुलिपि जब्त कर लिये जाने के कारण इसकी कुछ व्याकरण संबंधी अशुद्धियों का परिमार्जन नहीं हो सका था। *बंदीजीवन* (1936 ई. आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री) तथा पञ्जर (अप्पाशास्त्री राशिवडेकर) परतंत्र भारतमाता के मनोव्यथा का चित्रण करती है। अप्पाशास्त्री जी लिखते हैं-*शुक सुवर्णमयस्तव पञ्जरो/न खलु पञ्जर एष विभाव्यताम्'।* बाद में मैथिली शरण गुप्त ने इसका हिन्दी अनुवाद भी किया। (*सरस्वती पत्रिका*, अगस्त 1911 ई.)। तिलक को राजद्रोह के इल्जाम में 22 जुलाई 1908 ई. को सश्रम कारावास दिया गया। इसके ख़िलाफ़ अप्पाशास्त्री जी ने अपनी कविता *तिलक-महाशयस्य कारागृहः निवासः (संस्कृत*

चन्द्रिका, अगस्त 1908) में साफ़ लिखा कि तिलक के हाथ में ये हथकड़ियाँ आभूषण की तरह अलंकृत हो रही थीं–*निगडं दूषणमित्यमु तव/अपरं स तथापि भूषणं/* भगतसिंह की फाँसी की घटना ने भी उन्हें काफी व्यथित किया।

एक ओर जहाँ अप्पाशास्त्री जी जैसे गरम रूख़ के कवि स्वतंत्रता संग्राम में बौद्धिक चिंगारी इक्ट्ठा कर रहे थे वहीं दूसरी ओर गांधीवादी विचारधारा के समर्थक कर्णवीर नागेश्वर राव ने भी खादी को विषय बनाकर श्रीः (*पौष 1941 ई.*) नामक पत्रिका में कविता लिखी। *मुद्गलदूत* (म.म. रामावतार शर्मा) में भी राष्ट्रहित की बात न सोचने वाले नेता को जम कर कोसा गया है–*व्यर्थं क्षिप्त्वा भरतवसुधाद्रव्यकोटिः स कीटो/देशप्रेमोल्बण भणितिथिर्नाशयामास विद्यां।* (*अर्वाचीन संस्कृतम्* 15 जनवरी 1997)। जिस तरह आर. क्रिप्लिंग ने अपनी कविता में नस्लवादी पूर्वाग्रह, साम्राज्यवाद, सैन्यवाद तथा राजसी आडम्बर के खिलाफ आवाज उठाया। उसी प्रकार वामनराव जोशी पुराणिक ने भी स्वदेशहितचिन्तनम् (*मित्र गोष्ठी* 1906 ई.) के जरिए उठाया। *भारतीयमितिवृत्तम्* (म.म. रामावतार शर्मा) में भी आचार्य द्विवेदी के हिसाब से आधुनिकता का बोध है। रामशंकर अवस्थी ने जालियावाला बागकांड (*आहुतिः स्वातन्त्र्ययज्ञे* 1999 ई.) का वर्णन करते लिखा है कि वहाँ इतना रक्तपात हुआ था कि वहाँ की माटी खून में सन गयी थी–***गुलिकाः बुभुजिरेऽगणितनरा/रूधिरमज्जितासीत् धरा।*** प्रस्तुत संग्रह में ही ओडायर वध कांड, सुभाष चंद तथा गांधी जी के बलिदान भी पठनीय हैं। कवि अवस्थी ने लिखा है कि नेताजी के अदम्य उत्साह को देखकर हिटलर भी भौंचक रह गया था–***हिटलरश्चकितोऽभवद् दृष्ट्वा रणोत्साहं।।5।।*** *आजाद चंद्रशेखर'* (2002 कविरत्न कृष्ण सेमवाल) 'कुँवर सिंह उवाच' (2003 रामकरण शर्मा) तथा *वीराग्रणीः भगत सिंह* (2003 ओम प्रकाश ठाकुर) भी ध्यातव्य है। ***भागीरथीदर्शन*** (1998 ई. गोस्वामी बलभद्र प्रसाद शास्त्री) तथा ***भाति मे भारतम्*** (2003 ई. रमाकांत शुक्ल) भगत सिंह तथा सुभाषचंद बोस सदृश अनेक सपूतों की शहादत को नमन करती है। ***लेनिनशतकम्, भारत भवनम्*** (दोनों नागार्जुन) तथा ***लेनिनामृतम्*** (पद्म शास्त्री) सामाजिक चेतना तथा भारतीय जनमानस के मनोव्यथा को उजागृत करती है। ***शकटारकाव्यम्*** (रेवा प्रसाद द्विवेदी) तथा ***तैलावलिः प्लवमाना*** (रामकरण शर्मा) क्रमशः नेल्सन मंडेला के कारा जीवन से लेकर उनके मुक्ति पर्यन्त की घटना तथा खाड़ी युद्ध के दौरान समुद्र में फैले तेल के बलबूते पर की गयी घातक राजनीति का हवाला प्रस्तुत करती है। परमाणु युद्ध की विभीषिका का अंकन श्रीनिवास रथ की कविता *शान्तिवाचनम्* में भी पढ़ी जा सकती है। ***प्रणम्याः कारगीलवीराः*** (कारगिल विशेषांक, दूर्वा) भी बड़ा हृदयस्पर्शी है। कवि बनवाली विश्वाल की कविता (*कारगिल संघर्षः* 1993) में

भी हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के युद्ध में शहीद सिपाहियों की लाश को देखकर आसमान में गिद्धों का जमावड़ा वास्तव में मन को बड़ा व्यथित करता है- ***हिमेऽपि ज्वलन्ति चिताः/शहीदानामुभय देशस्य/धूमोपरि नभस्युड्डीयन्ते/गृध्राः इत स्ततः।*** *कार्गिल विजय* (2003 शशिनाथ झा) में भी पाकिस्तान की भर्त्सना की गयी है। कवि मानता है कि बंगला देश के बनते ही पाकिस्तान ने कश्मीर पर अपना निशाना साधना शुरू कर दिया है-*काश्मीरं हि पृथक्कृत्य ग्रहीतुं प्रति वाञ्छति।।4।।* कपिल देव पाण्डेय तो हिन्दुस्तान की ज़मीन सुई के नोंक के बराबर भी दुश्मन के हाथों जाने देने को तैयार नहीं हैं-***सोढुं न शक्यो निजराष्ट्रभूमेः/सूच्यग्रभागेऽपि पराधिकारः।।6।।*** (2003 नमांसि कार्गिलाद्याहवे हुतात्मभ्यः)। *भारतमाता ब्रूते* (2003 हरिनारायण दीक्षित) कश्मीर की घाटी में गोली के खौफनाक आवाज और असह्य गरीबी तथा उत्पीड़न का अंकन करती है-*शुभं न शंसन्ति भुशुण्डि शब्दाः।* कश्मीर घाटीषु निशम्यमानाः। ***संसदभवनो पर्यातंकवादाक्रमण*** (हरिश्चन्द्र रेणापुरकर) *नरमेधः* (मधुसूदन पेन्ना) *विधेर्होमो निषधानले* (रेवा प्रसाद द्विवेदी) तथा *मित्र हेऽमेरिका* (इच्छाराम द्विवेदी '*प्रणव*') में क्रमश भारतीय संसद तथा अमेरिका के पेंटागान पर आतंकवादी घटना की भर्त्सना की गयी है। अंतिम कविता आतंकवाद को फैलाने में अमेरिका को ही जिम्मेदार मानती है। दीपक घोष की कविता ***राजनीतिलीलामृतम्*** (1999 ई.) भी समसामयिक है।

संस्कृत भाषा की आधुनिक कविता पर अभिजात्यीय या दरबारी प्रभाव का आक्षेप भी नहीं लगया जा सकता। *अवस्करहरणम्* (1951 ई., *पद्य पुष्पाञ्जलि*, सुब्रह्मण्य अय्यर) में मल ढोने की प्रथा की निंदा की गयी है-*प्रविभ्राणाश्शुद्धिं प्रतिपदमयी येमलारा/नमस्कार्या नित्यां भुवि नरकविद्रावणचणाः।* रामकरण शर्मा ने तो *हालिके वन्दे* में जमींदारी व्यवस्था के हड़कम्प को भूखे प्यासे कमरतोड़ मेहनत में जुटे बैल पर छायें आतंक के माध्यम से प्रस्तुत किया है। हरिदत्त पालीवाल निर्भय ने भी नारी समाज की उपेक्षा तथा भूख से व्याकुल बच्चों की दशा पर अपनी लेखनी चलायी है-*कणहेतोः शिशवोऽतिदुःखिताः परिवृत्ता जगतः स्थितिर्नहि* (अमृतलता 2.2)। *जनतालहरी, रोटिकालहरी, अद्यापिलहरी, मृत्तिकालहरी* तथा *धरित्रीदर्शनलहरी* (सभी राधावल्लभ त्रिपाठी) में विविध विद्रोह के बिगुल सुने जा सकते हैं। *नगरे गृधा* (2000 ई.) में आचार्य राधावल्लभ जी ने घोर आतंक, शोषण, अन्याय तथा अशुभ विपदा का प्रतीक गिद्ध को प्रतीक बनाकर शहरी जीवन में व्याप्त लूट खसोट तथा भाव शून्यता को इंगित किया है-*नगरे गृधाः संख्यातीता स्वरैमिमे आहिण्डन्ते/ नगराद् बर्हिश्च गृधाः सन्ति विषण्णाः श्मशाने ते।* लब्धप्रतिष्ठ सुकवि अभिराज राजेन्द्र मिश्र भी इस बात को लेकर बड़े

चिंतित हैं कि मुल्क के कुछ लोग राष्ट्र की मुख्यधारा से भटक कर देशद्रोही प्रवृत्ति के हो गये हैं। ऐसी स्थिति में सिंधु नदी का खून की दरिया में तब्दील होना लाज़मी है–*केन सप्त सैन्धवं रक्तरंजितं कृतम्।* (कीदृशी स्वतंत्रता)। मिश्र जी ने ठीक ही लिखा है कि आज की मानवता धर्म, जाति तथा क्षेत्र आदि के नाम पर बँट गयी है तथा विघटनकारी ताकत ने इन मुद्दों को अपना हथकंडा बना लिया है। पढ़ा-लिखा समाज आज नेताओं के हाथों की कटपुतली हो गया है तथा मोर के महत्त्व को कुत्ता ने हथिया लिया है–*मनुजेषु महार्घो जननेता। सम्प्रति कुक्कुरः।।3।। (नमोनमः)।* इससे बढ़कर और क्या दुःख की बात हो सकती है कि हिन्दुस्तान रूपी बगीचा के हर शाख पर उल्लुओं का ही जमघट है–*उद्याने यस्मिन् सान्द्रतेरो/प्रतिशाख्यामुभूको वलगन्ते।।5।। (वही)।* कवि ने *वसंतसेना* नाम की लम्बी कविता में राम, कृष्ण, शिशुपाल तथा रावण के द्वारा नारी समाज के प्रति की गयी चूकों का अकंन किया है। सुकवि वेम्पटि कुटुम्ब शास्त्री की अप्रकाशित रचना *कुन्ती* (कवि सम्मेन 2004 दिल्ली) भी *कुन्ती* व्यथा का बड़ा यथार्थ शब्दांकन प्रस्तुत करती है। नारी व्यथा विषयक ये दोनों कविताएँ पाश्चात्य शैली की कविता *रेखा चित्र* मानी जा सकती है। लेकिन याद रहे मिश्र जी ने आज के तथाकथित नारी आन्दोलन पर कटाक्ष करने में कोई कोताही नहीं की है। पत्नी को इस आन्दोलन में जुटे रहने के कारण उनके पति को रसोईघर में ओवरटाईम भी करना पड़ता है–*पतयः पचन्ति किल महानसे/पत्न्यश्च समाजोद्धाररताः।।6।।* लेकिन *अपराजितवधू* (2000 पूर्णचंद शास्त्री) एक ऐसी ज्वलन्त नारी समस्या को उठाती है जिसमें पति अपनी पत्नी और बच्चे को निःसहाय छोड़कर किसी और औरत के साथ अपनी दुनिया बसा लेता है।

हर्षदेव माधव की कविता व्यवस्था की मरम्मत से अधिक उसके आमूल परिवर्तन में विश्वास करती है। यही कारण है कि उनकी कविताओं में भी राधावल्लभ त्रिपाठी की तरह ही विद्रोह के बड़े मारक स्वर सुने जा सकते हैं–*जयते गगने नूतनः सूर्यः, विनाशाद् रच्यते वसन्तसौन्दर्यम्/ध्वंसावशेषाद् आनीयते जीवनस्पन्दनम्/शुन्यात् सृज्यते नवं मानचित्रम् (मनसो नैमिषारण्यम्* 2003 ई.)।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की कविता *कथमहं नास्तिकः, कान्यकुब्ज-लीलामृतम्* तथा *सूर्यग्रहण* भी सामाजिक विषमता, जातिवाद, छद्म धार्मिकता तथा नारी समस्याओं को प्रस्तुत करती है। कान्यकुब्ज समाज की दहेज लोलुपता की पराकाष्ठा महाप्राण निराला की हिंदी कविता *सरोज स्मृति* में बड़े साफ शब्दों में पढ़ा जा सकता है। *जामाता दशमोग्रह* (2000 प्रफुल्ल कुमार मिश्र) में घर में आये दामाद से उत्पन्न विपन्न पारिवारिक स्थिति का अंकन है–*श्वसुरस्य कोषः*

शून्यः/श्वश्रु क्लान्ता महानसे/श्यालिश्यालौ सेवाक्लान्तौ/जामाता दशमो ग्रहः।।2।। श्री एस. सुंदरराजन को भी इसका बड़ा दुःख है कि दहेज प्रथा के कारण औरत अग्नि वेदी पर चढ़ा दी जाती है-*निषिच्य तैलमनिना तमाशु निर्दयं दह।।* (*संस्कृत मञ्जरी*, अक्टूबर 1993 मार्च 1994)। खेतिहर समाज के दुःख दर्द तथा नाना पीड़ाओं का मुआ़यना *तपस्विकृषीवलम्* (2000 हरिहर शर्मा आर्य) में बड़ा सजीव लगता है। गौरतलब है कि आज की संस्कृत कविताएँ श्रम महत्त्व पर भी लिखी जा रही है। इस मायने में *श्रमप्रशंसा* (1951 ई. *पद्यपुष्पाञ्जलि* सुब्रह्मण्य अय्यर) तथा *श्रमशीकर प्रतानैः* (2003 कपिल देव पाण्डेय) भी पठनीय है। *वेलेण्टाइन डे* जैसे नये बिम्ब को संस्कृत कविता में बड़े सजीव रूप से उतारने वाले कवि बनमाली विश्वाल ने भी *बालश्रमिकः* (1999 ई.) में बाल समस्या को उठाया है जिस मायने में संस्कृत कविता अभी थोड़ी पीछे लगती है-*बालश्रमिकार्थं वत/अद्यापि सुरक्षितं/मुष्ट्याघातं स्वार्थान्धस्य निर्ममस्य निर्दयस्वामिनः। समाजेऽस्मिन्।* त्रिपाठी भास्कराचार्य ने रिंगो हाइको पाश्चात्य शैली में जो प्राकृतिक सुषमा का चित्रण किया है वह भी पढ़ते ही बनता है-*अत्रत्याः पक्षिणः शिलीमुखनिकरा मृगाश्चरन्तः। पृष्टाः सन्तः क्षणं न किञ्चन जगदुः स्थिताः हसन्तः 3/9 (साकेत-सौरभम्)*।

संस्कृत कविता में नये बिम्ब/विषय के कवि हर्षदेव माधव ने भी जापानी हाइकु स्टाइल में संस्कृत की छोटी-छोटी कविताओं के जरिए समाज में व्याप्त बड़ी-बड़ी दुर्व्यवस्थाओं का अंकन किया है। मिसाल के तौर पर देश में कामचोरी व्यवस्था के विषय में पढ़ा जा सकता है-*आसन्दी रिक्ता कार्यालये/शरीरं रूग्णं राष्ट्रस्य।313। (2000 ई. ऋषेः श्रुब्धे चेतसि)*। ग़ालिब की कृति *दीवाने ग़ालिब* का जगन्नाथ पाठक ने बड़े बारीकी तथा सहजता से *ग़ालिब-काव्यम्* के नाम से संस्कृत पद्यानुवाद किया है। इसमें इहलौकिक मनुष्य/समाज/राजनीति/आपसी दावपेंच/व्यवस्थाओं के नाना विकृत आयामों के प्रति आक्रोश/चिंता/अफसोस के भाव अभिव्यक्त किया गया है-*राज्ञो घट्टं विलपति, शान्तिवनं वर्तते विषीददिव। शक्तिस्थलमनुताम्यति दर्शं दर्शं निज देशम्।* सत्यव्रत शास्त्री, रसिक बिहारी जोशी तथा कृष्ण लाल सदृश अनेक कवियों ने भी उत्कृष्ट रचनाएँ की है। पाठक जी की संस्कृत ग़ज़ल *गुच्छ कपिशायिनि* जैसी कालजयी रचना के विषय में क्या कहना? बच्चू लाल अवस्थी की ओजस्वी कविता संग्रह *प्रतानिनी* (1996 सं. अभिराज राजेन्द्र मिश्र) भी अनुपम है। भट्ट मथुरानाथ शास्त्री की चर्चा के बिना संस्कृत की आधुनिक कविता अधूरी सी लगती है जिन्होंने दोहा, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय तथा कबित्त को पहली बार संस्कृत कविता में इस्तेमाल किया। दार्शनिक अंदाज़ में छोटी-छोटी कविता का संग्रह 'नीरवझरः' (1999 ई. रवीन्द्र कुमार

पण्डा।) भी पठनीय हैं। वेंकट राघवन ने भी कई महत्त्वपूर्ण रचनाएँ लिखी हैं।

बोस जी, त्रिपाठी जी तथा यार्दी जी के आलेखों में संस्कृत कवयित्रियों का ज़िक्र न हो पाना भी कोई कम आश्चर्य की बात नहीं है। संस्कृत वाङ्मय में ऐसी लगभग पच्चीस कवयित्रियाँ हैं, जिनकी रचनाएँ समय के गर्त में कवलित हो गयी। इसके पीछे समाज का पितृसत्तात्मक होना या कोई और भी कारण हो सकता है। लेकिन इन लेखिकाओं का महत्त्व इससे भी है कि इनकी कृतियों का श्लोकांश या नाम संस्कृत दिग्गजों द्वारा अपने काव्य प्रसंग में उदाहृत किये गये हैं। इनमें सुभद्रा, मारूला, शीला, भट्टारिका, विज्जिका, इन्दुलेखा, फल्गुहस्तिनी तथा विकटनितम्बा आदि के नाम भी महत्त्व के लगते हैं।

आचार्य मम्मट ने शब्द विचार की चर्चा में विज्जिका (दूसरा नाम कार्णाटी विजया) के श्लोक को प्रस्तुत किया है। *सुभाषितावली* (वल्लभदेव) में सुभद्रा के एक श्लोक का उल्लेख है। राजशेखर ने भी इसकी बड़ प्रशंसा की है। इसी पुस्तक में फल्गुहस्तिनी के दो तथा मोरिका के चार पद्यों को भी संकलित किया गया है। धनददेव ने मरूला का उल्लेख सुशीला, विज्जा तथा मोरिका कवयित्रियों के साथ किया है।

अमर सिंह (उदय पुर का राजा) की पत्नी देवकुमारिका ने ***वैद्यनाथप्रसाद-प्रशस्ति*** काव्य लिखा है। यह काव्य साहित्य तथा इतिहास के बीच एक मज़बूत कड़ी लगती है। मधुरवाणी तंजौर नरेश रघुनाथ के राज्याश्रय में सुशोभित थीं। इन्होंने रामकथा के आधार पर काव्य लिखा है। लेकिन दुर्भाग्यवश इसके मात्र पंद्रह सौ पद्य ही प्राप्त होते हैं। इनके ही समकालीन रामभद्राम्बा ने *रघुनाथाभ्युदय* नामक काव्य में तंजौर के राजा रघुनाथ के चरित का बखान किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह भी बड़े ही महत्त्व की कृति है।

तिरूमलाम्बा (विजय नगर) की कृति *वरदाम्बिकापरिणयचम्पू* राजा अच्युतदेव तथा रानी वरदाम्बिका के परिणय प्रसंग को गूँथती है। प्रस्तुत रचना विजय नगर साम्राज्य का सांस्कृतिक तथा राजनैतिक इतिहास का एक अच्छा दस्तावेज माना जा सकता है। गङ्गादेवी (14वीं शताब्दी) ने भी *मधुराविजयम्* (दूसरा नाम *वीरकम्परायचरितम्*) में विजय नगर के पराक्रमी शासक वुक्का के ऐश्वर्य तथा पराक्रम को आबद्ध किया है। इनमे पदों की कमनीयता की वजह से संगीतात्मकता भी सुनी जा सकती है। हमें यह भी याद रहे कि *वैदिक काल* में मैत्रेयी, गार्गी तथा लोपामुद्रा सदृश अनेक विदूषियों का भी पदार्पण हुआ जिन्होंने वैदिक ऋषियों के साथ सार्थक शास्त्रार्थ भी किया था।

संस्कृत भाषा के आधुनिक युग की कवयित्रियों में पण्डिता क्षमाराव,

नलिनी शुक्ला, पुष्पा दीक्षित, उमा देशपाण्डे, वेदकुमारी घई, मृदुला शर्मा, सावित्री देवी शर्मा, मिथिलेश कुमारी तथा प्रवेश सक्सेना आदि के नाम भी, चर्चा के लायक लगते हैं।

क्षमाराव ने अनेक काव्यों का सृजन किया जिनमें गांधी जी के व्यक्तित्व को लेकर रचित सत्याग्रहगीता, उत्तरसत्याग्रहगीता तथा उत्तरजयसत्याग्रहगीता बहुचर्चित है। पुष्पा दीक्षित की कविता गुच्छ *अग्निशिखा* की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-*इयमग्निशिखा ज्वलिता/सहसैव कथं हृदये/निशितैस्तव दृष्टिशरैः। सकलं शकली क्रियते/* वेदकुमारी घई ने *गांधिवर्यस्य स्वप्नस्तु पूर्णो भवेत* (*संस्कृत मञ्जरी*, अक्टूबर 1993, मार्च 1994) में हिन्दुस्तान में व्याप्त भाषिक, धार्मिक तथा अन्य समसामयिक सवालों को उठाया है। वास्तव में आज मंदिरों और मस्जिदों में स्वार्थ नंगा नाच हो रहा है-*धर्म स्थानेषु हिंसाग्नि र्दहयते शस्यश्यामला रक्त रञ्जिताः।* (वही)। मेहनतकश मजदूर किसान को दो जून की रोटी तक नहीं मिल पाती है। लड़कियाँ अपनी बुनियादी शिक्षा से वंचित हैं, महिलाएँ ठीक इलाज के अभाव में समय से पहले ही अपना दम तोड़ देती है। गरीबों को भी उचित दवा और रहने का ठौर-ठिकाना नहीं मिलता-*कृषक शिशुभिरूदरपूर्तिः प्राप्त च चेत्/श्रमिक बाला यदि शिक्षया वञ्चिता/जीर्ण-शीर्ण कुटीरे हि यदि रोगिणी/ग्राम्यवनिता चिकित्साविरहिता मृता* (वही)। मृदुला शर्मा इस तथ्य का जम कर वकालत करती हैं कि हिन्दुस्तान की माटी में पला-बढ़ा प्रत्येक आदमी भारतमाता का ही संतान है। किसी प्रकार का खून खराबा भारतमाता के साथ खून खराबा है-*नो हिन्दूरक्तमस्ति नो रक्त हि यावनम्/त्वं बुध्यसे कथन्न मानवीयमस्ति तत्।।* (*कस्य रक्तमेदमस्ति*, संस्कृत मञ्जरी अक्टूबर 1993 मार्च 1994)। 'राजते भारतम्' (वही सावित्री देवी शर्मा) में भारतीय संस्कृति के समन्वित स्वरूप का भावांकन किया गया है। *जयतु जयतु मम भारतदेश* (वही मिथिलेश कुमारी) में भारतीय तिरंगा को हमेशा लहराते रहने की कामना की गयी है। अर्चनम् (उमा देशपाण्डे) भी अच्छी कविता स्तवक हैं। प्रवेश सक्सेना की कविता *वन्दे वीरं मुक्तिनायकम् स्वतन्त्रतासेनानिनं श्रीनन्द किशोरनिगमम्* (2003 ई.) भी चर्चा के लायक लगती है।

यहाँ संस्कृत भाषा की स्वतंत्रता तथा स्वातन्त्रयोत्तर कालीन कविताओं और कवयित्रियों के विषय में यह साफ़ कर देना जायज़ होगा कि बोस जी यदि भारत की आज़ादी कालीन तथा अपने समकालीन संस्कृत की प्रतिनिधि कविताएँ तथा कुछ कवयित्रियों का मुआ़यना प्रस्तुत करते तो संस्कृत नगमों के विषय में उनकी कुछ ग़लतफ़हमियों का निदान खुद निकल सकता था। बोस जी की तरह ही त्रिपाठी जी भी कुछ चुनिंदे संस्कृत क्लासिकल रचनागुच्छ रूपी मधुमक्खी के

छत्ते पर भौरों की तरह मँडराते नज़र आते हैं। इस *होम रिक्नेस* से थोड़ा बचना होगा। अन्यथा हम अद्यतन संस्कृत सामग्रियों को *भारतीय समकालीन साहित्य* के सामने ठीक ढंग से परोस नहीं पाएँगे। संस्कृत कविता की आधुनिकता तो बोस जी के हिसाब से भास, भवभूति, कालिदास, बाणभट्ट तथा जयदेव आदि के रचना संसार में ही सिमट कर रह गयी है। बोस जी आज के आधुनिक युग से तकरीबन अर्धशती पीछे हैं। इसके लिये वे जिम्मेदार नहीं हैं। उनके आलेख के रचना काल (1957 ई.) तथा आज के बीच जो काल खंड का गैप है उस गैप की खाई को प्रस्तुत छोटे से आलेख से पाटने का भरसक प्रयास है। त्रिपाठी जी की पैनी कलम इसकी भरपाई और ठीक ढंग से कर सकती थी।

त्रिपाठी जी ने बोस जी के विषय में बांग्ला साहित्य की ओर अधिक झुके रहने की बात उठायी है। इस प्रसंग में यार्दी जी का कथन *एक तो हर एक भाषा की अपनी "देश-काल-परिस्थिति" होती है, इसके परिप्रेक्ष्य में ही अपने विचार व्यक्त करने की कोशिश होनी चाहिए (पृ. 160)* भी याद रखना चाहिए क्योंकि बोस जी का यह मूल लेख बांग्ला भाषा में ही लिखा गया है। अतः बांग्ला साहित्य पर इनका मँडराना जायज है। प्रस्तुत आलेख में संस्कृत कविता से जुड़ी जो बातें गले नहीं उतर पाती है। उनका जवाब देते हुए हमें बोस जी के विस्तृत ज्ञान तथा समीक्षा शैली से थोड़ी सीख भी लेनी चाहिए जिन्होंने संस्कृत कविता को पूर्वी-पश्चिमी ज्ञान के जरिए विविध चिंतनों का इन्द्रधनुषी जामा पहनाया है।

त्रिपाठी जी ने संस्कृत शब्दों की व्यावहारिक उपयोगिता तथा भाषा संरचना को लेकर बोस जी के आक्षेपों का जो खंडन किया वह बड़ा तार्किक तथा समीचीन है। इस मायने में यार्दी जी का भी जवाब बड़ा माक़ूल है। यह तथ्य भी साफ रहे कि संस्कृत भाषा अपनी सूत्रात्मकता तथा वैज्ञानिक संरचना की सटीकता के लिए आज संगणक वैज्ञानिकों हेतु देश-विदेश में गवेषणा का विषय बनी हुई है। लेकिन त्रिपाठी जी ने संस्कृत भाषा की संप्रेषणीयता की व्यापकता तथा स्वभाविकता के प्रसंग में *कादम्बरी* (बाणभट्ट) के विन्ध्याटवी के प्रभात वर्णन का जो गद्यांश प्रस्तुत किया है उसे सटीक नहीं माना जा सकता क्योंकि यहाछ विवेच्य विषय संस्कृत कविता है न कि साहित्य-गद्य। बाणभट्ट की शैली में सामासिक जटिलता तथा सन्धि का मज़बूत गाँठ सामान्य संस्कृत पाठक के मस्तिष्क के शिराओं और धमनियों पर दुरूहता का आघात भी करती रहती है। यह बात अलग है कि यार्दी जी के कथन *इसके उच्चारण से मस्तिष्क की चेतना को उत्तेजना मिलती है (पृ.163)* का महत्त्व है। लेकिन इसका प्रसंग प्रौढ़ पाठक समाज से अधिक है। इसका मतलब यह भी नहीं कि कादम्बरी जैसी भाषा वाली

कविताएँ कृत्रिम है जैसा कि बोस जी का मानना है। संस्कृत मात्र भाषा ही नहीं बल्कि संस्कृति भी है। अतः इसके अर्थ के मूल तक पहुँचने के लिए ज़रूरी है कि संस्कृति के विविध चिन्तनों, मान्यताओं और आस्थाओं के नजरिए से भी इसके अर्थ अन्वेषण का सार्थक प्रयास किया जाए। अन्यथा ज्ञान के गाम्भीर्य की कमी के कारण सरसरी तौर पर तो इनमें कृत्रिमता की ही भ्रांति होगी। संस्कृत कविता की दुरूहता भरी भाषा की कादम्बरी सदृश अनेक काव्य एक धारा हो सकती है। समागम नहीं। संस्कृत भाषा में ललित, सरल तथा सहज भाषा वाली रचनाओं की विपुलता है जो संस्कृत साहित्य के सभी कालखंडों में प्रचुरता से मिलती है। ऐसी ही स्थिति सामासिक जाल में गुँथे संस्कृत भाषा के साथ भी है।

त्रिपाठी जी ने प्रभात वर्णन (कादम्बरी) के मूल संस्कृत के क्रम में *चलित पल्लव-लता-लास्योपदेश-व्यसनिनि* (हिलते हुए पल्लवों से युक्त, लताओं के नृत्य के उपदेश में व्यसन वाली) तथा *कुसुमामोदतर्पितालि जाले* (फूलों के सौरभ से भौरों को तृप्त करने वाली) पदावली को न स्थान देने के पीछे कोई कारण नहीं दिया है जबकि प्रकृति के *मेनिफेशटेशन* की दृष्टि से ये अंश भी बड़े जीवंत दिखते हैं। इसका कारण यदि टंकण की चूक है तो यह बात अलग है। इसके मूल उद्धरण की तीसरी पंक्ति पर कोई विराम बोधक चिह्न नहीं होना चाहिए और पाँचवी पंक्ति के अंत में पूर्ण विराम की जगह अर्धविराम होना चाहिए।

त्रिपाठी जी अपने उम्दा आलेख में बोस जी के अधिकांश बातों से असहमति ही जताते नज़र आते हैं। लेकिन उन्होंने बोस जी के इस मत पर अपनी रजामंदी जतायी है कि *वैष्णव कवियों के पूर्व रोमांटिक मानसिकता ने जन्म नहीं लिया था.....।(पृ.20)*। ग़ौरतलब है कि पाश्चात्य जगत में रोमांटिक कवियों का समय 1757-1821 ई. के आस-पास ठहरता है जिनके प्रतिनिधि कवि विलियम ब्लैक, विलियम वर्डवर्थ, कोलडरिज़, बायरन, शैली तथा कीट्स है वहीं हिन्दी भाषा का छायावादी काल (रोमांटिक एज) बींसवी शताब्दी का पूवार्द्ध (1916-1936 ई.) है। इनमें सुमित्रानंदन पंत, रामवृक्ष बेनीपुरी, महादेवी वर्मा, महाप्राण निराला तथा जयशंकर प्रसाद के नाम भी उल्लेखनीय है। यहाँ वैष्णव काल की ऐतिहासिक तथा दार्शनिक चेतना से साफ है कि इस भक्ति आन्दोलन की धारा का उत्स स्थल 'भगवद्गीता' ही थी जिससे इसके कवि/संत निम्बार्काचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य आदि ने अपने आपको अनुप्राणित किया था। (सच्चिदानन्द भट्टाचार्य, *ए डिक्शनरी आफ इण्डियन हिस्ट्री*, 1967 ई.)। इन आचार्यों ने यज्ञ के स्थान पर अपने उपास्यदेव की भक्ति

के द्वारा मुक्ति प्राप्ति के लिये अधिक बल दिया और जात-पात को भी कोई जगह नहीं मिली। कालान्तर में यह *वैष्णव धर्म* ने देशी भाषाओं में साहित्य के विकास में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की जिसकी पुष्टि जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास, मीराबाई, तुलसीदास, कृत्तिवास तथा शंकरदेव आदि की रचनाओं से भी होती है। *भगवद्गीता* के साक्ष्य के आधार पर यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि *वैष्णव धर्म* तथा *रोमांटिसिज़्म* के संदर्भ में बोस जी तथा त्रिपाठी जी हिन्दी कालीन छायावाद युग के विषय में ठीक ठहरते हैं। लेकिन संस्कृत कविता में तो यह धारा हजारों साल पहले प्रस्फुटित हो चुकी थी।

यह सत्य है कि अंग्रेजी भाषा के उद्भव एवं विकास की कहानी तमिल भाषा से भी काफी पीछे की है। इस मायने में संस्कृत भाषा की ऐतिहासिकता तथा सुदीर्घता के विषय में क्या कहना? लेकिन त्रिपाठी जी ने संस्कृत भाषा की आड़ में अंग्रेजी भाषा को बिल्कुल नकार दिया है जो जायज नहीं माना जा सकता है। इसमें कोई शक नहीं कि अंग्रेज़ी भाषा के पास अपना कोई ऐतिहासिक तथा भाषिक संरचना का चरित्र नहीं है। लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि यह भाषा अपनी व्याकरणमूलक सरलता के कारण दुनिया की लगभग सारी भाषाओं पर अपना दबदबा बनाये रखा है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि विलियम जोन्स द्वारा जब *अभिज्ञानशाकुन्तलम्* (कालिदास) का सन् 1798 में अंग्रेज़ी अनुवाद किया तो कालिदास विश्व साहित्य पर छा गये। त्रिपाठी जी द्वारा अंग्रेज़ी साहित्य की सरलता की तुलना *पंचतंत्र, महाभाष्य, अर्थशास्त्र या पुराण* आदि की गद्यात्मक शैली से करना कितना उचित होगा वह तो अधिक सुधी लोग ही बता पाएँगे? इन्होंने बोस जी की मान्यताओं के खिलाफ़ *रघुवंश* (कालिदास) महाकाव्य की जो श्रेष्ठता स्थापित की है, वह सर्वथा स्तुत्य है। लेकिन इस महाकाव्य को उनके द्वारा *रामायण तथा महाभारत* के बाद तीसरे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काव्य की श्रेणी में ला खड़ा करना समीचीन नहीं माना जा सकता है। *रामायण* तथा *महाभारत* तो आदि काव्य है। *रघुवंश* तो इनकी उपजीव्यता से अनुप्राणित एक महत्त्वपूर्ण और जीवंत काव्यधारा है। यह भी सच है कि *रघुवंश* भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का व्यापक अंकन प्रस्तुत करता है। लेकिन इसे सबसे ज्यादा प्रभावी राष्ट्रीय काव्य भी नहीं माना जा सकता क्योंकि अपने-अपने संदर्भ में प्रत्येक काल खंड की साहित्यिक रचनाओं में राष्ट्रीयता की भावना अंगड़ाई लेती रहती है। बस, उसका आयाम बदलता रहता है। आज की संस्कृत रचनाओं में भी उत्कट राष्ट्रीय भावना भरे दिखते हैं। इन्होंने *रघुवंश* की ऊर्जस्विता के सामने बांग्ला साहित्य को खारिज कर दिया है। लेकिन संस्कृत काव्य सुषमा का बांग्ला साहित्य से तुलना करना भी ठीक नहीं। हमें यह नहीं

भूलना चाहिए कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के दौरान बांग्ला साहित्य ने भी बौद्धिक शस्त्रास्त्र के रूप में बड़ा मारक सामग्री जुटाया था।

त्रिपाठी जी ने *ब्रह्म* तथा *बालार्क* के संदर्भ में मैकडोनल्ड तथा कीथ कृत अर्थ क्रमशः *चरवाहों का ज्ञान* तथा *सवेरे का उदय होता सूर्य* पर जो आपत्ति उठायी है वह सर्वथा श्लाघनीय है क्योंकि ब्रितानी प्राच्यविदों का नज़रिया भारतीय सभ्यता, संस्कृति तथा साहित्य का प्रशासनिक तथा कूटनैतिक शोषण का अधिक था। इसी फलसफे के तहत संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद भी शुरू हुआ। विलियम जोन्स और कोलब्रुक ने मिलकर हिन्दू धर्मशास्त्र *मनुस्मृति* का डाइजेस्ट आफ़ हिन्दू लॉ (1791 ई.) नाम से किताब लिखी। इतना ही नहीं हॉलहेड ने भी संस्कृत व्याकरण (1778 ई.) पर अंग्रेजी में पुस्तक लिखी। भारतीय कानून और दर्शन को समझने के लिये वाराणसी में जोनाथन डंकन ने *संस्कृत कॉलेज* (1799 ई.) की स्थापना की। भारतीय भूगोल को समझने के लिये भी *मेघदूत* (कालिदास) का तर्जुमा किया गया। लेकिन बोस जी की *विलायत-रिटर्न सामग्री* की चर्चा की थोड़ी बारीकी से सोचने-समझने की जरूरत है क्योंकि त्रिपाठी जी ने इसके मर्म भेदन में थोड़ी कोताही की है। इनके द्वारा लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, म.म. रामावतार शर्मा, पं. मधुसूदन ओझा सरीके चिंतकों का उद्धरण भारतीयता की तलाश में एक अच्छा पहल माना जा सकता है। लेकिन ग़ौरतलब है कि प्राचीन काल में सांस्कृतिक तथा व्यापारिक रिश्तों के जरिए जितना मजबूत और व्यापक वैदेशिक संबंध कायम हुआ। वह रिश्ता मध्यकाल तक आते-आते थोड़ा लड़खड़ा सा गया। प्राचीन काल में जहाँ सिल्करूट तथा नालंदा विश्वविद्यालय सदृश अनेक शैक्षणिक संस्थाओं ने इसमें इजाफा किया, वही सामंती तथा अनेक रूढ़िवादी व्यवस्थाओं ने मध्यकालीन अर्थव्यवस्था को कृषि प्रधान बनाकर इसके वैदेशिक संबंध को दायरों में सिमट दिया। मध्यकालीन यूरोप कर इतिहास भी तो *वार एंड सेक्स* के नाम से जाना जाता है। ऐसी स्थिति में हिन्दुस्तान का पाश्चात्य दुनिया से तथा पश्चिमी देशों का भारत से अलग थलग पड़ जाना स्वाभाविक था। अमेरिका से प्रकाशित पुस्तक (ईडविन विल्सन तथा इल्वीन गोल्डफार्व, *लिविंग थियेटरः ए हिस्ट्री*, 1994, द्वितीय संस्करण) में यह स्वीकार किया गया है कि मध्यकालीन भारत में संस्कृत नाट्य मंचनीयता का काफ़ी ह्रास हुआ जिसका कारण ये विदेशी विद्वान सल्तनत का भारत पर आक्रमण तथा उनके शासन का यहाँ जड़ जमाना भी मानते हैं। बोस जी ने ठीक ही लिखा है कि पाश्चात्य जगत संस्कृत भाषा तथा इसके विविध विपुल महत्त्वों को भूल चुका था। लेकिन दाराशिकोह, संपादित *उपनिषदों* का एक फारसी अनुवाद बेर्निये जब यूरोप ले गया और उसके आधार पर ही दू पेंर ने सन् 1801 में इसका

लैटिन, ग्रीक और फारसी मिश्रित अनुवाद प्रस्तुत किया तो सारे यूरोप द्वारा संस्कृत भाषा तथा इसके साहित्य पर फिर से कवायद शुरू कर दी गयी। फलतः पाश्चात्य प्राच्यविदों की विविध टोलियों द्वारा संस्कृत भाषा तथा साहित्य में निहित ज्ञान-विज्ञान को अपनी-अपनी भाषाओं तथा तर्कों के माध्यमों से पूरे जमाने में फैलाया गया। यह तथ्य अलग है कि संस्कृत पंडित इस विद्या को अपने कठिन शैक्षणिक तपस्या, लगन तथा समर्पण के बल पर इस भाषा को सर्वदा जीवंत एवं प्रवाहमान बनाये रखा जैसा कि त्रिपाठी जी ने भी संकेत दिया है। (पृ.155)। लेकिन साथ ही साथ यह भी ध्यान रहे कि इस *विलायत रिटर्न-सामग्री* को भारतीयता की कसौटी पर भी पूरी तरह कसने की जरूरत है ताकि विदेशी विद्वानों की कुछ चूक तो कुछ उनके खोटे मन की भी जाँच पड़ताल हो सके।

बोस जी का ठीक ही मानना है कि अंग्रेजी भाषा में संस्कृत भाषा के इतिहास से जुड़ी किताबों में रचनाओं के विश्लेषण की अपेक्षा ऐतिहासिक छानबीन का पलड़ा ही अधिक भारी मालूम पड़ता है। ज़ाहिर सी बात है कि शुरूआती दौर में यहाँ इस भाषा की अधिकांश महत्त्वपूर्ण किताबें विदेशी विद्वानों ने ही लिखी है और वे दूसरे देशों के इतिहास के साथ छेड़छाड़ करने में माहिर है। संस्कृत साहित्य में अनेक अच्छी रचनाएँ लिखी जा रही हैं लेकिन साहित्य के बाज़ार में इनके ठीक ढंग से न पहुँच सकने के कारण इन पर यथोचित ढंग से चर्चा नहीं हो पा रही है। उनका मानना कि पुरोहित का पेशा जातिगत होता था। इसके लिये कोई प्रामाणिक कारण नहीं तलाशे जा सकते है। *कृष्ण यजुर्वेद* साफ़ लिखता है-*किं ब्राह्मणस्य पितरं किमु पितरं किमु पृच्छसि मातरम्। श्रुतं चेदस्मिन् वेद्यं स पिता स पितामहः।* (मैत्रायणि संहिता 4।8।1)। उनके हिसाब से ब्राह्मण समाज दर्पित, ईर्ष्यालु तथा वंशवादी था (पृ.18)। यह बात भी गले नहीं उतरती है क्योंकि *भूमि सूक्त* (अथर्ववेद) हिन्दुस्तान की माटी को अनेक धर्मों और भाषाओं से समन्वित मानता है-जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणां पृथिवी- यथौकसम् (12/45)।

यह तथ्य अलग है कि छठी शताब्दी (वी.सी.) में कुछ वैदिक कर्मकाण्डों के कारण धार्मिक मामलों में अराजकता आ गयी थी। लेकिन याद रहे हर धर्म/व्यवस्था में कालगत अच्छे-बुरे बदलाव आते हैं। वैदिक सभ्यता भी इसका कोई अपवाद नहीं थी। फलतः इस धार्मिक सुधार आन्दोलन के गर्भ से गौतम बुद्ध तथा महावीर का प्रादुर्भाव हुआ। लेकिन हमें यह भी याद रखना चाहिए कि *उपनिषद* विद्या ने भी इस बाह्याडम्बर को परिमार्जित करने के लिये सादगी से भरे जीवन शैली में संजीवनी का काम किया। वैदिक कर्मकाण्ड के विषय में

मार्क्सवादी इतिहासकार रोमिला थापर का मत भी विचारणीय है कि वेद कालीन आनुष्ठानिक/याज्ञिक विद्या ने प्राचीन भारत में गणित तथा शरीर रचना विज्ञान की खोज में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। (रोमिला थापर, *ह्रिस्टरी ऑफ एंशियंट इण्डिया*, 1961 ई.) फिर भी इस तथ्य को फिर से विश्लेषित करने की जरूरत है कि राजा राममोहन राय जिन्होंने कई उपनिषदों का अनुवाद भी किया। अंततः उन्हें भी संस्कृत भाषा को निरर्थक तथा धूर्तता का जनक क्यों मानना पड़ा। (अमल बोस, संपादक, *राममोहन रायः द मैन एण्ड हिज़ वर्क्स*, 1933 ई.)। इतना ही नही स्वामी वेदाचलम द्वारा संचालित '*तनित्तियामिल त्यागम्*' (1916 ई०) नामक संस्कृत विरोधी आन्दोलन की भी तहक़ीक़ात की ज़रूरत है। इसी प्रसंग में डॉ. भीमराव अम्बेडकर का विद्यालय जीवन का वह क्षण भी ध्यातव्य है जब संस्कृत शिक्षक ने उन्हें संस्कृत पढ़ाने में आना-कानी की थी। (निरंजन कुमार सिंह, शशिकुमार शर्मा, राम जन्म शर्मा तथा अनिरूद्ध राय, संपादक, *त्रिविधा,* 1980 ई०)।

यार्दी जी ने संस्कृत को मृतभाषा नहीं माना है। लेकिन इस भाषा के कुछ सक्रिय अनुरागियों की संकीर्णता एवं गुटबाजी की ओर जो संकेत दिया है वह वस्तुतः आज सर्वथा विचारणीय है। त्रिपाठी जी के हिसाब से भी *संस्कृत साहित्य सदा ही वर्तमान है।* इसके लिये साहित्य के अन्तः साक्ष्यों के रूप में सम-सामयिक भाषागत अनेक ठोस प्रमाण है जिनका खुलासा किया जाना उचित होगा। आज के संस्कृत साहित्य में अनेक समकालीन भारतीय भाषाओं के साथ शब्दों का विनिमय हो रहा है जो भाषा निरन्तरता तथा अर्थ ग्रहणशीलता के वैविध्य को भी पुष्ट करता है। क्लासिकल नाट्य साहित्य में जहाँ प्राकृत, मागधी, अर्धमागधी तथा शौरसैनी आदि भाषाओं का प्रयोग पात्र अपने संवाद में करते हैं वही समसामयिक संस्कृत नाट्य में-*नेवारी* (भारतविजय नाटक), *अवधी* (गांधीविजय नाटक), *बांग्ला* (युगजीवन) *कुँमाऊनी* (जयन्तु कुमाउनीयाः), संस्कृत-हिन्दी एक ही श्लोक में (शंकरविजय नाटक), *दन्तान् पिंसन-दाँत पिसता हुआ* (वीरप्रताप नाटक), खटखटायति खटखटाता है (मुक्ति महोत्सव), उर्दू-*ओवरंगजेव-औरंगजेब* (भारतीय नाटक) मराठी-*बद्ध-मुष्टिर्लक्षधिके मूल्या-झाकली झूठ सवा लाखची* (पाददण्डः) तथा अंग्रेजी-*शिकागोतः लव इण्डिया* (विवेकानन्दस्मृति) आदि शब्दों का प्रयोग संस्कृत भाषा को तत्सम से तद्भव की ओर मुखरित कर सरलीकरण की दिशा की ओर प्रेरित करते नज़र आते हैं।

संस्कृत कविता में भी *पवन प्रासादेन* (हवामहल) *गरीबः निवाज* (ख्वाजा गरीब निवाज़) तथा *चन्द्र प्रतोल्या* (*चांद पोल*, सभी शब्द सर्वशुक्ला प्रथम भाग

2003) जैसे नूतन शब्दों की संरचना तथा *नारीणां वसनानि यत्र लँहगा चोली सशाटी शिरा....।।9।। (श्रीरेवा भद्रपीठम्)* जैसे प्रयोग भी पढ़े जा सकते है। उसी प्रकार *उदूखले शिरोदाने मुसलात्काभीति* (ओखल में सर दिया तो डर किस बात का) तथा *शठे शाठ्यम् समाचरेत* (जैसे को तैसा-दोनों वीरप्रताप नाटक) *अस्ति द्विदलं किम्पच्छयाम् (दाल में कुछ काला है-भक्तसुदर्शन नाटक) बुद्धौ पाषाणः पतितः-बुद्धि का मारा जाना-*(वीरप्रताप नाटक) तथा *मक्षिकापात इव विध्नभयम्* (मक्खी के गिरने से अमंगल की आशंका-*(ज्ञानहीनाः पशुभिसमाना)* जैसे हिंदीनुमा संस्कृत मुहावरों का गढ़ा जाना भी संस्कृत भाषा की अविच्छिन्न साम्प्रतिकता को संपुष्ट करता है। उसी प्रकार आज के कवियों द्वारा ही *मिट्टी में मिला दिया जाना* (धूलिसाच्चक्रुरिमेऽज्ज्साद्य) *गोबर गणेश की तरह कायर बना रहना* (स्थिता यथा गोमयवक्रतुण्डा) तथा *नाक भौं सिकुड़ना (नासाभ्रुकुञ्चननुष सुतरां श्रुतिभ्याम्*-तीनों *संस्कृतांश 1/23, 10/12 तथा 3/33 साकेत-सङ्गरम् 2003)* जैसे हिंदीनुमा मुहावरों का सटीक संस्कृत अनुवाद भी पठनीय है।

संभवतः भारतवर्ष में ऐसी कोई भी मातृभाषा नहीं होगी जिसमें जाने-अनजाने संस्कृत शब्द का प्रयोग न होता हो। आज जो भारतीय ज्ञान-विज्ञान के प्रकल्पों तथा वैज्ञानिक शब्दावली विकसित किए गए हैं उनमें तकरीबन पाँच लाख से अधिक शब्दों को संस्कृत भाषा के बलबूते पर ही गढ़े गये है। *साहित्य अकादमी* तथा *ज्ञानपीठ* से संस्कृत की अच्छी रचना को पुरस्कार से भी नवाज़ा जाता है। देश के विभिन्न राज्य स्तरीय संस्कृत अकादियाँ भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। *आदि शंकराचार्य* संस्कृत फिल्म को राष्ट्रपति पुरस्कार मिलना तथा *मृच्छकटिक* (शूद्रक) को राष्ट्रीय दूरदर्शन नेटवर्क पर जगह मिलना भी अच्छी बाते हैं। इसी दृष्टि से *गीत-गोविन्द* (जयदेव) का भी महत्त्व है। *ज्ञान दर्शन चैनल पर भाषा मंदाकिनी* संस्कृत चैनल का खुलना तथा रोज़ दूरदर्शन और आकाशवाणी से संस्कृत समाचार का वाचन भी संस्कृत भाषा के प्रवाह को इंगित करता है। कर्णाटक में शिमोगा नामक जनपद में मेतूर नाम से एक गाँव है जहाँ का प्रत्येक आदमी संस्कृत ही बोलता है।

समसामयिक संस्कृत साहित्य में भी विनोद साहित्य की मौजूदगी इसकी जीवंतता को प्रमाणित करता है। *ज्योतिषमती* (1939 ई. महादेव शास्त्री प्रधान संपादक *बलदेव प्रसाद मिश्र-संपादक)* नामक एक सचित्र हास्य परक मासिक संस्कृत पत्रिका छपती थी। इनके कुछ अंक अश्लीलात्मक भी हुआ करते थे। उसी प्रकार *उच्छृखलम्* (वाराणसी, पाक्षिक, 1940 ई.) भी सहृदय सामाजिकों तथा रसिकों की दुनियां में अपना रोल अदा कर रही थी। आज भी *संभाषण संदेश*

(अक्षरम्, गिरिनगरम्, बंगलोर) नामक मासिक पत्रिका में भी *ऐहि हसाम तथा चाटुचणकः* जैसे महत्त्वपूर्ण चुटकुले तथा *वर्ग प्रहेलिका* (क्रोस वर्ड) जैसे स्तम्भ छपते हैं। इसका *स्मारं स्मारं सुखिनः स्याम* नामक शीर्षक आपबीती कहानियों से जुड़ा होता है। इसी मायने में *चंदामामा* मासिक संस्कृत पत्रिका भी महत्त्वपूर्ण है? संस्कृत भाषा की ऐसी कई पत्रिकाएँ हैं जो संस्कृत भाषा के विविध समकालीन रचनाओं को प्रकाश में लाने के लिए निरन्तर सलंग्न हैं। राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली ने भी अनौपचारिक संस्कृत शिक्षण केंद्रों के माध्यम से संस्कृत की बुनियादी संभाषण तथा लेखन से संबंधित लगभग पचास हजार छात्रों को तीन महीनों में तैयार किया है। ग़ौरतलब है कि इस संस्कृत पाठ्यक्रम में अनेक अल्पसंख्यक समुदायों के भी छात्र हैं। इसी पाठ्यक्रम से जुड़ी पाँच भागों में विभाजित पुस्तकों का एक लाख तीस हजार के आस-पास प्रतियाँ का बिक जाना भी पाठकों का संस्कृत भाषा की ओर झुकाव को बताता है। सन् 1999 में सर्वोच्च न्यायालय का ऐतिहासिक फैसला भी ग़ौरतलब है जिसमें इसके व्यावहारिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व को बताते हुए त्रिभाषा फार्मूला में लागू करने का आदेश दिया गया। संस्कृत भाषा के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व को समझने के लिये इन्द्रनाथ चौधरी जी का आलेख *संस्कृत की परंपरा तथा भारतीय साहित्य की एकता की अवधारणा* (*समकालीन भारतीय साहित्य,* अंक 95, मई-जून 2001) भी पठनीय है। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने भी अधिकांश भारतीय भाषाओं की संयोजक कड़ी संस्कृत को ही माना है। (द *हिन्दू*, 11 जनवरी, 2000)।

बोस जी ने *रघुवंश, कुमारसंभव* तथा *मेघदूत* (तीनो कालिदास) तथा *गीत-गोविन्द* (जयदेव) को कोई तरजीह नहीं दिया है। लेकिन उन्हें यह जानना चाहिए कि शायद ही ऐसी कोई भारतीय भाषा है जिसमें इनका अनुवाद न हुआ हो। इनमें कुछ का तो एक ही भाषा में कई अनुवाद पढ़े जा सकते हैं। *मेघदूत* तो हिंदी भाषा में अर्धशतक लगा चुका है और ध्यान रहे कि *भगवद्गीता* के बाद सबसे ज्यादा टीकाएँ *मेघदूत* पर ही लिखी गयीं है। इससे इसकी काव्य सौष्ठव तथा कालजयिता भी प्रमाणित होती है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी इसकी नैसर्गिक सुषमा से बहुत प्रभावित हैं। उनका मानना है कि मानव इसे पढ़कर गंवारू कुस्वरता को सुनने से बच सकता है। (द *मेघदूतम्; टैगोरः लिटरेचर एंड लॉग्गेयेज़ः 2001 ई.*) मार्क्सवादी समालोचक एवं विद्वान नागार्जुन द्वारा *मेघदूत* का हिंदी अनुवाद भी महत्त्व की बात है। लाला सीताराम ने तो 1883 ई. में इसका हिन्दी अनुवाद कर दिया था। जगमोहन सिंह ठाकुर ने भी इस भाषा में अनुवाद किया। *मेघदूत* का ए. कुमारस्वामी पिल्लै द्वारा *मेकात्तक कारिकै* (Mekatatak Karikai) नाम से तमिल (1897 ई.), डोड्डावेलि गोपालाचार्य (Doddabele

Gopalacharya) *द्वारा मेघसन्देशम्* (1899 ई.) के रूप में कन्नड़ तथा कमलनाथ अधिकारी द्वारा इसका नेपाली भाषा में अनुवाद (1830 ई.) भी उल्लेखनीय है। वालाचार्य गोपालाचार्य सक्कारी ने *मेघदूत* का '*कन्नडपड्यरूप मेघदूत काव्यवु*' (1892 ई.) अनुवाद तथा राय देवी प्रसाद पूर्ण ने भी इसका धराधर धावन (Dharādhār Dhāvan-1902 ई.) के नाम से हिंदी अनुवाद किया। भारत का पहला आई.सी.एस. (अब आई.ए.एस.) सत्येन्द्र नाथ ठाकुर ने भी इसका तर्जुमा किया। अत: बोस जी के हिसाब से *मेघदूत* यौनता और इन्द्रिय विलास छटा के बिना *कंकालमात्र* है (पृ.08) ठीक नहीं माना जा सकता क्योंकि *मेघदूत मनुष्य के अनंत स्वप्न, जिजीविषा और प्रेम की अनन्य निष्ठा का काव्य भी है। (राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, 2001)*।

उसी प्रकार *गीत-गोविन्द* (जयदेव) का आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा हिंदी (1890 ई.) तथा पेरी स्वामी तीरूमलाचार्य द्वारा कन्नड़ अनुवाद भी द्रष्टव्य है। इसका गुजराती संस्करण भी पढ़ा जा सकता है। बोस जी को याद रखना चाहिए कि कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को अपने पिता के संकलन मञ्जूषा से बांग्ला लिपि में प्राप्त *गीत-गोविन्द* की प्रति ने बड़ा प्रभावित किया था। (जीवन-स्मृति, रवीन्द्र रचनावली, सुलभ संस्करण, विश्व भारती भाग 9)। अत: बोस जी का मानना है कि *गीत-गोविन्द* अपनी अनुप्रासमयता और श्रृंगार रस से उबा देता है वह कथन खारिज हो जाता है। इसलिये भी कि उपर्युक्त उद्धरण में ठाकुर जी ने माना है कि 'गीत गोविंद' को कितनी बार पढ़ा था, उसकी संख्या उन्हें याद नहीं।

त्रिपाठी जी ने कुछ हिंदी साहित्यकारों का संस्कृत साहित्य से मोहभंग होने की बात उठायी है जो इशारा महावीर प्रसाद द्विवेदी, भारतेन्दु हरिश्चंद, महाप्राण निराला तथा आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री की ओर भी घूमता नज़र आता है। अत: इस रिश्ते के अन्दरूनी सबब पर भी एक खुली बहस की जरूरत लगती है। बोस जी ने यह प्रश्न बड़ा जायज उठाया है कि पाश्चात्य चिंतकों ने भारतीय रस सिद्धान्त पर कोई खास मीमांसा नहीं की है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि पाश्चात्य जगत नास्तिक है। भारतीय दर्शन आस्तिक और नास्तिक मतों का समन्वय है। भारतीय रस सिद्धान्त में सांख्य, मीमांसा तथा वेदान्त आदि के जो फलसफे हैं उन्हें समझने की उन लोगों में परिपक्व दृष्टि नहीं। अत: उनके द्वारा विश्लेषण के साथ संश्लेषण की संपृक्तता स्थापित करना टेढ़ी खीर है।

प्रस्तुत आलेख वस्तुत: बोस जी के प्रति हार्दिक भावांजलि है जिन्होंने संस्कृत कविता के फलसफे के विश्लेषणात्मक आयामों में बड़ा इज़ाफा किया

है। त्रिपाठी जी ने खंडन-मंडन के जरिए एक सार्थक विमर्श शुरू किया है। यार्दी जी के चिंतन में भी समसामयिकता है। इस परिप्रेक्ष्य में यह अदना सा आलेख एक छोटा प्रयास ही माना जाए। संस्कृत कविता की सुदीर्घ वैदिक वाङ्मय की धड़कनों को आज के प्रसंग में भी अनुप्राणित करने की बड़ी जरूरत है। अन्यथा अमेरिका से छपने वाली लब्धप्रतिष्ठ पत्रिकाएँ *ग्रॉटा* और *न्यूयॉर्कर* जिन्होंने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के अपने स्वर्ण जयन्ती विशेषांक के माध्यम से यह मिथक फैलाने का प्रयास किया है कि आज के भारतीय साहित्य में सहादत मंटो सदृश एक दो साहित्यकारों की रचनाओं को यदि छोड़ दिया जाए तो हम पाते हैं कि आज के हिन्दुस्तानी अदब में कोई राष्ट्रीय स्वरूप नहीं है। ध्यान रहे कि सावधान न हुए तो कुछ समय के बाद उनका यह मिथक ही ठीक लगने लगेगा। *ग्लोबलाइजेशन* की आड़ में जो सांस्कृतिक तथा आर्थिक आक्रमण की तैयारी चल रही है, उसके खिलाफ भी भारतीय साहित्य को एक जुट होना है क्योंकि भाषाशास्त्री एंड्रलू डेली ने अपने हाल की छपि किताब *लौंग्वेज़ इन डेंज़र* में साफ़ लिखा है कि *अपनी भाषा को बचाना इसलिए अनिवार्य है, क्योंकि दूसरी भाषाओं में हम कितने ही निष्णात हो जाएँ, वे हमारी सभ्यता और संस्कृति की रक्षा नहीं कर सकतीं। स्वयं की मौलिकता को बनाएँ रखना है तो आपको अपनी भाषा सीखनी और पढ़नी होगी।*

✦✦✦

Challenges of Modern Life Style And Vedānta

(with special reference to Chāndogyopaniṣadvākya)

Dr. Satyamurti,

Special Centre for Sanskrit Studies,
JNU, New Delhi

Introduction :

A recent survey of the HR departments of a few leading companies like Apollo Hospital, Britannia, Samsung, Make My Trip, DDB Mudra & Omni-tech Info-solution, has revealed some astonishing facts[1]. The survey says that the companies are facing most of the difficulties only because of seven deadly HR sins. These are - compromise, mistrust, worship, ignorance, greed, defiance & arrogance. These are affecting the work-efficiency and output badly. If we meticulously examine, we find that all of these are directly connected with mental and psychological problems present in human beings. Thus, they need to be cured through conditioning mind only. The Vedānta school of Indian philosophy has analyzed human psyche and capable to pave way to handle these problems.

In the present time, management is one of the most popular academic disciplines. Management theories focus mostly on the object of management and not on the manager himself. These theories forget that manager enjoys the pivotal position in all kinds of entrepreneurship and without managing him; no entrepreneurship can reach to the door of success. Now-a-days, the manager himself is in trouble and is not able to use the immense potential latent within him. For increasing the work-efficiency and achieving good output, one needs to reveal maximum potentialities inherent in oneself through self-management. That is why self-management has become an important issue in the present time.

1. "*Seven deadly sins prevailing in HR domain*" by Lynn Lobo, TNN in *The Economic Times* of 22 Feb., 2012

Vedānta philosophy strongly believes that by managing oneself, one can do wonders in whatsoever entrepreneurship one starts. If we meticulously examine, we find that the hustle & bustle of modern life-style is resulting into various problems - physical and psychological as well. Modern Medicine has universally accepted that there are three fatal problems in the modern life-style which are jeopardizing one's life and directly affecting the work-efficiency of an individual:

* Unhealthy eating habits
* Stress
* Sedentary life

These things of the modern life-style are responsible for obesity, high blood pressure, diabetes, insomnia, infertility and many other diseases. These diseases are spreading like pandemic. Cesarean birth has become a common phenomenon and natural birth is becoming rarer and rarer day by day. Our unhealthy life-style has given birth to these ailments even at young stage. Hospitals and quacks therein are flourishing. The entire scenario is alarming. These are affecting the work-efficiency and output badly. There is an immediate need of rectifying life-style and managing oneself to reverse this grim situation.

The work efficiency of an individual can be increased only when we would bring a substantial change in our life-style. Our thinkers and philosophers had a vision to tackle the problems related to inappropriate life-style and to realize the latent potentialities of human-beings up to a great extent. More specifically, the Vedānta school of Indian Philosophy has developed a systematic method of managing oneself through leading a proper life style.

The present paper is a modest endeavor to bring the Vedāntic view on life-style to the fore through the analysis of a self-management model given in *Chāndogyopaniṣadvākya.*

Chāndogyopaniṣadvākya **and Review of related works :**

Chāndogyopaniṣadvākya is a commentary on *Chāndogyopaniṣad*. It was written by Ṭaṅkācārya, a Vedānta scholar of 500 A.D.[1] He is also known as Brahmanandī.[2] He is often referred as

1. *Encyclopedia of Indian Philosophies*, Vol. I, Section 1, p. 207.
2. "taṅko brahmanandī eka eva vyavahṛtaḥa" - Śrutaprakāśikā & Tattvaṭīkā on *Śrībhāṣya* as quoted in the footnote of ***Śrīśaṅkarātpragadvaitavādaḥ***; p. 132.

Vākyakāra.[1] His marvellous work *Chāndogyopaniṣadvākya* is lost today. But, thirty references are found interspersed in the texts of later Vedānta. Eight references are found in Advaita texts and rest twenty two references have been made in Viśiṣṭādvaita texts.[2] It is difficult to ascertain whether the belongs to Advaita School or Viśiṣṭādvaita School. But, this hardly affects ethical aspects of the two philosophies. Rāmānujācārya (1017AD -1137 AD), the great scholar of Viśiṣṭādvaita school has cited the ideas of *Chāndogyopaniṣadvākya* in his Śrībhāṣya on Brahmasūtra; 1.1.1.

Since the work is lost today, we have no choice to take resort to the philosophical texts like *Śārīrakabhāṣya* of *Śaṅkara* and *Śrībhāṣya* of Rāmānujācārya on *Brahmasūtra* of *Bādarāyaṇa*. Apart from this, two commentaries of Sudarśana Suri (1290 AD) on *Brahmasūtraśrī-bhāṣya* proved to be extremely helpful. These are Śrutaprakāśikā & Śrutapradīpikā. Apart from these commentaries, a few important works are available on Ethics of Vedānta, viz. *A Manual of Ethics* by Jadu Nath Sinha, *A Historical Developmental Study of Classical Indian Philosophy of Morals* edited by Rajendra Prasad in the series of *History of Science, Philosophy & Culture in Indian Civilisation* (Vo. XII, Part 2) generally edited by D. P. Chattopadhyaya etc.

But, these editions or independent researches deal with ethics in a general manner. None of these works go in the vertical depth of *Chāndogyopaniṣadvākya*. The present paper not merely derives a self-management model from the text, but also reinforces it with ideas of Yoga & Āyurveda. In this way, it tries to give a new insight to look at the text.

Self-management model of *Chāndogyopaniṣadvākya*:

Theself-management model for living a long and healthy life is derived primarily on the basis of the following sentence of *Chāndogyopaniṣadvākya* as cited by Rāmānujācārya:

"tallabdhir-viveka-vimokābhyāsa-kriyā-kalyāṇāna-

---

1. "chāndogyavākyakāreṇa brahmanandinā/" - Vedāntakalpataru on ***Brahmasūtra***; 1.4.27; "ayameva chāndogye vākyakāravṛttikārābhyāṁ sampradāyataḥ samāśritaḥ/ " - Bhāskarabhāṣya on ***Vedāntasūtra***; 1.4.25 and "brahmanandi -viracitavīkyīnāṁ sūtrarūpāṇām...." - Sārasaṅgrahaṭīkā; p. 1449 on ***Saṅkṣepaśārīraka***; 3.220.
2. ***Śrīśaṅkarātprāgadvaitavādaḥ***; p. 138-142.

vasādā-nuddhrṣebhyaḥ sambhavānnirvacanācca /"[1]

Here, tat means *upāsanā*, i.e. a kind of meditative state of mind full of self-awareness (*vedanā*)[2]. By repeated practice, a firm & continuous self-awareness like flowing oil is attained. It is also called *dhruvā smṛti* or *bhakti*.[3] Ṭaṅkācārya says in this sentence that this meditative state can be obtained through *viveka* (physical purity through discrimination), *vimoka* (abandoning expectation), *abhyāsa* (continued practice), *kriyā* (Duty), *kalyāṇa* (virtuous conduct), *anavasāda* (freedom from depression) and *anuddharṣa* (absence of exultation) because it is endorsed by logic and scriptures as well.

On the basis of this idea of Ṭaṅkācārya, a self-management model can be derived; which is capable to reverse the grim situation and to solve the problems generated due to unhealthy life-style. This self-management model has three components of a healthy life-style. These are as follows:

* **Right eating** - Good eating habits (*āhāraśuddhi*) & maintaining proper hygiene
* **Stress busting** - Conditioning mind through proper stress management
* **Exercise** - Physical activities as per one's choice including the practice of *prāṇāyāma*.

These three components of the self-management model render solutions to the three problems of modern life-style mentioned earlier in the same order. Now, each of these components of a healthy life-style needs to be explained in the light of the idea of Ṭaṅkācārya. Parallel references from other texts of Vedānta and Āyurveda shall also be given in support of the ideas of Ṭaṅkācārya.

---

1. *Chāndogyopaniṣadvākya* as quoted in Śrībhāṣya on ***Brahmasūtra***; 1.1.1
2. "vedanamupāsanaṁ syāat tadviṣaye śravaṇāt/" - Śrībhāṣya on the ***Brahmasūtra***; 1.1.1
3. "dhyānaṁ catailadhāravadavicchinnasmṛtisantānarūpam - dhruvā smṛti/ ... 'upāsanaṁ syāt dhruvānumṛtidarśanānnirvacanācca' iti/ tasyaiva vedanasyopasanarūpasya asakṛdāvṛttasya dhruvāsmṛtitvamupavarṇitam/ .. evaṁrūpā dhruvānusmṛtireva bhaktiśabdenābhidhīyate, upāsanāparyāyatvāt bhaktiśabdasya/" - *Chāndogyopaniṣadvākya* as quoted in Śrībhāṣya on ***Vedāntasūtra***; 1.1.1

Right Eating -

The term *viveka* used in the sentence of Ṭaṅkācārya signifies right eating habits. The term *viveka* means discrimination between good food and bad food. It is the wisdom of purification of body through adopting good food and right eating habits and by discarding improper food and unhygienic eating habits[1]. This is called *āhāraśuddhi*, which is extremely important for the purity of body. All virtuous acts can be performed only with a healthy body[2]. Therefore, it becomes inevitable to pay attention to *āhāraśuddhi* to build a healthy body. Though food is directly related to our physical body, but through body it affects mind and soul as well. A sound mind lives in a sound body.

Right food-habits may be explained in two ways - quantitatively and qualitatively. There are two views regarding the quantity of the food - *sarvatograha*, i.e. the total quantity of the food and *pratigraha*, i.e. the relative proportion of each ingredient of food[3]. Food must be taken in appropriate quantity in accordance with one's age, capacity, appetite and situation. That is called *ātmasammitaāhāra*[4]. Over-eating may result into obesity, heart-disease, high blood-pressure etc. Even under-eating may cause low blood-pressure, anaemia and other deficiency-diseases. Those, who are blind followers of the western culture and who avoid food consciously to maintain figure as per western parameter of beauty, must be careful that they might become anorexic. Balanced diet is extremely important for attaining the meditative state mentioned earlier[5]. There is no chance of attaining the same for those, who eat too much or those, who do not eat at all[6].

---

1. "jātyāśrayanimittāddusṭādannāt kāyaśuddhirvivekaḥ/" - Śrībhāṣya on the ***Brahmasūtra***; 1.1.1
2. "śarīramādyaṁ khalu dharmasādhanaṁ/" - ***Kumārasambhava***; 5.33.
3. tatra sarvasyāhārasya pramāṇagrahaṇamekapiṇḍena sarvagrahaḥ parigrahaḥ punaḥ pramāṇagrahaṇamekaikaśaḥ yenāhāradravyāṇām /" - ***Carakasaṁhitā*** Vimānasaṁsthāna; 1.21.
4. "yadu ha vā ātmasammitamannaṁ tadavati, tanna hinasti, yad bhūyo hinasti tat kanīyo'nnaṁ na tadavati / - ***Śatapathabrāhmaṇa***; 9.2.1.22 as quoted in Śaṅkarabhāṣya on ***The Gītā***; 6.16.
5. "yuktāhāravihārasya yuktaceṣṭasyakarmasu / yuktasvapnāvabodhasya yogo bhavato duḥkhahā// - ***The Gītā***; 6.17.
6. "nāpyaśnatastu yogo'sti na caikāntananaśnataḥ/ - ***The Gītā***; 6.16.

Therefore, one should eat neither more nor less than what suffices oneself[1]. Nutritious food in appropriate quantity not just makes body attractive but also, keeps many diseases away. Abandoning food completely makes no sense. In his commentary on the Gītā, Śaṅkarācārya quotes a very beautiful method of having food from the Yogaśāstra - "Half of the stomach, fill with food & condiments; the third quarter is for water; leave the forth for the movement of air."[2]

In the same way, one should be cautious of *pratigraha* i.e. the relative proportion of each ingredient in the food. The relative proportion of each ingredient in the food should be maintained in such a way so that one's need of carbohydrate, proteins, fat, vitamins and other minerals might be fulfilled. This is the idea of balanced diet in modern dietetics.

Now, the qualitative aspect of diet is to be discussed. One must take diet such as milk, green vegetables, salad which is rich in proteins, minerals and micronutrients. We should regularly take sprouts, fresh fruits & their juices, which are rich sources of nutritious elements. Such food promotes longevity, strength of mind, power, health, comfort and pleasure[3]. Ill-cooked, stale, smelling food and junk-food are strictly prohibited and are named *tāmasa* food[4]. Even sour and spicy food is also to be avoided[5]. As far as oil is concerned, it should also be included in adequate measure, but it is wise to take things like almond, dry-fruits and nuts in which oil is present naturally. One should avoid refined oil etc. Our scriptures have always prescribed *ghee* of cow as the best form of fat[6].

Apart from food, one must take care of drinking water properly

---

1. "yadu ha vā ātmasammitamannaṁ tadavati, tanna hinasti, yad bhūyo hinasti tat kanīyo'nnaṁ na tadavati / - ***Śatapathabrāhmaṇa***; 9.2.1.22 as quoted in Śaṅkarabhāṣya on ***The Gītā***; 6.16.
2. ardhaṁ savyañjanānnasya tṛtīyamudakasya ca/ vāyoḥ sañcāraṇārthaṁ tu caturthamavaśeṣayet //" - Śaṅkarabhāṣya on the ***The Gītā***; 6.16.
3. "āyuḥsattvabalārogyasukhaprītivivardhanā/" - ***The Gītā***; 17.8.
4. "yātayāmaṁ gatarasaṁ pūtiparyuṣitaṁ ca yat / ucchiṣṭamapi cāmedhyaṁ bhojanaṁ tāmasapriyam//" - ***The Gītā***; 17.10.
5. "kaṭvamlalavaṇātyuṣṇatīkṣṇarukṣavidāhinaḥ / āhārā rājasasyeṣṭā duḥkha-śokāmayapradāḥ//" - ***The Gītā***; 17.9.
6. "sarpirmajjāvasātailaṁ sneheṣu pravaraṁmatam/ tatrāpi cottamaṁ sarpiḥ saṁskārasyānuvartanāt// mādhuryādavidāhitvājjanmādyeva ca śīlanāt/" - ***Aṣṭāṅgasaṁgraha*** Sūtrasaṁsthāna; 25.5- 6.

while eating. If one drinks water in appropriate quality and quantity, it works as ambrosia[1]. Otherwise, it becomes poisonous. If water is taken just before meal, it would extinguish the abdominal fire and consequently, makes the body thin. If it is taken just after meal, it brings obesity & phlegm in the stomach. Therefore, it is advised that one should take some water in the middle of taking meal[2].

Not just the nutrition aspect, but our eating habits and hygienic practices too are extremely important for enhancing quality in diet. Proper hygiene must be maintained in connection with plate, utensils, place, hand-wash etc. All these cautions are mentioned in ancient Indian medicine[3]. Ancient Indian tradition prescribes a proper method of having food including *ācamana*. If we follow these methods properly and take quality-food with appropriate quantity, we would definitely be owning a sound body full of radiance and exuberance. This is the exhaustive description of *āhāraśuddhi*. This kind of *āhāraśuddhi* or purification of food purifies one's mind and that purification of mind leads to indelible memory[4]. There is no need to explain how a sound body, a sharp mind and indelible memory can do wonders in any entrepreneurship one starts.

Stress Busting -

It can be done through conditioning mind. One can get rid of tension through an active and meditative life. There are various means of stress-management inherent in Ṭaṅkācārya's sentence. The term *vimoka* used here means abandoning expectation[5]. As expectation is the root-cause of various mental problems, one needs to abandon the same through wisdom. One should have this wisdom that there are

---

1. "kevalaṁ sauṣadhaṁ pakvāmamamuṣṇaṁ hitaṁ ca tat /
samīkṣya mātrayā yuktamamṛtaṁ viṣamanyathā//"
- ***Aṣṭāṅgasaṁgraha*** Sūtrasaṁsthāna; 6.32.
2. "bhaktasyādau jalaṁ pītamagnisādaṁ kṛśāṅgatām/
ante karoti sthūlatvamūrdhvaṁ āmāśayāt kapham//
madhye madhyāṁgatāṁ sāmyaṁ dhātūnāṁ jaraṇaṁ sukham/"- ***Ibid***. 6.41-42.
3. "tatra khalvimānyaṣṭāvāharavidhiviśeṣāyatanāni bhavanti, tadyathā - prakṛtisaṁyogakaraṇarāśideśakālopayogasaṁsthopayoktraṣṭamāni bhavanti/ "- ***Carakasaṁhitā*** Vimānasaṁsthāna; 1.21.
4. "āhāraśuddhau sattvaśuddhiḥ sattvaśuddhau dhruvā smṛtiḥ/"
- ***Chāndogyopaniṣad***; 7/26.
5. "vimokḥ kāmānabhiṣvaṅgaḥ/" - Śrībhāṣya on the ***Brahmasūtra***; 1.1.1

five prime causes responsible for the accomplishment of every work. These are - place of entrepreneurship (*adhiṣṭhāna*), agent (*kartā*), instrument (*karaṇa*), entrepreneurship (*ceṣṭā*) and destiny or unknown reasons without which work can never be complete (*daivam*)[1]. Therefore, for any success or failure, *kartā* alone is not responsible. One should do one's best and should leave the rest on God's will. Thus, abandoning expectation in this way would surely take one out of mental tension. But, this kind of detachment (*vairāgya*) does not come suddenly. We need to do continuous practice (*abhyāsa*)[2] to attain a detached mind. Otherwise, sense-objects can again attract senses towards themselves.

The term *kriyā* suggests that one should constantly engage himself in performing one's duties.[3] The message is that one should engage oneself in an active life because an empty mind is a devil's workshop. The term *kalyāṇa* used here means virtuous conduct.[4] If one adheres to virtuous conducts, one would have no fear ether from law or from divine order. It would definitely make one keep away from stress, as perpetrators only have such tensions.

Depression or *avasāda* is generated either by unfavourable circumstances related to time, place etc. or by their reminiscences. The opposite condition of *avasāda* is *anavasāda*.[5] One can attain the state of *anavasāda*, if one realises that one cannot have favourable circumstances all the time. Life is bound to see many ups & downs.

Similarly, *uddharṣa* or exultation is a mental state, generated by favourable circumstances or success. The opposite state of the same is *anuddharṣa*.[6] Ṭaṅkācārya intends to say that this kind of exhilaration too is a big hindrance in meditation. One should always believe that no success is final and there is always a room for betterment. One should always yearn for perfection without being satisfied. This tendency

---

1. "adhiṣṭhānaṁ tathā kartā karaṇaṁ ca pṛthagvidham/
vividhāśca pṛthakceṣṭā daivaṁ caivātra pañcamam//" - ***The Gītā***; 18.14.
2. "ālambanaṁ saṁśīlanaṁ punaḥ punarabhyāsaḥ/"
- Śrībhāṣya on the ***Brahmasūtra***; 1.1.1
3. "pañcamahāyajñādyanuṣṭhānaṁ śaktitaḥ kriyā/" - ***Ibid.***
4. "satyārjavadayādānāhiṁsānabhidhyāḥ kalyāṇāni/" - ***Ibid.***
5. " deśakālavaiguṇyācchokavastvaādyanusmṛteśca tajjaṁ dainyamabhāsvarat-vaṁ manaso'vasāda iti tad -viparyayo'navasādaḥ/" - ***Ibid.***
6. "tadviparyayajā tuṣṭiruddhṛṣa iti tadviparyayo'nuddharṣaḥ/" - Ibid.

would keep him away from mental turbulence generated out of exultation. Therefore, the steadfastness of mind in both ups and downs is extremely important for making a person stress-free. Most of these ideas are also endorsed by the Gītā[1].

Exercise -

The term *abhyāsa*, used in the sentence of Ṭaṅkācārya, also signifies *vyāyāma* or exercise. One should indulge into a physical exercise as per one's own choice. It could be walking, jogging or anything else. Physical exercise or *vyāyāma* is extremely helpful for getting energy. It enhances metabolic processes in our body, dispels lethargy and makes the limbs sturdy.[2] But, the practice of *prāṇayāma* has a special importance in the Yogic practices. It builds a suitable platform for meditation.

Conclusion -

Now, one thing is quite obvious that if the aforesaid model is means (sādhana) of self-management then the practices prescribed in Yoga & Āyurveda are its *modus operandi* (*itikartavyatā*). The self-management model of *Chāndogyopaniṣadvākya* indicates that one should accomplish one's duties incessantly with quality through proper practice leaving behind one's expectations and should always look for betterment without being satisfied. If one follows a healthy life style in accordance with the self-management model of *Chāndogyopaniṣad-vākya*, one can indeed become able to reveal one's latent capabilities - physical, mental and spiritual up to a great extent and eventually, can serve the society more efficiently.

Bibliography :

Caraka, 1981, *Carakasaṁhitī* (Vol.I), ChaukhambhaOrientalia, Varanasi.

---

1. "yon a hṛṣyati na dveṣṭi na śocati na kāṅkṣati/" - ***The Gītā***; 12.17.
2. "śarīraceṣṭā yā sthairyārthabalavardhinī/
dehavyāyāmasamākhyātā mātrayā tāṁ samācaret//
lāghavaṁ karmasāmarthyaṁ sthairyaṁ duḥkhasahiṣṇutā/
doṣakṣayo'gnivṛddhiśca vyāyāmādupajāyate//
śramaḥ klamaḥ kṣayaḥstṛṣṇā raktapittapratāmakaḥ/
ativyāyāmataḥ kāsojvaraśchardiśca jāyate//"
- ***Carakasaṁhitā*** Sūtrasaṁsthāna; 7. 31-33.

Bādarāyaṇa, 1991, *Brahmasūtra* (with Bhāskarabhāṣya), ed. Vindhyeshvari Prasad Mishra, Chaukhamba Sanskrit Series. Delhi.

Kālidāsa, 1996, *Kālidāsa-Granthāvalī*, ed. Brahmanand Tripathi, Chawkhamba Surbharti, Varanasi.

Pandey, Muralidhar,1986, *Śrīśaṅkarātprāgadvaitavādaḥ*, , Bhartiya Vidya Prakashan, Delhi.

Potter, Karl H., 2009, *Encyclopedia of Indian Philosophies*, Vol.I, Section 1, MLBD, Delhi.

Rāmānujācārya, 2000, *Śrībhāṣya*, trans. by Lalit Krishna Goswami, Chaukhamba Sanskrit Pratishthan, Delhi.

Sarvajñātma, 1999, *Saṅkṣepaśārīraka* (with Sārasaṅgrahaṭīkā of Madhusūdana Sarasvatī), trans. by Divyānanda Giri, Shrinivas Ashram, Haridwar.

Sūri, Sudarśana, 1972, Śrutapradīpikā, ed. A. SrinivasaRaghavan, Thanjavur.

Sūri, Sudarśana, 1972, Śrutaprakāśikā, ed. A. SrinivasaRaghavan, Thanjavur.

Vāgbhaṭa, 1992, *Aṣṭāṅgasaṁgraha*, ed. Ravidatta Tripathi, Chawkhamba Surbharti Prakashan, Delhi.

Vyāsa, 1983, *The Gītā* (with Śaṅkarabhāṣya), ed. A.G.K. Warrier, Ramkrishna Math, Chennai.

-------, 2010, *Chāndogyopaniṣad*, Geeta Press, Gorakhpur.

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

व्याकरणस्य सर्ववेदपारिषदत्वम्

डॉ. रामनारायणद्विवेदी

एसो०प्रोफेसर, व्याकरणविभागः

श्रीला.ब.शा.रा.सं.विद्यापीठ, नवदेहली

शब्दान्वाख्यायकत्वेन शब्दशास्त्रपदेन व्यवह्रियमाणमपि व्याकरणं दर्शनपदेनापि व्यवह्रियते इत्यत्रास्ति निमित्तापेक्षा। तथा च दर्शनशब्दप्रवृत्तिनिमित्तसमन्वयेनास्यापि दर्शनत्वं सङ्गमनीयं भविष्यति। यद्यपि शास्त्रेषु दर्शनपदप्रवृत्तिनिवृत्तिमधिकृत्य न कुत्रापि कोपि विचारो दृश्यते। स्वातन्त्र्येण तथापि यत्र मोक्षस्वरूपं मोक्षोपायः आत्मस्वरूपम् आत्मातिरिक्तस्य समस्तस्य जगतः स्वरूपं तत्साधकानि प्रमाणानि, इत्याध्यात्मविषयः, प्रसङ्गोपालौकिकचर्चा च दृश्यते तत्रैव दर्शनपदव्यावहार्यम्। भगवती श्रुतिरपि वदति, आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति। दृश्यते आत्मतत्त्वं साङ्गं येन तत्त्वदर्शनमिति व्युत्पत्तेः। अध्यात्मवेदकं शास्त्रं ग्रन्थविशेषो दर्शनम् साङ्गमिति विशेषेण पूर्वोक्तार्थलाभः।

कणादं गौतमश्चैव मीमांसाद्वयमेव च।
आहुः साङ्ख्यं योगञ्च षट्शास्त्राणि मनीषिणः॥

गौतमस्य कणादस्य कपिलस्य पतञ्जलेः।
व्यासश्च जैमिनेश्चापि षडेव दर्शनानि हि॥

षड्दर्शनानि मेङ्गानि पादः कुक्षिः करौ शिरः।
तेषु भेदं तु यः कुर्यात् मदऽगच्छेदको हि सः॥ इति

प्रसिद्धोक्त्या साङ्ख्यायोगन्यायवैशेषिकमीमांसावेदान्तनाम्ना षडेव शास्त्राणि प्रसिद्धानि, तान्येव च दर्शनपदव्यपदेश्यतां समुपयन्ति सुधियां समाजे। एतान्येवागम-शास्त्रदर्शनस्मृतितन्त्रतीर्थशब्दैः पर्यायात्मकैः भिन्न-भिन्नप्रस्थानप्रकरणग्रन्थेषु व्यवह्रियन्ते। अत्र वास्तविकदर्शनानामेव सङ्कलनं कृतं तथापि नास्तिकदर्शनानामपि परिगणनं शास्त्रेषु दृश्यते, तान्यपि षड्भवन्ति, इत्येवाहत्य (12) द्वादशदर्शनानि। नास्तिकदर्शनानि च चार्वाकजैनचतुर्विधबौद्धदर्शनभेदेन षड्भवन्ति। यद्यपि सर्वसिद्धान्तसंग्रहे श्रीभगवता शङ्कराचार्येण षड्दर्शनभेदेन जिनदत्ताचार्येण चास्तिकदर्शनविचारप्रसङ्गे व्याकरणस्य दर्शनत्वे चर्चा कृता। तथापि दार्शनिकानां मध्ये सर्वतन्त्रस्वतन्त्रमहादार्शनिकेन

पदवाक्यप्रमाणपारावारीणेन श्रीमाधवाचार्येण [1]सर्वदर्शनसंग्रहे व्याकरणस्य दर्शनत्वं बोधितं षोडशदर्शननिकायाभ्यन्तरे प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च, इति सूत्रे सर्ववेदपारिषदमिदं शास्त्रमिति कथयता भाष्यकारेणाप्यस्य शास्त्रत्वं सम्बोधितम्।[2] श्रीहरिणापि व्याकरणस्य शास्त्रत्वं दर्शनत्वं स्मृतित्वमागत्वञ्च काण्डतः प्रत्यपादि। अथ दर्शनान्तरीय[3]रीत्या व्यापारस्य धात्वर्थाभावात् लकारविधिः स्यादिति भूषणग्रन्थेनापि व्याकरणस्य दर्शनत्वं बोध्यते।

किञ्च यत्र मोक्षः मोक्षोपायः आत्मस्वरूपं जगदुत्पत्यादिरित्यध्यात्मविषयको विचारो दृश्यते, तद् दर्शनपदेन व्यवहार्यमिति पूर्वमुक्तम्, दृश्यते आत्मस्वरूपं मोक्षोपायादिस्वरूपञ्च अनेनेति व्युत्पत्तेः। आध्यात्म्यादिज्ञानकरणीभूतं दर्शनम् इति फलितोऽर्थः। व्याकरणेऽपि एतेषां भूयान् विचारो वर्तते। अग्रे विशेषरूपेण प्रदर्शयिष्यते। यद्यपि नास्तिकदर्शनानामनेवाविधतया दर्शनपदव्यवहार्यतानुपपत्तिः आयातिः इति प्रतीतिः भवति। तथापि तेनापि शरीरादेवरात्मतया इन्द्रियपोषणस्येव मोक्षतयावगमने दर्शनपदव्यवहार्यत्वोपपादनं कर्तव्यम्। दर्शनानां भेदः तेषां मतानि परस्परमेकवाक्यता अनेकवाक्यता वेत्यादिविचारो नाद्रियते प्रकृतानपेक्षणात्। व्याकरणस्य दर्शनत्वं तु अवश्यमुपपादनीयमस्ति। तदेव किंञ्चिद्विचार्य प्रकृतं वक्ष्यामः।

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।[4]
प्रथमं छन्दसामाङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः॥

इति कारिकयाव्याकरणस्य ब्रह्मपरत्वं बोध्यते। ब्रह्म च स्फोटरूपमिह विवक्षितम्। स च स्फोटः अनादिनिधनं जगद्रूपविवर्ताधिष्ठानतया स्वीक्रियते तथा च हरिकारिका–

अनादिनिधनं ब्रह्मशब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ इति।

तादृशस्फोटब्राह्मणनिरूपणाद् यथा वेदान्तादीनाम् ब्रह्मपरतया दर्शनत्वन्तथैव व्याकरणस्यापि तथात्वमुररी कर्तव्यम्।

यद्यपि मुख्यतयास्य परमपुरुषार्थ एव तथापि लौकिकप्रयोजनमपि तत्सहकृतमवश्यमेव वर्तते। अन्यथा साधारणलोकप्रवृत्यभावः प्रसज्येत। भाष्ये तु मुख्यामुख्यभेदेन अष्टादशप्रयोजनानि उक्तानि। वाक्यपदीये तु विस्तरेण मोक्षसाधनत्वं वर्णितम्। तथाहि–

---

1. सर्वदर्शनसंग्रहः (श्रीमाधवाचार्यकृतः)
2. न्यायप्रस्थानमार्गास्तानभ्यस्य एवं च दर्शनम्। प्रणीतो गुरुणास्मालभ्यमागमसंग्रहः।
3. वै.भू.सा. धात्वर्थनिरूपणे।
4. वाक्यपदीयकारिका।

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः॥ इति[1]

व्याकरणे प्रमाणचर्चा

व्याकरणे प्रमाणादिचर्चाया अभावेनास्य दर्शनत्वं दुर्घटमिति शङ्का न कर्तव्या, अत्रापि प्रमाणचर्चाया उपलभ्यमानत्वात्। तथाहि-व्याकरणे अनिर्ज्ञातार्थस्य साकल्येन ज्ञानमुच्यते प्रभा तथा भाष्यम्, मानं हि नामानिर्ज्ञातार्थमुपादीयते अनिर्ज्ञातये ज्ञास्यामिति (3.559) एतच्च मानसामान्यलक्षणम्। अत्र प्रदीपे मानमिति-यथोपस्थापितेन हि साकल्येन मेयं परिच्छद्यते इति। उद्योतश्च भाष्ये मानहीति अनिर्ज्ञातार्थस्य साकल्येन ज्ञापकत्वभूतत्वम्। उक्तलक्षणे साकल्येनेत्यस्य सामान्यतो विशेषतश्च (इत्यर्थः) यथा अयं घट इति प्रमात्मकं ज्ञानम्।

प्रमाणलक्षणे दोषनिराकरणम्

सामान्यतो विशेषतश्चेत्युक्त्या अबाधितविषयकत्वं लभ्यते, इदं राजमिति स्थाणुर्वा। पुरुषो वेति ज्ञाने सामान्यतो ज्ञानेपि शुक्तित्वादिनाविशेषतोऽज्ञानान्नास्ति तत्रातिव्याप्तिः। वेदान्तपरिभाषायान्तु[2] अनगिधतावाधितविषयकज्ञानात्वं प्रमालक्षणमुक्तम्। अत्र साकल्येनेत्यनेन यद्विवक्षितम्, तदेव परिभाषायामबाधितपदेन विवक्ष्यते।

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते इति वार्तिके लोकशब्दो लोकात्मनेनुमानप्रमाणरूपेर्थेह्युक्तः भगवता भाष्यकृता।[3] तथा च लोक प्रमाणेनार्थज्ञानात्मक प्रयोजनाय शब्दप्रयोगव्यारकणशास्त्रेणाज्ञातस्य तस्याबोधनात् कथं प्रामाण्यं लभ्येतेति जिज्ञासायामुच्यते महर्षिणा श्रीकात्यायनेन लोकतो इति एवं च लोकतो निर्ज्ञातस्य धर्मस्य साकल्येन निश्चायने न तत्र शास्त्रे प्रामाण्यमवतिष्ठत एवेति वार्तिक-कृत्सम्मतमपीदं लक्षणम्।

लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने, इति पूर्वाचार्यसम्मतं सूत्रं प्रत्याचक्षाणस्तत्र सूत्रकारोप्याह तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वादिति। एवमेव प्रकृतिप्रत्ययययोः सहार्थे ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थः प्रधानमिति वचनं प्रतिक्षिपन् ब्रवीति प्रधानप्रत्ययार्थ वचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्, इति चाह। उक्त सूत्रयोः प्रमाणशब्दस्य पूर्वोक्तविशेषज्ञानरूपप्रमितिकरणरूपार्थे एवा चार्यतात्पर्यम् अन्यथा प्रत्याख्यानमसङ्गतमेव स्यात्। व्याख्यातञ्च कौमुद्यां तत्त्वबोधिन्यां काशिकायाञ्च।

---

1. वाक्यपदीयकारिका।
2. वेदान्तपरिभाषा प्र.प.।
3. म.भा. 1/1/1, पृ. 55।

प्रमाणविशेषविमर्शः

प्रत्यक्षमेवेकं प्रमाणमिति चार्वाकाः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां तस्य द्वैविध्यम् इच्छन्ति वैशेषिकाः बौद्धाश्च। आगमस्यापि प्रामाण्यमित्यपि केचन वैशेषिका। प्रत्यक्षानुमानागमास्त्रीणि प्रमाणानि इति सांख्याचार्यः ईश्वरकृष्णप्रभृतयो मन्यन्ते। उपमानेन सह एतानि चत्वारि नैयायिकाः अनुपलब्धिमपि प्रमाणमुपलभ्य षट् प्रमाणानि इति।

भाट्टमतानुयायिनः वेदान्तिनश्च। सम्भव ऐतिह्यं चाप्यतिरिक्तं प्रमाणमिति पौराणिकाः। चेष्टाप्यतिरिक्तं प्रमाणमिति तान्त्रिकाः। प्रत्यक्षं परोक्षमिति द्विविधं प्रमाणमिति जैनाचार्याः।

शाब्दिकमते प्रमाणपर्यालोचनम्

शाब्दिकनामगते प्रत्यक्षं परोक्षमिति द्विविधं प्रमाणमस्ति। इदमेव भगवता पाणिनिना परोक्षापरोक्षशब्छायामुक्तम्। तत्र अपरोक्षं लोकप्रसिद्धं सिद्धम्। परोक्षन्तु अनुमानशब्दार्थपत्तिभेदेन त्रिविधम्। अभ्यासादृष्टं प्रतिसहित षड् विधम्। उपमानानुपलब्धिप्रत्यभिज्ञाकोषभेदात् दशविधम्। किन्तु सर्वेषां चतुर्षु एवान्तर्भावात् चत्वारि एवैततन्मते स्वीक्रियन्ते। अग्रे एतत् एर्वं विवक्ष्यते। तत्र विवादात् सर्वदर्शनानां प्रथमतो हि प्रत्यक्षप्रमाणविषये शाब्दिकानां मते किञ्चिदुच्यते।

प्रत्यक्षप्रमाणनिरूपणम्

इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्याया बुद्धिवृत्तिः सा तत्प्रतिबिम्बितं चैतन्यं वा प्रत्यक्ष प्रमातत्करणं प्रत्यक्षप्रमाणम् इत्युच्यते वैयाकरणैः। तत्राद्य मते इन्द्रियं द्वितीयमते इन्द्रियं वृत्तिः प्रत्यक्षप्रमाणत्वे ल.म. (बौद्धार्थनिरुपणे, पृ. 298, 304, 350)।

तथाहि यथा तडागोदकं नलिकाद्वारानिर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्यकारतां प्रतिपद्यते। तथा तैजसमन्तः करणमपि चक्षुरदीन्द्रियद्वारा घटादिविषयप्रवेशं गत्वां घटादिविशेषणं संयुज्य सूक्ष्मावस्थारूपविषयवासनावशात् तत्तद् विषयाकारेण परिणतं भवति। स चायं परिणामो वृत्तिरित्युच्यते, अयं परिणामः आन्तर एव बौद्धघटादिविषयानुरोधात्। वाह्येन विषयेण सा संयोगस्तु बाह्यविषयतादात्म्यापन्नबौद्धविषयाकारेण परिणामे हेतुः। स्वप्नदशायां बाह्यविषयाभावेऽपि तत्तकारेण परिणामस्य दर्शनात्।[1]

प्रक्रियापरतया साध्वसाधुविवेचनपरमपि व्यारिणशास्त्रं परमार्थतो द्वैतमेव विषयीकरोतीति यथा प्रतिमानं क्रमशः प्रवच्मि। पाणिनिना विनिर्मितमिदं व्याकरणं महेश्वरप्रसादोपलब्धचतुर्दशस्त्रीसनाथम्। चतुर्दशसूत्र्युपदेशस्तु सनकादिसिद्धोद्धारायेति।

---

1. सि.कौ. पूर्वार्द्ध धातु, पृ. 300

समुद्धारोपदेशस्तु तमेव विदित्वातिमृत्युमत्येति इति श्रुत्या द्वैतोपदेश एव। अत एव सनकादिसिद्धोद्धरणार्थं महेश्वरप्रवर्तितानां सर्वव्याकरणमूलभूतानां 'अइउण्' इत्येवमादीनाम् अद्वैत एव तात्पर्य प्रकाशितं श्रीनन्दिकेश्वरेण भगवता–

आकारो ब्रह्मरूपः स्यान्निर्गुण सर्ववस्तुषु।
चित्कलां समाश्रित्य जगद्रूपः उणीश्वरः॥

अकारः सर्ववर्णाग्रयः प्रकाशः परमेश्वरः।
आद्यमन्त्येन संयोगादहमित्येव जायते॥[1] **इति।**

'अइउण्' इति सूत्रसथानकारेण हलिति सूत्रस्य हकारसंयोगे अहमिति भवतीत्यर्थः।

सर्वं परात्मकं पूर्णं ज्ञप्तिमात्रमिदं जगत्।
ज्ञप्तेर्बभूव पश्यन्ती मध्यमा वाक् ततः स्मृताः॥

अकारो ज्ञप्तिमात्रं स्यादिकारश्चित्कला स्मृता।
अकारं सन्निधीकृत्य जगतां कारणत्वतः॥

उकारो विष्णुरित्याहुर्व्यापकत्वान्महेश्वरः॥[2]

इत्यादितदीयश्लोकेषु निर्गुणस्य ब्रह्मण एव सर्वकारणत्वं हरिरभेदश्च दर्शितः। एतद्व्याख्याने उक्तमनि– "अग्रे सृष्टेः पूर्वमिदमकाररूपाक्षरात्मकमासीत्। वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे, वाचैवविश्वं बहुरूपं निबद्धम्। तदैक चैकं प्रविभज्योपभुङ्ते" इत्याह।

सर्व परात्मकं पूर्वं ज्ञप्तिमात्रमिति सर्वस्य प्रपञ्चस्य सर्गात्पूर्वं ज्ञप्तिमात्र–स्वरूपपराभिधस्फोटात्मकत्वाभिधानात् स्फोटस्याद्वितीयचैतन्यस्वरूपत्वमुक्तम्। तथा चोक्तं न्यायचिन्तामणौ–"अन्यभावव्यावृत्तेश्च" इति सूत्रे। एवञ्च ब्रह्मस्फोटा इति नाममात्रौ विवादः स्यात्। न च वस्तुनि। यथा घटः कलश इत्यादौ शब्दभेदेऽपि पदार्थभेदः। मुक्त्यन्वपीरूयिसकलजीवाभेदं जडप्रपञ्चराहित्यं चानभ्युपगम्य स्फोटा–द्वैतोपादनायोगात्। वैयाकरणशिरोमणिर्हरिरपि तत्त्वमिदं प्रकाशयति वाक्यपदीयस्याद्ये पद्ये–

---

1. वर्ष्नि किञ्चिदप्यस्ति रवागन्याध्युर्वादिगादिकम्।
   एतच्चित्तमैवस्ति पत्रपुञ्जमिवाङ्कुरे।।
   सत्यं पृथिव्यादिचित्तस्थं नवहिस्थं कदाचन।
   आबालमेतत्पुरुषे सर्वं देवानुभूयते।।
   स्वप्नभ्रममदावेगरागरोगादि दृष्टिषु।। यो.वा. 5/48/53
2. नन्दिकेश्वरकृतकारिका, उ.न.व. महाभाष्यटीकायां छायोपेतायाम्, पृ. 149

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ इति।

अत्र शब्दतत्त्वस्य ब्रह्मत्वोपपादनेन "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इति श्रुतिभिर्ब्रह्मणो द्वैतत्त्वसूचनेन एतन्मते सुस्पष्टमद्वैततत्त्वे समादरो विभाति। अर्धात्मकप्रपञ्चात्मना विवर्तमानं स्फोटाख्यमक्षरतत्त्वं ब्रह्मेति व्यपादिश्यत् इति कारिकाशयः।

स्वरूपज्योतिरेवान्तः परावागनपायिनी।
तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते॥[1] **इति।**

इति परापरब्रह्मसाक्षात्कारेणाधिकारनिवृत्यपरपर्यायो मोक्षसम्पद्यते तस्मात् सर्वमभावो वा भावो वा सर्वाभिरिष्यते। नत्ववस्थान्तरं, किञ्चैस्मात् सत्यतः स्थितम् इति। ब्रह्म एकमेवाद्वतीयम्, तस्यावस्थानन्तरं किञ्चिन्नास्ति। सर्व हि वस्तु ब्रह्मव्यतिरेकेणालोच्यमानं नास्त्वेव, अविद्यमानत्वात् तथा चोक्तं भगवता लङ्कावतारे–

बुधाः विविच्यमाननां स्वभावो नावधार्यते।
अतो निरभिलप्यास्ते निस्सवभावाश्च दर्शिताः॥[2]

ब्रह्मरूपेण तु जगत्सत्यमेव। अतएवेयं श्रुतिः–"सर्व खल्विदं ब्रह्म"[3] इति जगज्जन्मादि विषये श्रुतिः– "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयत्न्त्यभिसंविशन्ति च तद् विजिज्ञासस्व[4] इति तन्मूलश्च शारीरक-मीमांसादर्शनस्याद्यसूत्रम् "जन्माद्यस्य यतः"[5] इति। तदेव लक्षणं भर्तृहरिरपि ब्रूते अनादिनिधनमित्यादिना। तथाहि ब्रह्मसूत्रे–"जन्मादि" इति प्रथमान्तम् अस्येति षष्ठ्यन्तम् यत् इति पञ्चम्यन्तम्। एवमेव "अनादिनिधनं ब्रह्मशब्द तत्त्वं यदक्षरम्, विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः" इति हरिकारिकायामपि "प्रक्रिया" इति प्रथमान्तम् जगतः इति षष्ठ्यन्तम्, यतः इति पञ्चम्यन्तम् वहनोति तु पूर्वार्द्धेस्ति। अत्र विवर्तते इति कथनेन वेदान्तसम्मतो। विवर्तवादो मतः। विवर्तो नाम अतात्विको न्यथाभावः। इदं रजतमित्यत्र भ्रमस्थले इदमधिकरणे रजतस्यातात्त्विकोन्यथाभावः। रजतमसदत्यविद्यावशात् तत्रारोप्यते, तच्चाधिष्ठान् ज्ञानेन शुक्तिरित्यात्मकेन निवर्तते। अतो रजतविवर्त एवमेवात्र कारिकायां जगतः प्रक्रियापि तस्मिन् स्फोटात्मके ब्रह्मणि अतात्विकरूपेणारोप्यते।

अत्रायं निष्कर्षः– ब्रह्मणो व्यवस्थाद्वयी शास्त्रसिद्धा। एकाविद्ययाप्रविभागावस्था।

---

1. नन्दिकेश्वर कृत्तकारिका, उ.न.व. महाभाष्यटीकायां छायोपेतायाम्, पृ. 149
2. उ.न.वा.म. छाया, पृ. 44
3. उ.ख.खा. प्रमाणखण्डेन
4. छाया उ. 3/4/9
5. तै.उ. 3/1/1

तत्र यद्यपि प्रविभागदशायां ब्रह्मविविधकल्पगोचरम्। तथाहि– तस्या दशायामेकस्यैव ब्रह्मणो धर्मधर्मिरूपेण विकल्पः। घटो भूत भवति, भविष्यति इत्यादिकालभेदेन भिन्नजातिपुरस्कारेण नानाविधः प्रत्ययः। तथापि कार्यरूपेण प्रविभागावस्था यामपि तादृशसर्वविकल्पातीतं ब्रह्मोक्तं किञ्च, तस्यामवस्थायां स्वस्माद् भेदाभेदाभ्याम-निर्वाच्याभिः सर्वकार्यानुकूलाभिः शक्तिभिरध्यासितम्। ताश्चशक्तयो ब्रह्मणि सर्गादिकार्यानुमेया ब्रह्मादिशक्तिवत् सन्त्येव। न तु भेदाभेदाभ्यामनिर्वाच्यत्वाद् शशविषाणवत् तुच्छभूताः। यच्च ब्रह्मणो जगद् रूपेणाविवर्तमानावस्थायां सर्वविकल्पातीतम्, तदेवानादिनिधनमिति निर्दिष्टम्। अविद्याशक्तिमञ्च सर्वकार्यानु-कूलशक्तिभिः समाश्रितं विकल्पगोचरं भवति। वस्तुतस्तु उभयावस्थायामपि तद् ब्रह्म अनादिनिधनमेवैकम्। यथा घटकुण्डलादयो विकारा यत्सुवर्णादिप्रकृत्यार्चिता हि दृश्यन्ते, तथैव रूपादयो विषयाः शब्दरूपानुगता एव दृश्यन्ते। तदुक्तं वाक्यपदीये–

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।[1] इति।

पूर्वार्द्धं व्याचष्टे–

यतो ब्रह्मणः शब्दतस्त्वाज्जगतः सकलागमस्य त्रयीरूपस्य प्रक्रियाप्रथममुपपत्तिः। अत्र जगत्पदं सकलागमेषु लाक्षणिकं यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै इति ब्रह्मणोत्पत्तेः। पूर्वमेव वेदानामुत्पत्तिश्रवणात्।

तस्य लक्षणं तु– "अनेकस्यैकत्रोपसंहार सर्वत"[2] इति तद्विपरीतं तु "एकस्थानेकरूपेण प्रतिभासो विवर्तः" इति। प्रत्यये च पदार्थानां नास्ति परस्परं भेदेनावधारणमिति तदा नाकृतभव्याकृतं वा ब्रह्म उच्यते।

किञ्च तदानीं शब्दाख्ये ब्रह्मणि विकार रूपाग्रन्थयोरूपाद्यात्मक विषया-कारणात्मना सन्तोऽपि भोगासम्पादकतया सन्त इवेति तदानीं तेष्युपदेश्यं ब्रह्मेति तादृशाद् ब्रह्मणः सकलागमा एव पूर्वं जायते वेदशब्देभ्यश्चार्या इति। अत्रेदमुक्तम्–

सर्वपरिकल्पना भसेपप्यनवस्थितः।
तर्कागमानुमानेन न बहुधा परिकल्पितः।।[3] इति।

ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।
विवृतं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते।।

---

1. ब्रह्म 3/2/9
2. वा.प. 1/23
3. वा.प. हेला

हरिकारिकायां तदुक्तं शब्दत्वमिति तत्र हेतुमाह ब्रह्मेदमिति। इदं जगत् शब्दनिर्माणं ब्रह्मेव। सर्वे रूपादयो विकाराः शब्दरूपतयनिर्मीयन्तेऽनेनेति कर्तरि बाहुलकाल्लयुट्।

शब्दरूपतया रूपादयोननिर्मीयन्ते इत्युक्त्या-शब्द-तत्त्वस्य ब्रह्मणः प्रकृति-रूपेणार्थेष्वनुगमो दर्शितः। शब्दशक्तिनिबन्धनम् - शब्दस्य-याभिधाख्या शक्ति सा निबन्धनं ज्ञापककारणमस्य तत्तथा। अनेनार्थस्य स्थितिप्रवृत्तिनिवृत्ति विभागाः शब्देन क्रियन्ते इत्युक्तं भवति। तथा एतेऽर्थस्य शब्दे स्थितिः शब्दादेव प्रवृत्तिः। शब्दे एव निवृत्तिर्लयश्च। यदीदं न स्यात् तदा शब्दशक्त्या न बोध्येतेति अथवा ब्रह्मेदमितीमात्कस्य जगतो ब्रह्मभेदः साध्यते। तत्र हेतु शब्दनिर्माणमिति। यतः शब्देन निर्मितं तत इत्यर्थः।

प्रकृतस्य हेतोः साधनायाह-शब्दशक्तिनिबन्धनमिति। शब्दशक्तयो यतस्तत्रार्थेष्व-नुगता शासते प्रलीयन्ते वा तव शब्दशक्तिष्वर्था विनाशकाल इति शब्दशक्तिनिबन्धनमिदं जगदित्यर्थः। किञ्चेदं जगच्छन्दमात्राभ्यः शब्दतत्त्वस्य ब्रह्मणो मात्राभ्यस्तत्वदर्शानुकूल-शक्तिपरिच्छिन्नेभ्यो विवृतं विवर्तरूपेणोद्भूतं प्रतीयमानं तास्येव शब्दमात्रासु स्वोपादानकारणीभूतासु प्रविलीयत इत्यर्थः।

अत्रेदं तत्त्वम् - रूपादि पदार्थानां परस्परं यो भेदः स आविद्यकः तेषां प्रकृतिः शब्दः स च सत्य। तथा चोक्तम् - "वाचारम्भणं विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्।[1] अनया श्रुत्या प्रकृतेरेव सत्यत्वं निर्धारितं भवति किं च शब्देन वस्तु परिच्छिद्यते। अतः प्रकृतिविकृतिभावेन शब्दात्मकं वस्तु। तथाहि यद्यर्थः शब्दात्मको न भवेत्, तदा शाब्दे ज्ञाने न प्रतीयते। किन्तु शब्देन शब्द एव प्रतीयते, अन्येनान्यप्रतीत्यसम्भवात्। स्वस्येव स्वप्रतीतिजनकतया दृष्टत्वात्। प्रतीयते च शब्देनार्थ इति शब्दप्रकृतिकतया शब्दा ज्ञानं जातमिति। न चान्येनान्यस्याभिलासो युक्त इति शब्दान्मूलोऽर्थो ज्ञानञ्चेति। किञ्च सर्वेऽपि स्थितिप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपा व्यावहाराः शब्देनैव क्रियन्ते इत्यतोऽपि तेषां व्यवहाराय तद्विषयाणां च मूलभूतं शब्दात्मकं ब्रह्मवेत्यतो यत्र शब्दतत्त्वमित्युक्तिर्ब्रह्मणि युज्यते। अतः शब्दतत्त्वस्यैव रूपाद्यात्मनाविवर्तः स्वीकर्तव्यः प्रतिशब्दतत्त्वं ब्रह्मेति। तञ्च शब्दतत्त्वं ब्रह्म अद्वैतमेव। तथा चोक्तं वाक्यपदीये-

एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात्।
अपृथक्त्वेपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते।।[2] इति।

---

1. उ.वा.हे.ब्र.का.अ.कं. पृ 6
2. छान्दोग्योपनिषद्- 6/1/4

यदा शब्दतत्त्वं ब्रह्मैवाम्नातम्। एकमेवाद्वितीयमित्यादिश्रुत्या पौनः पुन्येनोक्तः तस्मात् तथा हि लोके ये घटरूपदयो विकारास्तत्र विकारिणामेकत्वे विकाराणां परस्परं नानात्वेऽपि तत्सर्वं तदेव सर्वप्रकृते ब्रह्मण एकत्वादेकमिति उक्तम् ब्रह्मण्येकत्वमभेदव्यच्छेदमात्रं न त्वेकत्वसख्यां योगरूपम्। तथा च श्रुतयः- "सलिलं एवैको दृष्टः द्वैत एक एवाऽभवत्"[1] इति "सदेव सोम्येदमग्र एकमेवासीदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इति। भेदः प्रतीयते "उक्तं शक्तिव्यापाश्रयात्" इति। विभिन्नशक्तिसमाश्रयेण तद् ब्रह्म नानैव भवति। उत्तरार्द्ध इव शब्दोपादानेन पृथक्त्वं तु काल्पनिकमित्यवधेयम्।।" अनेन व्याख्यानेन शब्दब्रह्मणा सजातीय विजातीय स्वगतभेदशून्यरूपमद्वैतत्वं स्थिरीभवतीति निर्णीयते। व्याकरण प्रणेता पाणिनिरप्यद्वितीयमात्मतत्त्वं तत्र सूचयति- तथा ह्यष्टाध्यायीनिर्माणप्रारम्भे निर्विघ्नं प्रणिनीपुरेषु भगवानादौ "वृद्धिरादैच्"[2] इति सूत्रात्। अत्र च भाष्यम्- "एतदेकमाचार्यस्य मृष्यताम्। माङ्गलिक आचार्य महतः शास्त्रस्य मङ्गलार्थवृद्धिपदमादौ प्रयुते" इति। अत्र मङ्गलं वस्तुनिर्देशात्मकम्। वर्द्धनार्थकवृधधातुनिष्पन्नस्य निरूपचरितवृद्धिशब्दस्य त्रिविधिपरिच्छेदशून्यमत एवाद्वैत ब्रह्मैवैत्यर्थः। ते ब्रह्मणः परम मङ्गलरूपत्वे तदुक्तम्-

अति कल्याणरूपत्वान्नित्यकल्याणसंश्रयात्।
स्मर्तृणां वरदत्वञ्च ब्रह्मतन्मङ्गलं परम्।। इति

धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिति सूत्रे वार्तिककारो वररूचिरपि "सर्वस्या चेतनावत्वात्"[3] इति वार्तिकं पठति। तत् सर्वस्य इत्यात्माद्वैत दर्शनेनेति भाव इति कैयटव्याख्या। तथा च सर्वस्यासपि परस्याभेदाच्चेतनावत्त्वमुपादयतो वार्तिक-कारस्याद्वैतसिद्धान्तादरो दृश्यते।

एवमेव "सिद्धं तु निवर्तकत्वात्" इति वार्तिकमपि कात्यायनस्य महर्षेरद्वैतभावं सूचयति। तस्यार्थः "सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म" इति "तत्त्वमसि" इत्यादिश्रुतिवाक्ये रहिमिति प्रत्यये प्रसिद्धास्यैव ब्रह्मणः प्रतिपादनेन कथं शास्त्र प्रमाणं सिद्धमिति चेत् अत्रोच्यते- एतेषां वाक्यानां ज्ञातज्ञापकत्वेऽपि भ्रमविशेषनिवृत्तिरूपप्रयोजनवत्त्वात् प्रामाण्यं सिद्धमिति भगवान् भाष्यकारोऽपि "स्त्रियाम्"[4] इति सूत्रस्थ वार्तिकव्यख्यानावसरे असत्तु मृगतृष्णावत् गन्धर्वनगरं यथा, इति पठन्नद्वैतसिद्धान्तस्यादातव्यतां मन्यते। तत्र भासमानस्य सद्-सद् विलक्षणरूपमनिर्वाच्यत्वमभिप्रेत महर्षेः। तथा हि "स्त्रियाम्" इति सूत्रे भाष्यग्रन्थः- "वाचं पुनरसल्लिङ्ग शक्यं द्रष्टम् मृगतृष्णावत्। तद् यथा

---

1. वा.प. 1/2
2. श्रुतिः उ.वा.प.अ.क.टी., पृ. 11
3. श्रुतिः उ.वा.प.अ.क.टी., पृ. 11
4. पा.सू. 1/1/1

मृगास्तृषिताः" अर्थाधाराः पश्यन्ति न च ता सन्ति। यथा गन्धर्व नगराणि दूरतो दृश्यन्ते, उपसृत्य च नोलभ्यनत इति। अत्र गन्धर्वनगरदृष्टान्ते नान्यथाख्यातिर्व्यावृता, तस्य पूर्वाननुभूतत्वात्। न च ताः सन्तीत्यनेन च सत्यख्यातिर्निवारिता। दृश्यन्ते इत्युक्त्या आख्यातिर्वारिता। एवञ्च मनो भासमानस्य सदसद्विलक्षणत्वरूपम-निर्वाच्यत्वमद्वैतिनां यदभिप्रेतम् तदेव महाभाष्यकाराणामप्यभिप्रेतमिति साधितं भवति।

एवमेव- "वर्तमाने लट्"[1] इति सूत्रे भाष्यमपि स्पष्टतयैतत्। तथा च भाष्यम्- "अन्ये त्वाहुः नास्ति वर्तमानः कालः अपि चात्र श्लोकानुदाहरन्ति-

न वर्तते चक्रमिषुर्नापत्यते, न स्यन्दते सरितः सागराय।
कूटस्थां यं लोकोयो ह्येवं पश्यति सोप्यनन्थः।। इति।

अत्र कैयटः- "एवं यो वेत्ति सोप्यऽन्यथः। किं पुनर्योनुष्ठता योगीत्यर्थः। स ह्यविकृतमात्मतत्त्वं भावयन् प्रत्यक्षीकरोति इत्यर्थ" इति।

✦✦✦

1. म.भा.

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

नञर्थसमीक्षणम्

डॉ. अशोककुमारमिश्रः
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
नवदेहली

शोधसारांशः

['नञर्थसमीक्षणम्' इत्याख्यो निबन्धः मुख्यतः वैयाकरणभूषणसारग्रन्थम् आधारीकृतो वर्तते, अत्र कौण्डभट्टेन नञर्थप्रकरणे ये पक्षाः समुपस्थापिताः ते सर्वेऽत्र स्थूलरूपेण चर्चिताः विद्यन्ते, तथा च भाष्यप्रामाण्यपुरस्सरं नञर्थो विवेचितः विद्यते। एवञ्च 'तत्सादृश्यमभावश्च.....इत्यादयः' नञर्थत्वेन प्रतीयमानाः सन्ति ते सर्वे शाब्दबोधानन्तरं मानसबोधविषया एव सन्ति न तु वाच्याः इत्थं निबन्धोऽयं प्रकृतविषयं वितनुते।]

व्याकरणशास्त्रे आचार्यः कौण्डभट्टः वैयाकरणभूषणसारं प्रणिनाय, ग्रन्थेऽस्मिन् व्याकरणसिद्धान्ताः नैकेषु प्रकरणेषु विवृताः सन्ति। तथा च तत्र अन्यतमं नञर्थ-निर्णयनामकं प्रकरणं चकास्ति। यद्यपि नञ्समासस्यापि समासशक्तिनिर्णये एव निरूपणमुचितम् तथापि द्योतकत्वात् नञः पृथक्रूपेण निरूपयति। तथा च नञर्थमाह–

"नञ्समासे चापरस्य प्राधान्यात् सर्वनामता।
आरोपितत्वं नञ्द्योत्यं न ह्यसौऽप्यतिसर्ववत्[1]"॥40॥

अर्थात् नञ्समासे अपरस्य=उत्तरपदार्थस्य प्राधान्यं भवति एवञ्च सति प्राधान्ये संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः इत्यस्याप्राप्त्या 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इत्यनेन सर्वनामत्वं सिद्ध्यति। एतस्मात् कारणात् आरोपितत्वं नञ्द्योत्यमिति सिद्ध्यति। अन्यथा 'अतिसर्वः' इत्यादिषु यथा सर्वनामसंज्ञा न प्रवर्तते। तस्य उपसर्जनत्वात्। घटो नास्ति इत्यादौ अभावविषयकबोधे तस्य विशेष्यताया एव दर्शनात्। अभावार्थक नञ् अस्मद्रीत्या च स आर्थो बोधो मानसः। एतस्येदं तात्पर्यं यत् अब्राह्मणः इत्यादिषु चेत् नञा ब्राह्मणपदार्थः प्रतिषिध्येत तदा सर्वात्मना ब्राह्मणाभावात् उत्तर-

1. कारिका (40)

पदार्थस्य प्राधान्यं न स्यात् तस्मात् अब्राह्मणः इत्येतस्मिन् ब्राह्मणगतविशेषगुणस्य अवाच्यत्वात् अनर्थकमेव, एवञ्च अब्राह्मणशब्दोऽपि ब्राह्मणवाचक एव स्यात्। अथवा-

भेदप्रतियोगिब्राह्मणः इत्यर्थे स्वीक्रियमाणे ब्राह्मणस्य विशेष्यत्वम् इति चेन्न, अब्राह्मणमानय इत्यत्र आनयनक्रियायाम् ब्राह्मणस्यान्वयो प्रसज्येत् अब्राह्मणमानय इत्युक्तौ ब्राह्मणमात्रस्यानयनं प्राप्नोतीति नैष दोषः यथा-राजपुरुषमानय इत्युक्ते राजा विशेषकः प्रयुज्यते तेनैवं विशिष्टस्यानयनं भवति इहापि तर्हि नञ्विशेषकः प्रयुज्यते तस्मात् नञ्विशिष्टस्यानयनं भवति, कः पुनरसौ निवृत्तपदार्थकः निवृत्तः पदार्थो मुख्यं ब्राह्मण्यं यस्मिन् सः क्षत्रियादिः। तत्र सादृश्यादिना आरोपितब्राह्मण्यम् इत्यर्थः। तस्मात् स्पष्टं निःसरति यत् आरोपितत्वमेव नञ्द्योत्यम् आरोपितत्वन्नाम "तदभाव-वन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिततन्निष्ठप्रकारताकप्रतीतिविषयत्वम्"। लक्षणसमन्वयप्रकारस्तु-अब्राह्मणः इत्यत्र ब्राह्मणत्वाभाववत् क्षत्रियादिनिष्ठविशेष्यतानिरूपितब्राह्मणनिष्ठप्रकार-ताकप्रतीतिविषयीभूताब्राह्मणक्षत्रियादिरिति बोधो समुपजायते। एवञ्च 'घटो नास्ति' एतद्वाक्यस्य नैयायिकमते 'सत्तावान् घटाभावः' अथ च 'घटाभिन्नैकाश्रयवृत्तिवर्तमान-कालावच्छिन्नसत्ताभावः इति व्याकरणमते शाब्दबोधो भवति, तथा चात्र अभावस्यैव विशेष्यता सन्दृश्यते न तु आरोपितस्य, एतत् मनसि निधाय मूले कौण्डभट्टः वदति यत् स च आर्थो बोधो मानसः अर्थात् 'घटभिन्नः' इत्याकारकोऽभावविशेष्यकः बोधस्तु मानस एव, शाब्दस्तु आरोपितघटत्वाश्रयः इत्येव अतोऽत्र दोषावसरः नास्ति। तथा च नञ आरोपितार्थकत्वे आरोपितत्वम् आरोपविषयत्वम् आरोपमात्रमर्थो विषयत्वं संसर्ग इति निष्कर्षः। आरोपश्च-तदभावद्विशेष्यकं तत्प्रकारकं ज्ञानम्। अत्र विषयता समबन्धेन आरोपविशिष्टं यत् ब्राह्मणत्वं तद्वान् इति अब्राह्मण इत्यनेन बोधो जायते। एवञ्च शक्यतायाः अवच्छेदकम् आरोपत्वमिति आरोपितस्य शक्यत्वे तु आरोप-विषयत्वं शक्यतावच्छेदकमिति गौरवम्। उपर्युक्तविवरणे आरोपत्वस्य नञर्थे स्वीक्रिय-माणे सत्यपि 'घटो नास्ति' 'अब्राह्मणः' इत्यादौ आरोपबोधस्य सर्वानुभवविरुद्धत्वात् पक्षान्तरमपि प्रास्तौत् तद्धि-

"अभावो वा तदर्थोस्तु भाष्यस्यहि तदाशयात्।
विशेषणं विशेष्यो वा न्यायतस्त्ववधार्यताम्॥"[1]

तदर्थः=नञर्थः। अत्र कारिकायाम् अर्थपदं न केवलं वाच्यत्वं संकेतयति अपितु द्योत्यत्ववाच्यत्वपक्षयोः उभयोः प्रकटयति। नञ् सूत्रे भगवान् महाभाष्यकारो ब्रवीति यत् 'निवृत्तपदार्थकः' इति, अर्थात् निवृत्तं पदार्थो यस्य स निवृत्तपदार्थकः निवृत्तमित्यत्र नपुंसकेभावे क्तः इत्यनेन भावे क्त अस्ति। अनेन विग्रहेण नञर्थः

1. कारिका (41)

अभावः सिद्ध्यति, आरोपितार्थकत्वपरत्वेनोक्तभाष्यस्य कैयटोक्तं व्याख्यानं खण्डयति यन्तु-निवृत्तः पदार्थो यस्मिन् इत्यर्थः। सादृश्यादिनाऽध्यारोपितब्राह्मण्याः क्षत्रियादयोऽर्थाः यस्य इति कैयटः तन्न अध्यारोपितब्राह्मण्यस्य क्षत्रियादेः नञवाच्यत्वात्। चेत् यथा-कथञ्चित् वाच्यत्वस्य अङ्गीक्रियमाणे सादृश्यादेरपि वाच्यत्वापत्तेः सादृश्यादिस्तु-

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥

इति कारिकां पठित्वा अब्राह्मणः (ब्राह्मणसदृशः) अपापम् (पापाभावः) अनुदराकन्या (अल्पोदरा) इत्यादीनि उदाहरणानि पठन्ति। किन्तु उपर्युक्ताः अर्थाः नञ् वाच्याः न सन्ति, तत्र भेदप्रतियोगित्वप्रकारकब्राह्मणादिबोधानन्तरभाविमानबोधो वर्तते। ननु नञर्थभेदस्य प्रतियोगिभिन्ने स्वरूपसम्बन्धेन विशेषणत्वे 'अब्राह्मणः इत्यत्र समासस्यानापत्तिः सामर्थ्ये सत्त्वे समासः, प्रकृते तु प्रतियोगिनः ब्राह्मणेन सामर्थ्याभावात् समासो नोपपद्यते अतः 'विशेषणं विशेष्यो वा न्यायतस्त्ववधार्यताम्।' अर्थात् नञर्थो भेदः ब्राह्मणत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकसम्बन्धेन प्रतियोगिनि विशेषणम्। एतस्मात् कारणात् भेदप्रतियोगितायाः केवलान्वयितया 'अब्राह्मणः' इत्यत्र घटादेरपि भेदविशिष्टतया बोधानापत्तिरिति अपास्तम्। ब्राह्मणत्वावच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्धेन भेदस्य ब्राह्मणे एव सत्त्वात्। भेदस्य विशेषणत्वे भेदप्रतियोगी ब्राह्मणः इति निर्गलितो शाब्दबोधः, ब्राह्मणभिन्नः इति मानसबोधः आर्थिकः। तथा च अब्राह्मणः इत्यादौ उत्तरपदार्थप्राधान्यात् तत्पुरुषसमासः। 'अत्वं भवसि' अनहं भवामि इत्यादौ पुरुष-वचनादिव्यवस्था चोपपद्यते। अन्यथा त्वदभावो मदभाव इतिवदभावांशे युष्मदस्मदो-रन्वयेन युष्मत्सामानाधिकरण्यस्य तिङ्क्षसत्त्वात् पुरुषव्यवस्था न स्यात्। अर्थात् नञर्थाभावस्य युष्मदस्मदर्थरूपप्रतियोगिनि विशेषणत्वाभावे, अभावस्य विशेष्यत्वे इति यावत् युष्मद्युपपदे इति सूत्रद्वयाविषयतया शेषे प्रथमः इत्यस्य प्रवृत्त्या प्रथम-पुरुषस्यैव आपत्तेरित्यर्थः अस्मन्मते च भेदप्रतियोगित्वदभिन्नाश्रयिका भवनक्रियेसन्वयात् सामानाधिकरण्यं नानुपपन्नमिति भावः। पुनरत्र प्रश्नः जागर्त्ति यत् 'असः' इत्यस्य तद्भिन्न इत्यर्थे तच्छब्दार्थस्योपसर्जनतया 'त्यदादिनामः[1] इत्यादिशास्त्राणाम् अप्रवृत्त्या असिद्धिरिति चेन्न गौणेत्वेऽपि नञ्समासे 'एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि[2]' इति ज्ञापक सर्वनामसंज्ञा नानुपपन्ना। अर्थात् असः शिवः इत्यत्र सुलोपवारणाय 'अनञ्समासे' इति विशेषणम् एतत्तदोः इत्यनेन परस्परसाहचर्य्यात् सर्वनामैतत्तद्भ्यां परस्य सोर्हलि लोपो विधीयते। नञ्तत्पुरुषान्तर्गतैतत्तदोरुपसर्जनतया सर्वनामत्वाभावात् एवानतिप्रसङ्गे व्यर्थं सत् अनञ्समासग्रहणं नञ्समासे गुणीभूतार्थस्यापि सर्वादेः

---

1. पा.सू. 7.2.1.2
2. पा.सू. 6.1.132 सन्दर्भः-वैया.भू.सा.

सर्वनामताज्ञापनेन चरितार्थम् इति। तथा च साहचर्य्यज्ञापकत्वस्यासार्वत्रिकत्वं सूचयन् सूत्रे सर्वनाम्नोरेव ग्रहणे मानान्तरमाह 'अकोः' इति अकच्सहितव्यावृत्त्या सर्वनाम्नोरेव तत्र ग्रहणलाभात्। तथा च 'अनञ्समासे' इति ज्ञापकं सुवचनम्।

एतत् सर्वं विवरणेन निःसरति यत् नञ्समाससूत्रे निवृत्तपदार्थकः इति भाष्यप्रामाण्यात् नञर्थः अभाव एव। तथा कैयटादेः मतम् (आरोपितत्वं नञर्थः) अयुक्तमेव।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

पुस्तकालय का सामान्य परिचय एवं प्रकार

रामरूप,

पुस्तकालयाध्यक्ष
गंगानाथ झा परिसर इलाहाबाद

पुस्तकालय का सामान्य परिचय एवं प्रकार

किसी को कितनी उत्तम शिक्षा मिली है, इसका पता इससे नहीं लगाया जा सकता कि उसके पास किसी विश्वविद्यालय की उपाधि है या नहीं, अपितु इस बात से लगाया जा सकता है कि उसे पुस्तकालय का उपयोग करना आता है या नहीं। -सर साइरिल नारवुड[1]

भूमिका-

समाज के सर्वोन्मुखी विकास में पुस्तकालयों का महत्वपूर्ण योगदान है। गेराल्ड जानसन ने अपनी पुस्तक 'पब्लिक लाइब्रेरी सर्विसेज' में लिखा है, 'विश्व के सर्वोत्तम विचारों को जानने का सबसे तेज और सबसे सरल माध्यम सार्वजनिक पुस्तकालय है। 'पुस्तकालय विश्व के महानतम विचारों का सागर हैं, इसमें दो राय नहीं कि विश्व के महानतम विचार पुस्तकों में ही संकलित होते हैं। इसीलिए पुस्तक को ईश्वर की महानतम कृति, अर्थात् मनुष्य की महानतम कृति कहा गया है। पुस्तकालय ही एक ऐसा स्थान है जहाँ गहन ज्ञान से परिपूर्ण पुस्तकें व्यवस्थित रूप से पाठकों के उपयोग के लिए रखी जाती है। इस प्रकार मनुष्य के व्यक्तित्व के विस्तार में निम्नांकित दो बिंदुओं के अंतर्गत की जा सकती है-

1. पुस्तकालय : शिक्षा एवं सूचना संचार का माध्यम।
2. पुस्तकालय : एक सामाजिक तथा सांस्कृतिक संस्थान।

पुस्तकालय : शिक्षा एवं सूचना का माध्यम-

पुस्तकालय शिक्षा के प्रसार तथा सूचना के संचार का प्रभावशाली माध्यम

1. Sir Cyril Narwards statement -"it is better proof of education to know how to use a library then to pocsess a university."

है। शिक्षा एक अनवरत प्रक्रिया है। जीवन के प्रारंभ से जीवन के अन्त तक मनुष्य शिक्षा की प्रक्रिया से गुजरता रहता है। इस क्रम में मनुष्य दो प्रकार की शिक्षा ग्रहण करता है, औपचारिक तथा अनौपचारिक। पुस्तकालय इन दोनों प्रकार की शिक्षाओं में प्रमुख भूमिका निभाता है। यही कारण है कि पुस्तकालय को लोक विश्वविद्यालय भी कहा जाता है। औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा के क्षेत्र में पुस्तकालयों की भूमिका की चर्चा नीचे दी गई है।

औपचारिक शिक्षा और पुस्तकालय-

औपचारिक शिक्षा के दौरान मनुष्य किसी विशेष पाठ्यक्रम के आधार पर किसी विशेष स्तर की शिक्षा प्राप्त करता हैं। यह शिक्षा शिक्षण संस्थानों जैसे- विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों तथा शोध-संस्थानों के माध्यम से मिलती हैं। छात्र संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि, नये शैक्षिक संस्थानों की स्थापना, नये पाठ्यक्रमों का प्रादुर्भाव, शिक्षा का असीमित विस्तार, शिक्षण-पद्धति में नए प्रयोग, ज्ञान का विस्फोट, पुस्तकों की बढ़ती संख्या, ज्ञान का पुस्तकेत्तर रूप में आगमन आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिनके कारण औपचारिक शिक्षा के क्षेत्र में पुस्तकालयों का महत्त्व और भी बढ़ गया है।

अनौपचारिक शिक्षा और पुस्तकालय-

औपचारिक शिक्षा के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की शिक्षा अनौपचारिक शिक्षा है। मनुष्य केवल विद्यालयों आदि में ही शिक्षा नहीं ग्रहण करता। दूसरी ओर विद्यालय, महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय की शिक्षा समाप्त करने के बाद शिक्षा की प्रक्रिया समाप्त नहीं हो जाती। शिक्षा उसके पहले और उसके बाद भी चलती रहती है तथा मनुष्य उसे हासिल करने का प्रयास अजीवन करता रहता है। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो किसी कारणवश औपचारिक शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। छोटे-बड़े, बालक-वृद्ध, छात्र-विद्वान्, व्यापारी, व्यवसायी, नौकरी-पेशा आदि हर प्रकार के व्यक्ति पुस्तकालयों के माध्यम से अनौपचारिक शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं और कह रहे हैं। औपचारिक शिक्षा ज्ञान का एक तालाब है जिसकी सीमा होती है, परन्तु अनौपचारिक शिक्षा, ज्ञान का असीम सागर है।

1. अथ ग्रन्थालयो दिव्यो यथा देवालयो महान्।[1]
नित्यं प्रपूजका यस्य सन्ति पाठकसेवकाः॥

ग्रन्थालय देवमन्दिर के समान पावन एवं महिमा-मण्डित होता है। पाठक तथा पुस्तकालय के कर्मचारी भक्तिभाव से इसकी अर्चना करते हैं।।1।।

1. पुस्तकालय परिचर्चा प्रसूनम् से उद्धृत कुछ अंश।

2. सुसज्जः स्वच्छ एवायं पाठकेभ्यः प्रशस्यते।
मूर्तब्रह्ममयैर्ग्रन्थैरत्र ज्ञानार्चनं यतः।।2।।

पुस्तकालय-भवन में साक्षात् ब्रह्मरूप ग्रन्थों के माध्यम से ज्ञान की प्राप्ति रूप साधना की जाती है, अतः अध्ययन मनन का सुन्दर वातावरण बनाने के लिए पुस्तकालय को कलात्मक सज्जा से युक्त तथा स्वच्छ रखना आवश्यक है।।2।।

3. सद्यो ध्वान्तविनाशाय स्वान्तःकरणपुष्टये।
पुस्तकालयसम्बद्धां परिचर्चा ब्रवीम्यहम्।।3।।

अज्ञानरूपी अन्धकार का तत्क्षण विनाश करने तथा उदात्त विचारों द्वारा मन को शक्ति सम्पन्न बनाने के उद्देश्य से मैं पुस्तकालय से सम्बद्ध परिचर्चा का वर्णन करता हूँ। आशय यह है कि इस ग्रन्थ में पुस्तकालय से सम्बन्ध रखने वाले सभी विषयों पर विचार किया गया है।।3।।

4. कार्ये सारल्यमाधातुं लब्धुं जिज्ञासितं द्रुतम्।
ग्रन्थं ज्ञातुं च शीघ्रं हि ग्रन्थविज्ञानमिष्यते।।4।।

ग्रन्थ विज्ञान का उद्देश्य है, कार्य शैली में सरलता लाना, अभीष्ट सन्दर्भ को शीघ्र ढूँढ लेना और अपेक्षित ग्रन्थ को सुगमता से प्राप्त करना।

5. प्राध्यापकाश्च छात्राश्च तथान्ये पाठका अपि।
लभन्तां तोषमत्रेति स्वादयं सुव्यवस्थितः।।9।।

पुस्तकालय का व्यवस्थित होना अत्यन्त आवश्यक है, जिससे छात्र, प्राध्यापक तथा अन्य पाठक वर्ग अभीष्ट सिद्ध हो और उन्हें सन्तोष प्राप्त हो सके।

पुस्तकालयों के प्रकार

भूमिका-

यूनाइटेड किंगडम की, 'यूनिवर्सिटी ग्रांट्स कमेटी' द्वारा संगठित की गई पुस्तकालय समिति ने अपनी रिपोर्ट में छः प्रकार के पुस्तकालयों की चर्चा की जो इस प्रकार है-

1. राष्ट्रीय पुस्तकालय
2. विशिष्ट पुस्तकालय
3. सार्वजनिक पुस्तकालय

4. विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त अन्य उच्च शिक्षा संस्थानों के पुस्तकालय
5. धार्मिक प्रतिष्ठानों के पुस्तकालय
6. विश्वविद्यालय पुस्तकालय।
7. डीजिटल या ऑनलाईन पुस्तकालय[1]

पुस्तकालयों के सभी प्रकार प्रायः हमें देश में मिल जाएँगें। प्रारंभिक छः प्रकारों में से चौथे तथा छठें का अध्ययन एक शीर्षक-'शैक्षिक पुस्तकालय' के अंतर्गत रखकर किया जा सकता है। इसी प्रकार धार्मिक प्रतिष्ठानों के पुस्तकालयों को भी विशिष्ट पुस्तकालय के अंतर्गत रखा जा सकता है। इस प्रकार, अध्ययन के उद्देश्य से पुस्तकालयों को चार भागों में निर्धारित किया जा सकता है, जो निम्नलिखित हैं-

1. राष्ट्रीय पुस्तकालय
2. शैक्षिक पुस्तकालय
3. सार्वजनिक पुस्तकालय
4. विशिष्ट पुस्तकालय

1. राष्ट्रीय पुस्तकालय-

परिभाषा

राष्ट्रीय पुस्तकालय को देश का सर्वोच्च पुस्तकालय माना जा सकता है। यह एक ऐसा पुस्तकालय है जहाँ राष्ट्र साहित्यिक-सम्पादन को कानून की सम्पत्ति से इक्ट्ठा कर उन्हें सुरक्षित रखा जाता है। इतना ही नहीं जैसा कि डॉ. एस.आर. रंगनाथन ने अपनी पुस्तक 'लाइब्रेरी डेवलपमेंट प्लान' में लिखा है, यह एक ऐसा केन्द्रीय स्थल है, जहाँ विचार रूपी ऊर्जा को एकत्रित कर उसका प्रसारण किया जाता।

इस प्रकार राष्ट्रीय पुस्तकालय न केवल एक 'डिपाजिटरी पुस्तकालय' है, बल्कि देश के अन्य पुस्तकालयों को नेतृत्व भी प्रदान करता है। राष्ट्रीय पुस्तकालय की एक सम्पूर्ण परिभाषा, यूनेस्को के 1970 में हुए सामान्य अधिवेशन में स्वीकार की गई।

---

1. वर्तमान में सर्वथा प्रचलित

भारत का राष्ट्रीय पुस्तकालय

भारत का राष्ट्रीय पुस्तकालय कलकत्ता में स्थित हैं इस पुस्तकालय का लंबा इतिहास है और इसका नाम कई बार बदला गया। इसका इतिहास, कलकत्ता पब्लिक लाइब्रेरी से प्रारंभ होता है, जो सन् 1935 में खोली गई थी। सन् 1891 में लार्ड कर्जन ने, कई सचिवालय पुस्तकालयों को मिलाकर इंपीरियल लाइब्रेरी की स्थापना की। बाद में सन् 1902 में इंपीरियल लाइब्रेरी एक्ट लागू कर कलकत्ता पब्लिक लाइब्रेरी को भी इंपीरियल लाइब्रेरी के साथ मिला दिया गया। 30 जनवरी 1903 को इंपीरियल लाइब्रेरी को जन-प्रयोग के लिए खोल दिया गया और भारत के गजट में यह सूचना जारी की गई, इससे यह स्पष्ट है कि अंग्रेजों द्वारा सन् 1903 में ही इंपीरियल लाइब्रेरी को भारत के राष्ट्रीय पुस्तकालय का दर्जा दे दिया गया। आजादी के बाद, भारत सरकार ने इंपीरियल लाइब्रेरी एक्ट को 1948 को लागू कर इस पुस्तकालय का नाम राष्ट्रीय पुस्तकालय रखा। पुनः भारत सरकार ने सन् 1954 में 'डिलीवर ऑफ बुक एक्ट' लागू किया, जिसके अनुसार प्रत्येक प्रकाशक के लिए उसकी हर पुस्तक की एक प्रति 'राष्ट्रीय पुस्तकालय' को तथा एक-एक प्रति अन्य दो पुस्तकालयों को भेजने का विधान बनाया गया। इन पुस्तकालयों अर्थात् 'नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता', 'कोनेमारा पब्लिक लाइब्रेरी मद्रास' तथा 'एशियाटिक सोसाइटी लाइब्रेरी', बंबई को डिपाजिटरी लाइब्रेरी का दर्जा दिया गया। इसके साथ ही दिल्ली में एक चतुर्थ डिपाजिट पुस्तकालय खोलने की योजना बनाई गई, जिसका नाम सेंट्रल रेफरेन्स लाइब्रेरी केन्द्रीय सन्दर्भ पुस्तकालय परिकल्पित किया गया। कुछ कारणवश यह पुस्तकालय भी कलकत्ता में ही खोला गया, परंतु इसे डिपाजिटरी लाइब्रेरी नहीं माना गया। सन् 1982 में दिल्ली के 'दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी' को चतुर्थ डिपाजिरी पुस्तकालय का दर्जा दिया गया। भारत का 'राष्ट्रीय पुस्तकालय' कलकत्ता के बेलवेडर इलाके के एक विशाल भवन में स्थित है। यह भवन पहले वायसराय का शीतकालीन निवास था। इस पुस्तकालय में बीस लाख से अधिक पुस्तकें हैं। ये पुस्तकें जिन रैकों और आलमारियों में रखी गई हैं, उन्हें अगर एक कतार में लगाया जाए तो वे कई किलोमीटर की लंबाई तक फैल जाएँगी। यह पुस्तकालय राष्ट्रीय पुस्तकालय के साथ-साथ एक सार्वजानिक पुस्तकालय के रूप में भी कार्य कर रहा है। इसमें एक बाल पुस्तकालय भी है। इस पुस्तकालय में रिप्रोग्राफी तथा लैमिनेशन की आधुनिक मशीनें हैं तथा इसमें पुस्तकों के संरक्षण (प्रिजर्वेशन) संबंधी उपकरण भी है।

दुर्भाग्यवश राष्ट्रीय पुस्तकालय में 'डिलीवरी ऑफ बुक एक्ट' के अन्तर्गत पर्याप्त मात्रा में पुस्तके नहीं आती, जिसके लिए प्रकाशक जिम्मेदार है। राष्ट्रीय

पुस्तकालय का काम राष्ट्रीय ग्रंथ-सूची बनाना भी है। परन्तु यह कार्य केन्द्रीय सन्दर्भ पुस्तकालय कर रहा है। इन ग्रन्थों की सूची भी समय पर नहीं निकल पाती। राष्ट्रीय पुस्तकालय एक सार्वजनिक पुस्तकालय के रूप में भी कार्य कर रहा है, जो राष्ट्रीय पुस्तकालय का कार्य नहीं है। हमारे देश में राष्ट्रीय स्तर पर पुस्तकालय प्रणाली नहीं होने के कारण राष्ट्रीय पुस्तकालय देश के अन्य पुस्तकालयों से कट सा गया है। सरकार को इन बातों पर ध्यान देना चाहिए। वस्तुतः भारत सरकार ने 'झा-कमेटी' की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए नेशनल लाइब्रेरी एक्ट के माध्यम से राष्ट्रीय पुस्तकालय बोर्ड के गठन की सहमति दी थी। राष्ट्रीय पुस्तकालय के अतिरिक्त हमारे देश के विभिन्न विषयों पर आधारित राष्ट्रीय पुस्तकालय कार्य कर रहें हैं। जैसे नेशनल साइंस लाइब्रेरी, नेशनल मेडिकल लाइब्रेरी, नेशनल एग्रिकल्चरल लाइब्रेरी आदि।

2. शैक्षिक पुस्तकालय-

परिभाषा और स्वरूप

किसी शिक्षा संस्थान से संलग्न पुस्तकालय को शैक्षिक पुस्तकालय कहा जा सकता है। शिक्षा संस्थान शिक्षा और शोध के ऐसे संस्थान है जो किसी निर्धारित पाठ्यक्रम के आधार पर किसी निश्चित स्तर, उपाधि या प्रमाण-पत्र की प्राप्ति के लिए छात्रों को औपचारिक शिक्षा प्रदान करते हैं। विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय और इंजीनियरिंग, चिकित्सा आदि की शिक्षा से संबंधित संस्थान, ऐसे ही संस्थान हैं। अपने संस्थान की शैक्षणिक आवश्यकताओं में सहयोग देने के लिए, हर शिक्षण संस्थान में पुस्तकालय खोले जाते हैं। इस प्रकार अपनी संस्था के अनुपम आकार, प्रकार, संग्रह तथा सेवाएँ प्रदान करने आदि में शैक्षिक पुस्तकालय एक-दूसरे से भिन्न हो सकते हैं। परंतु साथ-ही-साथ हर शैक्षणिक पुस्तकालय में कुछ सामान्य तत्त्व भी होते हैं। वह तत्त्व यह है कि प्रत्येक शैक्षिक पुस्तकालय अपने संस्थान की शिक्षा तथा शोध की आवश्यकताओं को पूरा करने में सहयोग देता है। अतः इन पुस्तकालयों में एक उत्तम संदर्भ संग्रह के अतिरिक्त संस्थान में पढ़ाए जाने वाले विषयों से संबंधित पुस्तकों का भी एक सुदृढ़ संग्रह होता है।

उद्देश्य तथा कार्य

शैक्षिक पुस्तकालयों की स्थापना, संबंधित शिक्षण संस्थान की शिक्षा संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए की जाती हैं अतः शैक्षणिक पुस्तकालयों

के कार्य तथा उद्देश्य के पहले शिक्षा, विशेषत: उच्च शिक्षा के स्थानों पर चर्चा हुई है। ऑल इंडिया फेडरेशन ऑफ यूनिवर्सिटी एंड कॉलेज टीचर्स आर्गेनाइजेसन्स, विल्सन और टाउबर, कर्न एलेक्जेंडर आदि ने शिक्षा के उद्देश्यों के बारे में विस्तृत रूप से लिखा है। इनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य हैं।

1. शिक्षण
2. शोध
3. प्रकाशन
4. शिक्षा-विस्तार
5. ज्ञान का परिरक्षण
6. ज्ञान की व्याख्या

आज का शैक्षिक पुस्तकालय विश्वविद्यालय, महाविद्यालय पुस्तकालय आदि अपने संस्थानों में उपरोल्लिखित सभी कार्यों में जुड़ा हुआ है। पुस्तकालय में स्वयं अध्ययन कर छात्रों में आत्मनिर्भरता का भाव पैदा होता है। किसी शैक्षिक पुस्तकालय को, निम्नलिखित पाँच कार्यों को पूरा करना आवश्यक है-

1. निम्नलिखित उपाय कर पुस्तकालय का उपयोग बढ़ाना।
2. नए छात्रों तथा शिक्षकों की दीक्षा, पाठक-शिक्षण कार्यक्रम।
3. निम्नलिखित रीति से पाठकों की विशेष सेवा करना।
4. संदर्भ सेवा, प्रलेख सेवा, करेंट अवेयरनेस सेवा, सेलेक्टिव डेसिमिनेशन ऑफ इनफार्मेशन आदि।
5. नई तकनिकों यथा कम्प्यूटर को अपनाकर कम से कम समय में पाठकों की आवश्यकता पूरी करना।

3. सार्वजनिक पुस्तकालय-

परिभाषा और प्रयोजन

यह समाज के अनेक सदस्य के लिए समान और नि:शुल्क उपयोग के लिए खुला हो।

डॉ. रंगनाथन ने भी सार्वजनिक पुस्तकालय की परिभाषा देते हुए लिखा है कि सार्वजनिक पुस्तकालय समुदाय द्वारा समुदाय के लिए चलाया जाने वाला

एक ऐसा संस्थान है जो समुदाय के प्रत्येक सदस्य को आजीवन स्वयं अध्ययन करने का आसान अवसर प्रदान करता है।

सार्वजनिक पुस्तकालय, एक ऐसा सरकारी या गैर सरकारी पुस्तकालय है, जो समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए सामान्यतया यथासंभव निःशुल्क उपयोग के लिए खुला हो और यदि आवश्यक हो तो कुछ विशेष सेवाओं के लिए मामूली शुल्क लें।

केन्योन समिति (यू.के.) की रिपोर्ट - "पुस्तकालयों में लोगों की रूचि बढ़ी है।" आज सार्वजनिक पुस्तकालय को स्वस्थ मनोरंजक साहित्य उपलब्ध कराने का ही साधन नहीं माना जाना चाहिए, बल्कि इसे अब राष्ट्रीय कल्याण की महान संभावनाओं के प्रेरक बल तथा शिक्षा और संस्कृति की प्रगति के मूल आधार के रूप में स्वीकार किया गया है।

यूनेस्को (मैनिफेस्टो फार पब्लिक लाइब्रेरीज) "सार्वजनिक पुस्तकालय एक ऐसा असरदार माध्यम है जिसके द्वारा अभिलेखित विचार लोगों को मुख्य रूप में उपलब्ध कराए जाते हैं। यह एक ऐसी संस्था है जो उसे आह्लादकर और सरल पुस्तकें देकर मुनष्य की आत्मा को तरोताजा कर देती है और साथ ही पाठकों को नवीनतम तकनीकी, वैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय सूचनाएँ भी उपलब्ध कराती है।"

4. विशिष्ट पुस्तकालय-

परिचय

पुस्तकालयों के चार प्रमुख प्रकार स्वीकार किए गए हैं-राष्ट्रीय पुस्तकालय, सार्वजनिक पुस्तकालय, शैक्षिक पुस्तकालय और विशिष्ट पुस्तकालय। विशिष्ट पुस्तकालय प्रथम दो प्रकार के पुस्तकालयों से बिल्कुल भिन्न हैं। परंतु विशिष्ट पुस्तकालय तथा शैक्षिक पुस्तकालय के बीच विभाजन-रेखा खींचना एक कठिन कार्य है। इसका कारण यह है कि कोई शैक्षिक संस्थान एक विशिष्ट संस्थान को विशिष्ट संस्थान भी इंजीनियरी और चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा देने वाले संस्थान को विशिष्ट संस्थान भी माना जा सकता हैं। इसी प्रकार विशिष्ट पुस्तकालय का पुस्तक संग्रह किसी ऐसे विशेष विषय के ऊपर भी हो सकता है जो उस समय की शिक्षा से संबंधित हो। इसलिए शैक्षिक पुस्तकालय तथा विशिष्ट पुस्तकालय के बीच अंतर स्पष्ट करने के लिए विशिष्ट पुस्तकालयों को परिभषित करना आवश्यक हैं।

परिभाषा

पुस्तक संग्रह तथा पाठक, ये दो ऐसे तत्त्व हैं जो पुस्तकालयों की प्रकृति और परिभाषा को निर्धारित करते हैं विशिष्ट पुस्तकालय की परिभाषा भी इन्हीं दो तत्त्वों में से एक पर आधारित हो सकती है। कई पुस्तकालय वैज्ञानिक पुस्तक संग्रह के आधार पर विशिष्ट पुस्तकालय की ऐसी ही परिभाषा देते हुए लिखा है कि विशिष्ट पुस्तकालय एक ऐसा पुस्तकालय है जिसमें किसी विशेष या विषयों पर साहित्य संकल्पित किया जाता है। इसीलिए राइट ने शैक्षिक पुस्तकालयों को भी विशिष्ट पुस्तकालय माना जाता है, क्योंकि इनकी रूचि भी किसी विशेष विषय या विषयों में होती है। यह परिभाषा ठीक लगती है, परन्तु ध्यान से देखें तो इस परिभाषा में अतिव्याप्ति का दोष है। इस परिभाषा के अनुसार बहुत सारे शैक्षिक पुस्तकालयों के साथ कई सार्वजनिक पुस्तकालय भी विशिष्ट पुस्तकालय की श्रेणी में आ जाएँगें। जैसे इंजीनियरी कॉलेज का पुस्तकालय, खुदाबक्श खाँ ओरिएंटल पुस्तकालय, अय्यर सार्वजनिक पुस्तकालय आदि को भी विशिष्ट पुस्तकालय मानना पड़ेगा।

निष्कर्ष-

सार्वजनिक पुस्तकालय एक साहित्य-स्थान, सांस्कृतिक केन्द्र, शैक्षिक संस्थान, सामाजिक ऊर्जा-स्त्रोत, सूचना ब्यूरों और स्वस्थ मनोरंजन स्थल है। यहाँ लोगों का बौद्धिक स्तर ऊँचा उठाया जाता है, तथा पठन-पाठन सामग्री की उपयोगिता बहुगुणित की जाती है। यहाँ रखी एक पुस्तक का उपयोग अनेक लोग करते हैं। इसीलिए स्टेनली जेवोन्स ने लिखा है-"There is probably no mode of expending public money which gives more extra-ordinary and immediate return in utility and innocent enjoyment." पुलिस स्टेशनों तथा कचहरियों को खोलने की अपेक्षा सार्वजनिक पुस्तकालय खोलना कम खर्चीला है। यह सत्य है कि पुस्तकालयों के खोलने के बाद भी पुलिस स्टेशनों तथा कचहरियों की जरूरत बनी रहेगी। परंतु यह भी सत्य है कि अधिक संख्या में पुस्तकालय खोलने के बाद इन संस्थानों की कम संख्या में जरूरत पड़ेगी।

सन्दर्भ सूची

1. विशिष्ट पुस्तकालय एवं अनुसंधान, शर्मा एस. के., प्रथम संस्करण 1994, कादम्बरी प्रकाशन, दिल्ली
2. पुस्तकालय और समाज, पाण्डेय एस. के. शर्मा, 1995 प्रथम संस्करण ग्रन्थ अकादमी नई दिल्ली/पेज न. 7 से 14 तथा 57, 58, 59, 61, 62, 64, 65

4. पुस्तकालय परिचर्या प्रसूनम्, शास्त्री रामनयन तिवारी प्रथम संस्करण 1999, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली पेज न. 17 से 21

5. सर साइरिल नारवुड का कथन् राबर्ट द्वारा 'टेस्ट क्वेश्चंस फॉर स्कूल लाइब्रेरीज' (लंदन, 1958) में उद्धृत।

6. यूनिवर्सिटी ग्रांट कमेटी यू.के. कमेटी ऑन लाइब्रेरीज, चेयरमैन, थोमस पैरी (लंदन, हर मेजेस्टिस स्टेशनरी ऑफिस, 1967), रिपोर्ट। पू.11

7. हुचिंग, एफ.जी.बी. लाइब्रेरियनशिप-(कुआलालमपुर, ऑक्सार्फोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1959) पृ.5

8. केंट, एलेन तथा लैंकर, हैरोल्ड, संपा., इंसाइक्लोपीडिया ऑफ लाइब्रेरी एंड इन्फार्मेशन साइंस (न्यूयार्क, मार्सल डेकर, 1972) खंड 19, पृ. 94, 91

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

उपनिषत्सु मोक्षस्य अवधारणा

अखिलेशकुमारपटेलः

शोधच्छात्रः, राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानं,
गंगानाथझा परिसरः इलाहाबादः

मोक्षस्य शाब्दिकोर्थः मुक्तिरस्ति अर्थात् आवागमनरूपिसांसारिकतायाः मुक्तिरेव मोक्षः। मोक्षस्तु आत्मनः ब्रह्मणो वा स्वरूपस्यानुभूतिः वर्तते। आत्मा नित्यशुद्धचैतन्या-खण्डानन्द स्वरूपोऽस्ति, आत्मा ज्ञानरूपः वर्तते, मोक्षः आत्मनः स्वरूपज्ञानं विद्यते। आत्मज्ञानमेवास्य ज्ञानस्यैकमात्रकारणमस्ति। आत्मतत्त्वस्य साक्षात्कारं कृत्वा सशरीरं जीवः कृतकृत्ये भूत्वा शोकमोहात् विरहितः सानन्दो भवति-

"तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।"[1]

ये इमं जानन्ति ते अमराः भवन्ति तथा अस्यानुभवं कृत्वा जीवः परमशान्ति-माप्नोति-

"निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति"।[2]

इत्थम् आत्मनः स्वरूपं ज्ञात्वा जीवः मृत्युबन्धनं दाति। वस्तुतः जीवः ब्रह्म न भवति ब्रह्मज्ञाने काऽपि क्रिया नास्ति यतः जीवः सदैव ब्रह्मैवास्ति। बन्धन-मोक्षौ द्वौ अविद्याजन्यौ स्तः। यदा बन्धनमेव वास्तविकं नास्ति तदा मोक्षस्य वास्तविकतायाः प्रश्नो नैवास्ति। जीवस्य जीवत्वम् अविद्याकारणेन वर्तते। अविद्याकारणेन जीवः देहेन्द्रियान्तःकरणादेः तादात्म्यं स्थापयति अपि च अहंकार-ममकारयुक्तः स्वं शुभाशुभकर्माणां कर्ता मत्वा जन्म-मरणं चक्रे संसरति इदमेव तस्य बन्धनम्। यदात्मज्ञानेन अविद्यानिवृत्तिः भवति तदा जीवः नित्य-शुद्ध-बुद्धमुक्तब्रह्मभावं प्राप्नोति इदमेव बन्धनाद् मुक्तिः।

मुण्डकोपनिषदि कथितमस्ति यत् आत्मा नेत्राभ्याम् नैव गृह्यते न वाण्या नान्यैः इन्द्रियैः न तपसा न कर्मणा अपितु निरवयवं परमात्मानं विशुद्धान्तः करण-पूतसाधकः तं विशुद्धान्तःकरणैः सततं ध्यात्वा एव ज्ञानस्य निर्मलतां पश्यति।

---

1. ईशावास्योपनिषद् - 7
2. कठोपनिषद् - 1.1.17

"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञान-प्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥"[1]

शंकराचार्येणापि भणितम् यत् ब्रह्मभावः वा

"ब्रह्मगतिरेव मोक्षः।" वा

"ब्रह्मभावश्च मोक्षः।"[2]

अयं मोक्षः नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपवानस्ति

"नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपवान् मोक्षः।"[3]

यथा महात्माबुद्धानुसारेण अद्वैतपरमतत्त्वं निर्वाणञ्च एकैवास्ति तथैव शङ्कराचार्य-मतौ ब्रह्म-मोक्षश्च एकैव विद्यते।

यः ब्रह्मविद् सः ब्रह्मैव भवति-

"ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।"[4]

इदं श्रुतिमवाक्यानुसारेण ब्रह्मभावः ब्रह्मज्ञानं चैकमस्ति। मुण्डकोपनिषदि उक्तमस्ति यत् कार्य-कारणरूप सर्वात्मकब्रह्मणः आत्मना दर्शनात्परं जीवन्मुक्तस्य अहंकाररूपग्रन्थिः भिद्यते दृष्टादृष्टार्थानां विषये सर्वथा संशयहीनः स भवति। प्रारब्धादतिरिक्तं सर्वाणि कर्माणि क्षीणतामाप्नुवन्ति-

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥"[5]

ब्रह्मात्मैक्यास्य त्रिकालसिद्धेः नित्यस्य च कारणात् जीवस्य बन्धनं नैव भवति केवला अविद्या यात्यायाति च, अविद्या एव भ्रान्तिः अत एव तस्याः आवागमनं प्रवृत्ति-निवृत्तिरपि भ्रान्तिरूपास्ति। बन्धमोक्षौ व्यावहारिकौ स्तः, परमार्थतः मिथ्या वर्तते, यद्यपि भ्रमावस्थात् भ्रमनिवारकावास्थायां आगमने कालान्तरं विद्यते।

यतः भ्रमस्य पूर्वकालिकी अवस्था तथा भ्रमनिवृत्तेः अवस्था उत्तरकालिकी भवति तथापि भ्रमपदार्थस्य त्रिकालेषु असद् भावात् भ्रमः तस्य निवृत्तेः कालसापेक्षं

---

1. मुण्डकोपनिषद् - 3.1.8
2. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् - 1.1.4
3. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्यम्
4. मुण्डकोपनिषद् - 3.2.9
5. मुण्डकोपनिषद् - 2.2.8

नैव मन्यते। भ्रमः तस्यानिवृत्तिः च अन्ततः मिथ्या विद्यते, अधिष्ठानस्य ज्ञानं भ्रमनिवृत्तिः साकमेव भवति द्वौ एकैव वर्तते। ब्रह्मसाक्षात्कारः अविद्यानिवृत्तिः प्रपञ्चविलयः मोक्षप्राप्तिश्च सर्वमेकमेव। अविद्यानिवृत्तौ ब्रह्मभावे मोक्ष वा कार्यान्तरणं नास्ति श्रुतयो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति।[1]

आचार्यशंकरः मोक्षविषये कथयति यत् मोक्षः उत्पाद्यः नैव भवितुं शक्नोति यतः यः प्रादुर्भवति सः अनिवार्यतः नष्टोऽपि भवति यथा-उपासनादि कर्मफलस्वर्गादिः। अस्येतर मोक्षस्तु आत्मानं स्वभावेन प्राप्नोति। वस्तुतः तत्तु विज्ञानमयः आनन्दस्वरूप-श्चास्ति-

"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"[2]

गुरुणा तत्त्वमसि[3]

अस्माद् उपदेशवाक्यस्मरणमात्रेण यदा अज्ञानावरणं समाप्तं भवति तदा **"अहं ब्रह्मास्मि"**[4] इत्यस्यानुभूतिः जायते, अयमेव मोक्षः यः प्राप्यः नास्ति अपितु आत्मनः स्वाभाविकः धर्मः अहं **"ब्रह्मास्मि" इत्यस्य अनुभूतिरेव अशरीस्त्वमस्ति अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।**[5]

अज्ञाननिवृत्तिपरकास्य मोक्षस्य सिद्धिः गौतमप्रणीतं दुखजन्मादिसूत्राणि भवति-

दुःख जन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम्
उत्तरोत्तरापाये तदनंतरापायद् अपवर्गः।।[6]

उपनिषदि स्पष्टोल्लेखः प्राप्यते यत् शरीररहितं आत्मानं सुखदुःखादयः स्पर्शमपि न कुर्वन्ति। अनेनेदं सुस्पष्टमस्ति यत् सशरीरत्वं मिथ्याज्ञानं भवति तथा सम्यक् ज्ञानेन जीवितावस्थायामेव आत्मविद् अशरीरत्वं प्राप्नोति।

एतावदवस्थायां जीवात्मा परमात्मनः एकत्वानुभवात् ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयश्च त्रिपुटि-रहितं परमानन्दस्वरूप शुद्धचैतन्यावस्थायाः समाधिं प्राप्नोति-

"जीवात्मपरमात्मैक्यावस्थः त्रिपुरीरहिता
परमानन्दस्वरूपा शुद्धचैतन्यात्मिका समाधिः।"[7]

---

1. शांकरभाष्यम् - 1.1.4
2. वृहदारण्यकोपनिषद् - 3.9.28
3. छान्दोग्योपनिषद् - 6.8.7
4. वृहदारण्यकोपनिषद् - 1.4.10
5. कठोपनिषद् - 1.2.22
6. न्यायसूत्रम् - 1.1.2
7. शाण्डिल्योपनिषद् - 1.8.11

इयमेव ब्रह्म-मोक्ष-निर्बीजसमाधिरपि कथ्यते। मोक्षस्यावस्थायां जीवः ब्रह्मणः तादात्म्यं स्थापयति। 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यस्यानुभूतिमपि करोति। ये अकाम-निष्काम-आत्मकाम-आप्तकामश्च भवन्ति तेषां प्राणोत्क्रमणं नैव भवति, ते इहैव मुक्तेर्वा आनन्दस्यानुभवं कुर्वन्ति। मोक्षस्य कृते तं अन्यत्र गमनस्यावश्यकता नैव भवति-

"यो अकामो निष्कामो आप्तकामो आत्मकामो
तस्य प्राणः उत्क्रामन्ति ब्रह्मैवसन् ब्रह्मैवाप्येति।"[1]

वेन्दान्तसारे तज्जीवनमुक्तस्य विषये कथितमस्ति यत् स्वात्माखण्डब्रह्मज्ञानात् ब्रह्मविषयक-अज्ञानस्य बाधत्वात् स्वकीयब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारेण अज्ञानस्य तस्य कार्यस्य (स्थूल-प्रपञ्चस्य) सञ्चितकार्यस्य संशय-विपर्ययादीनां विनाशेन सर्वबन्धन-रहित्वात् ब्रह्मनिष्ठः पुरुषः जीवन्मुक्तः भवति-

"जीवन्मुक्तो नाम स्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेज्ञानं तत्कार्यं सञ्चितकर्म संशय-विपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबन्धेरहितो ब्रह्मनिष्ठः।"[2]

यथा कर्पूराग्नौ लवणञ्च जले लीनं भवति तथैव लीनं भूत्वा योगी परमतत्त्वे विलयं प्राप्नोति, तत्र कैवल्यमात्रमवशिष्यते-

कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिलेयथा तथा च लीयमानं सन्मनस्तत्त्वे विलीयते। ब्रह्मविद्योपनिषदि स्पष्टं भणितमस्ति यः स्व हृदि स्थितौ अनाहतध्वनिं प्रकाशयुक्त-चिदानन्दं परमतत्त्वं हंसं जानाति सैव जीवन्मुक्तः विद्यते-

"अनाहतध्वनियुक्तहंसं यो वेद हृदयगतम्
स्वप्रकाशचिदानन्दं स हंस इति गीयते॥"[3]

शंकराचार्यः मोक्षस्य विषये परमसुन्दरं निरूपणं कृतवान्-

"इदं तु पारमार्थिक कूटस्थनित्यं व्योमवत्सर्वव्यापी सर्वक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयं स्वयंज्योतिःस्वभावं, यत्र धर्माधर्मौ सहकार्येण कालत्रयञ्च नोपावर्तेते, तदेतत् अशरीरत्वं मोक्षाख्यम्।"[4]

वेदव्यासोऽपि स्थितप्रज्ञस्य वा जीवनमुक्तस्य विषये इत्थं निरूपयति-

---

1. वृहदारण्यकोपनिषद् - 4.4.6
2. वेदान्तसारम-जीवेन्मुक्तस्य लक्षणम्
3. ब्रह्मोपनिषद् - 20.21
4. शांकरभाष्यम्

"प्रजहाति यदा कामान्सर्वान् पार्थ-मनोगतान्
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।"[1]

श्रीमद् भागवतेऽपि वेदव्यासेनोक्तं मोक्ष-मृतकानां कृते आरक्षितं नास्ति। तम् अत्रैवास्मिन्नेव जीवने प्राप्यते यथा-**"देहं च श्वरमवस्थितमुत्थिमं वा सिद्धो न पश्यति यतो अध्यगमत् स्वरूपं। दैवादमेतमुत दैववशादुपेत-वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः"**।[2]

अतो आत्मसाक्षात्कारस्य विषये नैष्कर्म्यसिद्धौ अप्युक्तमस्ति-

'उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः॥'

1. श्रीमद्भगवद्गीता - 2.55
2. श्रीमद्भागवम् - 11.13.36

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

औचित्यप्रस्थानविमर्शः

डॉ. राजकुमारमिश्रः
संविदाध्यापक, रा.सं.सं.,
मुक्तस्वाध्यायपीठम् नई दिल्ली

लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्मकाव्यं भवति। काव्यपदमादाय बहवः विचाराः अभूवन्। अलङ्कारशास्त्रे एनमादाय अनेके प्रस्थानाः समजायन्त। तेषु प्रस्थानेषु औचित्यप्रस्थानमन्यतमं वर्तते। औचित्यप्रस्थानस्यारम्भकाः श्रीमन्तः क्षेमेन्द्राः वर्तन्ते। एतेषां मते काव्ये औचित्यमेव प्रमुखं तत्त्वम्। यथा मनुष्यशरीरे विद्यमानानामवयवानां मध्ये आत्मा एव प्रमुखं स्थानं भजते। आत्मनः सत्त्वे एव शरीरावयवानां सत्ता सम्भवति। तथैव अलङ्कारशास्त्रेऽपि शब्दार्थशरीरभूते काव्ये आत्मस्थानं किं भजते इति विषये आलङ्कारिकाणां अनेके सिद्धान्ताः दृष्टिपथमागच्छन्ति। आत्मतत्त्वमत्र सारपदार्थो वर्तते, अभिनवगुप्तेन स्वलोचने निगदितम् **यत् आत्मशब्दस्यतत्त्वशब्देनार्थं विवृण्वानः सारत्वमपरशब्दवैलक्षण्यकारित्त्वं च दर्शयति।**[1]

अर्थादत्रौत्मपदार्थः साररूपार्थस्य वाचकः। अतोऽत्र काव्ये किं सारतत्त्वमिति विषये केचन अलङ्कारम्, अन्ये ध्वनिम्, इतरे रीतिम्, अपरे वक्रोक्तिम्। एवमेव आचार्यस्य क्षेमेन्द्रस्याऽपि औचित्यसिद्धान्तोऽपि वर्तते। अनेनाचार्येण काव्यस्य प्राणभूतं तत्त्वमौचित्यमिति स्वीकृतम्। यद्यपि औचित्यमिदं तेन नैवाविष्कृतं परन्तु पूर्वाचार्यैरङ्गीकृतमौचित्याख्यं तत्त्वं काव्यस्य प्रमुखस्थानं भजते इत्युद्घोषितम्। यद्यपि काव्ये चारूत्वसम्पादकाः गुणालङ्कारादयः सन्ति परन्तु एते चारूत्वं तदैव वर्धयन्ति यथा ते स्वोचितस्थाने सन्निविष्टाः भवन्ति। उचितस्थानभ्रष्टाः एते गुणालङ्कारादयः काव्ये उपनिबद्धाः अपि न किंचिच्चारूत्वमानयन्ति। अतः एतेषां मते चारूत्वाधायकानां गुणालङ्काराणां भूषणमौचित्यमेव, इदमेव काव्यस्य जीवातुभूतम्। यथोचितस्थान-सन्निवेशनादेव माधुर्यादीनां गुणानां गुणत्वमलङ्काराणामलङ्कारत्वमिति। अनुचितस्थान-विन्यस्ताः गुणाः अपि दोषाः भवन्ति। यथा वीररसप्रसङ्गे युद्धभूमौ कश्चन योद्धा माधुर्यगुणाभिव्यञ्जकेन समासरहितेन च शब्देन स्वप्रतिद्वन्दिनं व्याहरति चेत् दोषाय भवति। एवमेव शृंगाररसे ओजगुणाभिव्यञ्जकेन दीर्घसमासयुक्तेन वर्णेन। एवमेव कटककुण्डलादयः लौकिकाः अलङ्काराः अनुचितस्थाने विनिवेशनेन न काञ्चिच्छोभा-

1. ध्वन्यालोकलोचन पृष्ठ 9

मानयन्ति। तथैव काव्यगताः यमकादयः अलङ्काराः अपि यदि श्रृङ्गाररसे करूणे वा सन्निविष्टाः स्युः तदा दोषाय कल्पते। यथाहुः आनन्दवर्धनाः ध्वन्यालोके-

ध्वन्यात्मभूते श्रृङ्गारे यमकादिनिबन्धानम्
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः।[1]

अनेन कथनेन प्रतीयते न केवलमलङ्कारैरेव काव्यं जीवति अपितु उचितस्थाने सन्निवेशने कृते सत्येवालङ्कारत्वमिति। एवं न स्वीक्रियते चेत् यस्य कस्याप्यलङ्कारस्य यत्र कुत्रचित् सन्निवेशे कृते काव्यमनवद्यं स्यात् परन्त्वेवं न भवति । यमकादयः अलङ्काराःश्रृङ्गारकरूणादौ रसे रसप्रतीतौ प्रतिबन्धकाः भवन्ति। अतः एतेषां यमकादीनाम-लङ्काराणां श्रृङ्गारादिरसे अलङ्कारता नैव युक्ता। अस्मिन् विषये लोचनकारेण श्रीमताभिनवगुप्तेन लोचने निगदितम्, यतिशरीरे विनिवेशिताः कटककुण्डलादयोऽ-लङ्काराः अनौचित्यान्न काञ्चिच्छोभामानयन्ति अपितु हास्यमेव जनयन्ति परन्तु यदि त एवालङ्काराः लावण्यवतीनामङ्गनानामवयवेषु विलसन्तः स्युः तदा अपूर्वा शोभां वर्धयन्ति। एतेन ज्ञायते गुणालङ्काराणां स्वतः काचिच्छोभा न भवति न तु तेषां सन्निवेशमात्रेण चारूत्वमायाति अपितु उचितस्थाने औचित्यपुर्णेन योजनेन च कापि विलक्षणा चमत्कृतिः जायते। एनं विषयमादाय आचार्याः आनन्दवर्धनाः कथयन्ति-

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्
अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्।[2]

अस्याः कारिकायाः विषयेऽभिनवगुप्तो वदति

एतदुक्तं भवति - उपमया यद्यपि वाच्योऽर्थोऽलंक्रियते, तथापि तस्य तदेवालङ्करणं यद् व्यङ्ग्यार्थाभिव्यञ्जनसामर्थ्याधानमिति वस्तुतो ध्वन्यात्मैवालङ्कार्यः, कटककेयूरादिभिरपि हि शरीरसमवायिभिश्चेतन आत्मैव तत्तच्चित्तविशेषौचित्य-सूचनात्मतयाऽलङ्क्रियते। तथाहि अचेतन शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलङ्कार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति अलङ्कार्यस्यानौचित्यात्। न हि देहस्य किञ्चिदनौचित्यमिति वस्तुतः आत्मैवालङ्कार्यः, अहमलङ्कृतः इत्यभि-मानात्।

एतेनायाति क्षेमेन्द्रेण काव्यशास्त्रे किञ्चिन्नूतनं वस्तु नानीतमपितु पूर्वाचार्यैः स्वीकृतमौचित्यमात्मतत्त्वरूपेण स्वीकृतमिति। एते स्वीकुर्वन्ति नालङ्काराः, न गुणाः आत्मस्थानं प्राप्तुं शक्नुवन्ति गुणालङ्कारनियामकस्यौचित्यस्यैव आत्मत्वमिति, येन विना काव्ये उपात्ता अपि गुणालङ्काराः निर्जीवाः इव भान्ति । यथाहुः क्षेमेन्द्राः-

---

1. ध्वन्यालोकलोचनं पृष्ठः 230
2. ध्वन्यालोकलोचनं पृष्ठः 208

काव्यस्यालमलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते
अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणा सदा
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।[1]

आचार्योऽयं क्षेमेन्द्रोऽस्यौचित्यसिद्धान्तस्य प्रर्वत्तको नासीत्। आचार्यभरतमुनेः प्रारभ्य भामहदण्डिध्वनिकारादिभिः पूर्वाचार्यैः काव्ये औचित्यस्य महन्महत्त्वमङ्गीकृत-मिति।

आचार्येण भरतेन नाटकानामभिनयसमये वेशभूषादीनामुचितं सन्निवेशनं निगदितम्। नाट्यकर्तृभिः लोकानां रूचिमनुसन्धानैर्देशकालानुसारेण वेशभूषा स्थापनीया, भाषा च भाषणीया।

यथोक्तं नाट्यशास्त्रे-

लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं तथा।
नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्
तस्माल्लोकः प्रमाणं हि कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः।[2]

काव्यालङ्कारस्य कर्ता आचार्यो भामहोऽपि वदति यज्जगति कृष्णं कज्जलं कृष्णरूपवतीं नायिकां न रज्जति परन्तु यदि तदेवाञ्जनं गौरवर्णीयानां नायिकानां लोचनप्रान्ते सन्निवेश्यते चेत् परमां कान्तिं वर्धयति। एवमेव यशाभिलाषुकैः कविभिरपि काव्ये माधुर्यादयः गुणा, अनुप्रासोपमादयोऽलङ्कारा औचित्यपूर्णेनैव योजनीयाः। एवमेव ये श्रुतकट्वादयो काव्यदोषाः सन्ति तेऽपि उचितस्थानविनिवेशनेनैव दोषाः नो चेत् दोषत्वं विहाय गुणतां प्राप्नुवन्ति। इत्थमेव गुणोऽपि अनुचितस्थानविनियोजनेनैव दोषनाम्ना व्यवहृयते।

किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाधवपि
कान्ताविलोपनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्।[3]

आनन्दवर्धनाचार्यः औचित्यविषये स्वकीये ध्वन्यालोकस्य तृतीये उद्योते वदति। दुष्यन्तशाकुन्तलादीनामौचित्येन अभिव्यक्ता रतिः सामाजिकानां कृते परमां प्रीतिं जनयति। परन्तु इयमेव रतिः पितृतुल्ययोः देवमिथुनयोः विषये यदि काव्ये वर्ण्यते चेदनौचित्यकारणाद् रसभङ्गस्य कारणं भवति, अतः औचित्यमेव रसादीनां बोधने परमतत्त्वं वर्तते। यथाहुः आनन्दवर्धनाः-

---

1. औचित्यविचारचर्चा पृष्ठः /5/6
2. नाट्यशास्त्रम् अध्यायः/26/123
3. काव्यालंकारः प्रथपपरिच्छेदः/55

अनौचिन्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।।[1]

एतेन प्रतीयते आचार्येण क्षेमेन्द्रेणौचित्यं नाविष्कृतमपितु पूर्वाचार्येण सिद्धमिदमौचित्यविचारचर्चायां प्रौढ़तामाप्नोत्, एतस्मात् पूर्वं यावन्तः आचार्याः आसन् ते औचित्यं काव्यस्यैकप्रमुखं तत्त्वं स्वीकुर्वन्ति स्म परन्तु औचित्यं काव्यस्यात्मा इति तु अनेनैवोद्घोषितम्। अनेन लक्षणमपि एतस्य कृतमिति यथा–

उचितं प्राहुराचार्यः सदृशं किल यस्य तत्
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।[2]

अर्थात् यत् वस्तु यस्मिन् विन्यस्तं सत् कान्तिमाप्नोति तदुचितम्, उचितस्य भावः औचित्यम्। यथा मेखला नायिकायाः नितम्बस्थले शोभां प्राप्नोति, मौक्तिकमाला कण्ठे, वलयं करे। यदि एतेषां वैपरित्येन सन्निवेशनं स्यात् तदा न कांचित् शोभां वर्धयन्त्यपितु हास्यमेव जनयन्ति। तदवत् काव्ये येऽनुप्रासोपमादयोऽलङ्काराः शोभाधायकाः सन्ति तेऽपि यथायोग्यं सन्निवेशिताः सन्तः काव्यालोचकान् आनन्दयन्ति।

आचार्यस्य क्षेमेन्द्रस्यौचित्यमाचार्यानन्दवर्धनस्य ध्वनिप्रस्थानमेव वक्तुं शक्यते। ध्वनि पदवाक्यप्रबन्धादिना अर्थं व्यनक्ति। अतः औचित्यमिदं पदवर्णनिपातध्व–निव्यतिरिक्तं किञ्चिदन्यत् वस्तु न प्रतीयते। ध्वन्यालोके ध्वनेः व्यजका के भवन्ति इति विषये भणितम्–

सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्।।[3]

अमुमेव सिद्धन्तमेवाङ्गिकृत्य क्षेमेन्द्रो भणति–

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलङ्करणे रसे
क्रियायां कारके लिंगे वचने च विशेषणे
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते
काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्।।[4]

एतेषां सर्वेषां व्यञ्जकता ध्वन्यालोके द्रष्टुं शक्यते। पदवाक्यादयः ध्वनिं व्यञ्जयन्ति। कानिचिदुदाहरणानि प्रस्तूयन्तेऽत्र–

---

1. ध्वन्यालोकलोचनं पृष्ठः 362
2. औचित्यविचारचर्चा पृष्ठः 12
3. ध्वन्यालोकलोचन पृष्ठ 379
4. औचित्यविचारचर्चा पृष्ठ 12

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्
इदं व्यस्तन्यस्तं श्लथभुजलताक्षेपबलनैः
कृशाङ्ग्यास्सन्तापं वदति बिसिनिपत्रशयनम्।।

अत्र कृशाङ्ग्याः इति पदस्यौचित्यं काव्यशोभायाः निष्पादको वर्तते। अनेन पदौचित्येन प्रकृतकाव्यस्य नायिकायाः सागरिकायाः विरहावस्था अभिव्यजते। अनेन विप्रलब्धश्रृङ्गारस्याभिव्यक्तिर्जायते। क्षेमन्द्रस्येदं पदमौचित्यं ध्वन्यालोककारस्य पदव्यञ्जकतायाः उदाहरणं भवितुमर्हति। तृतीये उद्योते विवक्षिताविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेः अनेकानि उदाहरणानि सन्ति तेषु अविवक्षितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्ये प्रभेदे पदप्रकाशता। यथा महर्षेः व्यासस्य पद्यं-

धृति क्षमा दया शौचं कारूण्यं वागनिष्ठुरा
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैता समिधः श्रियः।।[1]

अत्र समिच्छब्दार्थस्य सर्वथा तिरस्कारः, असम्भवात्। समिच्छब्देन च व्यङ्ग्योऽर्थोऽन्यापेक्षलम्युद्दीपनक्षमत्वं सप्तानां वक्त्रभिप्रेतं ध्वनितम्[2]।

एवमेव यथा अभिज्ञानशाकुन्तले किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनामित्यत्र मधुरशब्देन सर्वविषयरञ्जकत्वतर्पकत्वादिकं लक्षयता सातिशयाभिलाषविषयत्वं ध्वन्यते[3]।

कारकौचित्यं यथा-

सम्बन्धी पुरूभूभुजां मनसिजव्यापारदीक्षागुरू
गौराङ्गीवदनोपमापरिचितस्तारावधूवल्लभः
सद्योमार्जितदक्षिणात्यतरूणीदन्तावदातद्युति
श्चन्द्रः सुन्दरी दृश्यतामयमितश्चण्डीशचूडामणिः।।

अस्मिन् श्लोके नायिकासमीपे कश्चन् नायकः कामदेवोद्दीपकं चन्द्रमसं वर्णयति। सम्पूर्णवाक्येऽस्मिन् चन्द्रस्य वर्णनं करोति। चन्द्रवर्णनं श्रृङ्गाररसोद्दीपकं वर्तते यतोहि चन्द्रादयः उद्दीपनविभावाः भवन्ति, अलङ्कारशास्त्रे ये उत्पन्नान् रत्यादीन् उद्दीपयन्ति ते उद्दपनविभावाः कथ्यन्ते। अत्र नायकः चन्द्रवर्णनेन नायिकायाः रतिभावमुद्दीपयितुं कामयते। प्रणयव्यापारे चन्द्रवर्णनं सर्वथानुकूलमस्ति, तेन च श्रृङ्गाररसस्यास्वादः, अत एवविधे स्थले नायिकायाः उद्दीपनक्षमं वाक्यं सर्वथोचितम्।

---

1. ध्वन्यालोकलोचन पृष्ठ 313
2. लोचन पृष्ठ 313
3. लोचन पृष्ठ 314

कारकौचित्यं यथा –

स्तनयुगमश्रुस्नातं समीतरवर्ति हृदयशोकाग्नेः
चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम्।।

अयं श्लोकः कादम्बर्यां वर्तते। वैशम्पायननामको शुको महाराजस्य शूद्रकस्य प्रशंसायां वदति। अनेन प्रतापशालिना शूद्रकेन युद्धे शत्रुराजानः पराजिताः, तेन तेषां याः स्त्रियः आसन् ताः इदीनामहर्निशं रूदन्ति, अश्रूणि च मुञ्चन्ति। अत्र शत्रोः स्त्रियः विलपन्ति व्रतमाचरन्ति। इति कथनेन न तादृशं चारूत्वमायाति, यथा स्तनयुगं वाष्पसलिलेन स्नाति, शोकाग्निना तपश्चरन्ति निराहारश्च विद्यन्ते इति कथनेन शोभा। अतोखत्र कतृपदमुचितभावेन प्रयुक्तं सत् काव्यशोभां पुष्णाति इत्यादीनि अनेकानि उदाहरणानि सन्ति, औचित्यविचारचर्चायां द्रष्टुं शक्यन्ते। अत्र विचार्यते चेत् तदा औचित्यमिदं ध्वनिव्यतिरिक्तं न किञ्चिद् वस्तु वर्तते। आनन्दवर्धनाचार्यमते ध्वनिमेव परमं तत्त्वम्। ध्वनिश्च रसवस्त्वलङ्कारभेदात् त्रिविधः, वस्त्वलङ्कारयोरन्ते रस एव विश्रान्तिः जायते। अतः एतेषां मते रस एवाङ्गी आत्मस्थानी वर्तते पदोपसर्गनिपातादिनामन्येषां गुणालङ्कारादिनां च उपयोगः रसस्याभिव्यक्तये भवति। यथा ये श्रुतिकट्वादयो मूर्धन्या टढषयो वर्णाः सन्ति ते श्रृङ्गारकरूणादौ त्याज्याः। एवमेव परिम्लानं पीनस्तनजघनेत्यादौ पद्ये कृशाग्याः इति पदस्यौचित्यं यत्क्षेमेन्द्रेण निगदितम्, तत्सूक्ष्मेक्षिकया विचार्यते चेत् ध्वनावेव पर्यवस्यति। विप्रलम्भे श्रृङ्गारे व्यङ्ग्ये सति कृशाग्याः इति पदस्यौचित्यमत्र रसस्य ध्वननाद् वर्तते। पदमिदं सागरिकायाः विरहवस्थां व्यञ्जयन् वर्तते। यदीदं पदं परिवर्त्य तत्स्थाने अन्यस्य पदस्योपादाने अभिलषितस्यार्थस्य प्रकाशनं न जायते। एवमेव सागरिकायाः विरहावस्थायाः ज्ञापकं कृशाग्याः इति पदं परमौचित्यं पुष्णाति इति भणता आचार्येण क्षेमेन्द्रेण किमपि नूतनं नाभिहितमपितु भग्यन्तरेण पदध्वनिरेव स्वीकृतः। एवमेवान्यान्युदाहरणानि अपि सन्ति। अलङ्काराणामुचितस्थाने सन्निवेशविषये आनन्दवर्धनो भणति–

ध्वन्यात्मभूते श्रृङ्गारे समीक्ष्यविनिवेशितः
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम्।।[1]

इत्थं ध्वन्यालोकस्य पर्यालोचनं क्रियते चेत् ज्ञातुं शक्यते यत् क्षेमेन्द्र–यस्यौचित्यप्रस्थानं ध्वनिमूलकमेव भवति। अनेन ध्वनिरेव औचित्यनाम्ना कथितः। वस्तुतस्तु अन्यैरपि कुन्तकमहिमभटटप्रभृतिभिराचार्यैः सर्वलक्ष्यभूतो ध्वनिरेव वक्रोक्त्यानुमितिभङ्ग्या निगदितः। महाकविकालिदासप्रभृतिनां महाकाव्येषु परमतत्त्व–

---

1. ध्वन्यालोकलोचन पृष्ठ 235

भूतोऽयं ध्वनिः एभिराचार्यैः स्वस्वशास्त्रदृष्ट्या निरूपितः। आचार्यक्षेमेन्द्रेण ध्वनिवादिनां ध्वनिसिद्धान्तमनौचित्यनाम्ना व्यपदेशो कृतः, परन्त्वयं नाम्नि भेदः स्यान्न तु कार्ये। काव्यतत्त्वभूतप्रतीयमानार्थस्य नामान्तरकरणे न किंचित् नश्यतीति।

वस्तुतस्तु आचार्यभरतमुनेः निरूपितस्य रसस्य ध्वननद्वारैवाभिव्यञ्जनं समुचितं, तथैवौचित्यस्यापि औचित्यं ध्वननद्वारैव। श्रृङ्गाररसस्य स्वशब्देन श्रृङ्गार करूणो वा इति प्रतिपादने क्रियमाणे कोऽपि आस्वादो नाभूयते परन्तु व्यञ्जनया रसास्वादो जायते। यथा आम्रमध्वादीनां पदानामुच्चारणे आम्रादीषु विद्यमानमाधुर्यरसस्यास्वादो नानुभूयते परन्तु विभावानुभावव्यभिचारिणा सह सम्मेलनेन व्यञ्जकवर्णैः व्यञ्जनया अभिव्यक्तो रसोऽस्वादितो भवति, एवं व्यञ्जनाव्यापारवशात् रसास्वादे सति ध्वननमुखप्रेक्षितं तस्य रसस्य सिद्धमेव, केनाप्यन्येन प्रकारेण तद् भवितुं नार्हति। यद्यपि औचित्येन विना ध्वनितोऽपि रसः आनन्दपथं नोपयाति। काव्ये रावणसीताविषयिणी रतिः विभावानुभावव्यभिचारिभिः अभिव्यक्तोऽपि सहृदयानामानन्दं न जनयति औचित्य-हीनत्वादत एवायं रसाभासपदेनोच्यते। दुष्यन्तशकुन्तलाविषयिण्येव रतिः नायक-नायिकयोस्तुल्यानुरागाद् परस्परमनुरागादिप्रदर्शनादौचित्यवती सती सहृदयैरास्वाद्यते।

इत्थमाचार्येण क्षेमेन्द्रेण स्वीकृतमौचित्यं ध्वनिसिद्धन्तमूलकमेव, रसाभिव्यक्त्यर्था-नुकूलमौचित्यावश्यकमिति, एभिरपि स्वीकृतमिति। अतः औचित्यसिद्धान्तः पृथगात्म-कत्वेन व्यवस्थापयितुं न शक्यते यतोहि औचित्यपूर्णोऽपि शब्दार्थमये काव्ये रसभावाद्यवश्यं स्वीकर्तव्यमेव, तद्विना औचित्यस्यात्मलाभ एव न सम्भवति। रससद्भावे एवायं प्रश्नः जागर्ति यत् किमत्रोचितं किमनुचितमिति। अतोऽसौ आत्मत्वेन स्वीकृतः, रसश्च सर्वथा व्यङ्ग्य एव भवतीति। एतेन जातं क्षेमेन्द्रस्यौचित्यप्रस्थानं न ध्वनिभिन्न-मिति।।

सन्दर्भसूच्यः

1. ध्वन्यालोक, प्रकाशकः, चौखम्भाविद्याभवनम्, पो. बा. नं. 1069 वाराणसी।
2. ध्वन्यालोक, प्रकाशकः, चौखम्भाविद्याभवनम्, पो. बा. नं. 1069 वाराणसी।
3. ध्वन्यालोक, प्रकाशकः, चौखम्भाविद्याभवनम्, पो. बा. नं. 1069 वाराणसी।
4. औचित्यविचारचर्चा, कृष्णदास अकादमी, के 37/118, गोपाल मन्दिर लेन वाराणसी, 221001, प्रथमसंस्करणम्, वि.सं., 2036
5. नाट्यशास्त्र, चौखम्भाविद्याभवनम् के 37/118, गोपाल मन्दिर लेन वाराणसी 221001 प्रथमसंस्करणम्, वि.सं., 2054

6. काव्यलङ्कार भामहकृत, विद्यानिधि, सी., 117/2 गली न. -11, खजूरीखास दिल्ली-110094
7. ध्वन्यालोक, प्रकाशकः, चौखम्भाविद्याभवनभवनम्, पो. बा. नं. 1069 वाराणसी
8. औचित्यविचारचर्चा, कृष्णदास अकादमी, के 37/118, गोपाल मन्दिर लेन वाराणसी 221001, प्रथम संस्करण वि.सं., 2036
9. ध्वन्यालोक, प्रकाशाक, चौखम्भा विद्याभवन पो. बा. नं. 1069, वाराणसी
10. औचित्यविचारचर्चा, कृष्णदास अकादमी, के 37/118, गोपाल मन्दिर लेन वाराणसी 221001, प्रथम संस्करण वि.सं., 2036
11. ध्वन्यालोक, प्रकाशकः, चौखम्भा विद्याभवन पो. बा. नं. 1069 वाराणसी
12. ध्वन्यालोक, प्रकाशकः, चौखम्भा विद्याभवन पो. बा. नं. 1069 वाराणसी
13. ध्वन्यालोक, प्रकाशकः, चौखम्भा विद्याभवन पो. बा. नं. 1069 वाराणसी
14. ध्वन्यालोक, प्रकाशकः, चौखम्भा विद्याभवन पो. बा. नं. 1069 वाराणसी

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

व्याकरणदर्शनाभिमतसमासशक्तिविवेचनम्

श्री शेषमणिशुक्ल

शोधच्छात्रः, व्याकरणविभागः
का.हि.वि.वि., वाराणसी

अथ व्याकरणदर्शने समासशक्तेरत्यन्तं महत्वपूर्णं स्थानं वर्तते। इदन्तावत् समासशक्तितत्त्वबुभुत्सया अहमेतन्निरूपयितुमुद्यतः। व्याकरणदर्शने विविधानां विषयाणां तात्त्विकविवेचनं विशदतया भूषणादिग्रन्थेषूपलभ्यते एतेषु समासशक्तिरपि व्यापकतया सुलभा विद्यते। तत्र पाणिन्यष्टाध्याय्यां द्वितीयाऽध्याये द्वितीयपादे समासविधायकसूत्राणि समुपलभ्यन्ते तद्यथा-"समर्थः पदविधिः"[1] इत्यारभ्य "कडाराकर्मधारये"[2] इति यावत् समासविधायकशास्त्राणामुल्लेखः प्राप्यते। तत्र "बहूनां पदानां मिलित्वैकपदभवनं समासः" अथ च "समसनं समासः" समसनन्नाम-संक्षेपीकरणमित्यादिविविधलक्षणेषु सत्स्वपि निष्कृष्टलक्षणञ्चैतत्संसाध्यते-"परस्परसमर्थसाकांक्षपदयोः पदानां वा प्रक्रिया विशेषेण सम्पाद्यमानं कर्म येनैकपदीभवनं संसाध्यते सः समासः" इति। "समर्थः पदविधिः" इत्यत्र समर्थपदं समर्थाश्रिते लाक्षणिकं विद्यते सामर्थ्यञ्चात्रैकार्थीभावरूपः। विधानं विधिः विधीयतेऽसौ विधिः पदस्य विधिः पदविधिः। महाभाष्ये च विधिरिति[3] कोऽयं शब्दः? विपूर्वाद्धाञः कर्मसाधन इकारः विधीयते विधिरिति। किं पुनर्विधीयते? समासो विभक्तिविधानं पराङ्गवद्भावश्च। अत्र सूत्रे द्विविधं सामर्थ्यं परिकल्प्यते व्यपेक्षाभावलक्षणरूपसामर्थ्यमेकार्थीभावलक्षणरूपसामर्थ्यञ्चेति। तत्र तावत् स्वार्थपर्य्यवसायिनां पदानामाकांक्षादिवसाद्यः परस्परसम्बन्धः सा व्यपेक्षेत्युच्यते। व्यपेक्षा चैषा वाक्य एव भवति। यथा यज्ञः पुरुषः इत्यादिस्थलेषु। तत्र हि व्यपेक्षायां सत्यां यो यः सन्निहितो योग्यश्च भवति तेन सम्बन्धोऽभ्युपेयते यथा-राज्ञः पुरुषोऽश्वश्च राज्ञो देवदत्तस्य च पुरूष इति। तत्र एकार्थीभावश्च-पृथक् पृथगर्थोपस्थापकानां पदानां विशिष्टशक्त्या एकार्थोपस्थितिविषयत्वमिति।

व्याकरणविदः विदन्त्येव यत् समासे एकार्थीभावसामर्थ्यमेवेति। यथा राजपुरुषेत्यादि समासरूपादिवृत्तावेव। वृत्तिस्तु-परार्थाभिधानम्। कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्त-

---

1. पाणिन्यष्टाध्याय्यां सूत्रसङ्ख्या 2/1/1
2. पाणिन्यष्टाध्याय्यां सूत्रसङ्ख्या 2/1/38
3. पातञ्जलमहाभाष्ये (2अ. 2प. 1आ. समर्थ सूत्रे)

धातुरूपाः पञ्च वृत्तयः। वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषायां तु "वृत्तिश्चतुर्धा समास-तद्धित-कृत्-सनाद्यन्तधातुभेदात्।" एकार्थीभावोऽयं प्रक्रियादशायां तु पृथगर्थत्वेन प्रथमगृहीतस्य विशिष्टैकार्थत्वरूपः। अस्मादेव राजपुरुष इत्यत्र राज्ञि ऋद्धस्येति विशेषणं नान्वेति पदार्थैकदेशत्वात्। देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यादिस्थलमादाय महाभाष्यकृता भगवता पतञ्जलिना व्यलेखि-द्वयोस्तर्हिकस्मान्न[1] भवति? असामर्थ्यात् कथमसामर्थ्यम् सापेक्षमसमर्थं भवतीति यदि सापेक्षमसमर्थं भवतीत्युच्यते, राजपुरूषोऽभिरूपः "राजपुरूषो दर्शनीयः" अत्र वृत्तिर्न प्राप्नोति नैष दोषः। प्रधानमत्र सापेक्षं भवति च प्रधानस्य सापेक्षस्यापि समासः, यत्र तर्ह्यप्रधानं सापेक्षं भवति तत्र वृत्तिर्न प्राप्नेति-"देवदत्तस्य गुरुकुलम्" "देवदत्तस्य गुरुपुत्रः" "देवदत्तस्य दासभार्या" इति नैष दोषः समुदाया-पेक्षात्र षष्ठी सर्वं गुरुकुलमपेक्षते।

समुदायेन सम्बन्धो येषां गुरुकुलादिना।
संस्पृश्यावयवांस्ते तु युज्यन्ते तद्वता सह॥ इति॥

यत्र तर्हि न समुदायापेक्षा षष्ठी तत्र वृत्तिर्न प्राप्नोति-"किमोदनः शालीनाम्" "सक्त्वाढकमापणीयानाम्" "कुतो भवान्पाटलिपुत्रक इति।" इह चापि "देवदत्तस्य गुरुकुलं" "देवदत्तस्य गुरुपुत्रो" "देवदत्तस्य दासभार्या" इति। यद्येषां समुदायापेक्षा षष्ठी स्यानैतन्नियोगतो गम्यते-देवदत्तस्य यो गुरुस्तस्य पुत्र इति। किं तर्हि? अन्यस्यापि गुरुपुत्रः, देवदत्तस्य किंचिदित्येषोर्थो गम्येत। यतस्तु खलु नियोगतो देवदत्तस्य यो गुरुस्तस्य यः पुत्र इत्येषोर्थो गम्यते, अतो मन्यामहे- नैषा समुदायापेक्षा षष्ठीति।। अन्यत्र खल्वपि समर्थग्रहणे सापेक्षस्यापि कार्यं भवति। क्वान्यत्र? "इसुसोः सामर्थ्ये" ब्राह्मणस्य सर्पिष्करोतीति। तस्मान्नैतच्छक्यं वक्तुं सापेक्षमसमर्थं भवतीति।

सम्बन्धिशब्दः सापेक्षो नित्यं सर्वः प्रयुज्यते।
वाक्यवत् सा व्यपेक्षा हि वृत्तावपि न हीयते॥ इति॥

यद्यप्यत्र विषये बहवः वादाः बहूनि मतान्युपस्थापयन्ति नैय्यायिकमीमांसकादयः तथाप्यत्र व्याकरणदर्शनाभिमतमवलम्ब्य समासशक्तिविषयकं तात्विकं रहस्यमुद्घाटयितुं सारांशोऽयं प्रकटीकृतो विशेषतो महाभाष्यानुसारं समासशक्तिविषयकाः सारभूतसिद्धान्ताः उपनिबद्धास्सन्त्यत्र। समासभेदनिरूपणदृष्ट्याप्याचार्याणां भूयान् विसम्वादोऽवलोक्यते-महर्षिपाणिनिः भेदचतुष्टयमुपपादयति। द्विविधोऽपरे, पञ्चधेत्यन्ये षड्धेति भूषणकारः-

सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाऽथ तिङां तिङा।[2]।
सुबन्तेनेति विज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः॥

---

1. पातञ्जलमहाभाष्ये (2अ. 1प. 1आ. समर्थ सूत्रे)
2. वैयाकरणभूषणसारे समासशक्तिनिर्णये 28 कारिका

समासशक्तिविषये विभिन्नग्रन्थेषु बहवः विचाराः परिशीलितास्सन्ति तथाहि व्याकरणविद्योद्भटो नागेशभट्टः परमलघुमञ्जूषाख्ये ग्रन्थे समासादिवृत्त्यर्थनिरूपणावसरे वृत्तिर्द्विधेत्यङ्गीकरोति जहत्स्वार्थाऽजहत्स्वार्था चेति। जहति=त्यजन्ति पदानि स्वार्थं यस्यां वृतौ सा जहत्स्वार्था अर्थादवयवार्थनिरपेक्षत्वे सति समुदायार्थबोधिकात्वं जहत्स्वार्थात्वम्। उदाहरणन्तु-रथन्तरं, सामवेदः, शुश्रूषेति। न जहति=त्यजन्ति पदानि स्वार्थं यस्यां वृतौ साऽजहत्स्वार्था अर्थादवयवार्थ संवलितसमुदायार्थबोधिकात्वमजह-त्स्वार्थात्वम्। राजपुरुष इत्युदाहरणम्। समासादिपञ्चसु विशिष्टे एव शक्तिर्नत्ववयवे रथन्तर, सप्तपर्णः, शुश्रूषेत्यादौ अवयवार्थानुभवाभावात्। अत एव पातञ्जलमहाभाष्ये व्यपेक्षापक्षमुद्भाव "अथै तस्मिन्व्पेक्षायां सामर्थ्ये योऽसावेकार्थीभावकृतो विशेषः स वक्तव्यः" इति प्रतिपादितम्। 1. धवखदिरावित्यत्र साहित्यम् 2. निष्कौशाम्बिरित्यत्र क्रान्तत्वम् 3. गोरथोऽत्र युक्तत्वम् 4. घृतघटोऽत्र पूर्णत्वम् 5. गुडधाना इत्यत्र मिश्रीकरणम् 6. केशचूड इत्यत्र सङ्घातः 7. सुवर्णालङ्कारोऽत्र विकारः 8. द्विदशा अत्र सुच्प्रत्ययलोपः 9. सप्तपर्ण इत्यत्र वीप्साद्यर्थाः वाचनिका वाच्या इति तद्भाष्याशयः।

व्यपेक्षावादिनः नैय्यायिकाः मीमांसकादयः समासे शक्तिं न स्वीकुर्वन्ति। राजपुरुष इत्यत्र राजपदस्य राजसम्बन्धिनि लक्षणयैव राजसम्बन्धवदभिन्नः पुरुष इत्यवगच्छन्ति। अतः राज्ञः पदार्थैकदेशत्वान्न तत्र ऋद्धस्येत्यादिविशेषणपदानामन्वयः। यतो हि "पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन" इति वचनात्, "सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य विशेषणयोगो न" इति भाष्यवचनसामर्थ्याच्च। नैय्यायिकमीमांसकादीनां दूषणयुक्तं मतमालक्ष्य तन्निराकर्तुमत्रोच्यते समासे शक्त्यस्वीकारे समुदायस्यार्थवत्वाभावेन प्रातिपदिकसंज्ञा न भवति। अतः "अर्थवद०" इति सूत्रे भाष्ये अर्थवदिति विशेषणं किमर्थमर्थवतां समुदायो ह्यनर्थकः-दश दाडिमानि षडपूपाःकुण्डमजाजिनम्। इति प्रत्युदाहृतम्। उक्तञ्च परमलघुमञ्जूषायाम्-

एवञ्च[1] राजपुरुषपदयोस्त्वन्मते प्रत्येकमर्थवत्त्वेऽपि समुदायस्य दशदाडिमादिव-दनर्थकत्वात्प्रातिपदिकत्वानापत्तेः। न च "कृत्तद्धित०" इति सूत्रे समासग्रहणात् तत्संज्ञेति वाच्यम्। तस्य नियमार्थताया भाष्यकृतैव प्रतिपादितत्वात्। अन्यथासिद्धिं विना नियमायोगात्। अत एव राज्ञः पुरुषो देवदत्तः पचतीत्यादिवाक्यस्य मूलकेनो-पदंशमित्यादेशश्च न प्रातिपदिकत्वम्।

किञ्च समासे शक्त्यस्वीकारे शक्यसम्बन्धरूपलक्षणाया अप्यसम्भवेन लाक्षणि-कार्थवत्त्वस्याप्यसम्भवेन सर्वथा प्रातिपदिकत्वाभाव एव निश्चितः स्यादिति स्वाद्यनुत्पत्तौ, "अपदं न प्रयुञ्जीत" इति भाष्यात्समस्तप्रयोगविलयापत्तेः।

---

1. परमलघुमञ्जूषायां समासादिवृत्त्यर्थनिरूपणप्रकरणे

अथ "तिप्तस्झि०" इत्यतः तीत्यारभ्य ङयोस्सुबिति प्रकारेण तित्प्रत्याहारो भाष्यसिद्धः, तत्पर्युदासेन "अतिप्प्रातिपदिकम् इत्येव सूत्र्यताम्, ततः "समासश्च" इति सूत्रं नियमार्थमस्तु किं सूत्रद्वयेनेति सुप्तिङन्तभिन्नं प्रातिपदिकमित्यर्थात् समास-स्यापि सा स्यादिति "समासश्च" इत्यस्य नियमार्थत्वं सुलभमिति चेत्, सत्यम्। प्रत्येकं वर्णेषु संज्ञावारणाय "अर्थवत्" इत्यस्यावश्यकत्वेन समासेऽव्याप्तिस्तदवस्थैव। तथा च प्रातिपदिकसंज्ञारूपकार्यमेवार्थवत्त्वमनुमापयति-समासः अर्थवान्, प्रातिपदिकत्वात्, यन्नार्थवत्तन्न प्रातिपदिकम्, अभेदविवक्षापक्षे-"भू सत्तायाम्" इत्याद्यनुकरणवदिति।

यत्तु-"पदार्थः पदार्थेन" इति, "वृत्तस्य विशेषणयोगो न" इति वचनद्वयेन ऋद्धस्येत्यादिविशेषणान्वयो न भवति; यत्तु समासे एकार्थीभावे स्वीकृतेऽवयवानां निरर्थकत्वेन विशेषणान्वयासम्भवात् फलितार्थपरम् अस्माकम्, युष्माकं तु अपूर्व-वाचनिकमिति गौरवमित्यग्रे वक्ष्यते।

यत्तु-प्रत्ययानां सन्निहितपदार्थगतस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तिरिति, तन्न। उपकुम्भम् अर्धपिप्पलीत्यादौ पूर्वपदार्थे विभक्तयर्थान्वयेन व्यभिचारात्। मम तु प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वव्युपत्तेर्विशिष्टोत्तरमेव प्रत्ययोत्पत्तेर्विशिष्टस्येव प्रकृतित्वात् विशिष्टस्यैवार्थवत्त्वाच्च न दोषः।

किं च राजपुरुषादौ राजपदादेः सम्बन्धिनि सम्बन्धे वा लक्षणा? नाद्यः, राज्ञः पुरुष इति विवरणविरोधात्। वृत्तिसमानार्थवाक्यस्यैव विग्रहत्वात्। अन्यथा तस्माच्छक्ति-निर्णयो न स्यात्। नान्त्यः। राजसम्बन्धरूपपुरुष इत्यन्वयप्रसङ्गात्।

ननु तर्हि वैयाकरण इत्यस्य व्याकरणमधीते इति पाचक इत्यस्य पचतीति कथं विग्रहः, वृत्तिसमानार्थत्वाभावादित्यत आह-

आख्यातं तद्धितकृतोर्यत्किञ्चिदुपदर्शकम्।
गुणप्रधानभावादौ तत्र दृष्टो विपर्ययः[1]**॥ इति॥**

तद्धितकृतोर्यत्किञ्चिदर्थबोधकं विवरणमाख्यातं तिङन्तमिति यावत्, तत्र विवरणविग्रियमाणयोर्विशेष्यविशेषणभावविपर्ययो दृष्ट इति। कृदन्ततद्धितान्तयोराश्रय-प्राधान्यम्; आख्याते व्यापारस्येति बोध्यम्।

ननु रथन्तरशब्दात् रथिकस्यापि प्रत्ययः किन्न स्यादिति चेत्, मैवम्। "रूढिर्यो-गार्थमपहरति" इति न्यायात्।

ननु विशिष्टशक्तिस्वीकारे पङ्कजपदादवयवार्थप्रतीतिर्मा भूत्, समुदायशक्त्यैव कमलपदवत् पुष्पविशेषप्रत्ययः स्यादिति चेत्, न।

---

1. वाक्यपदीयं कारिका 2/306

जहत्स्वार्था तु तत्रैव यत्र रूढिर्विरोधिनी।

इत्यभियुक्तोक्तेः अवयवार्थसंवलितसमुदायार्थे पद्मे शक्तिस्वीकारात्।

अत एव चतुर्विधः शब्दः यथा-(1) रूढः (2) योगरूढः (3) यौगिकः (4) यौगिकरूढश्चेति। अवयवार्थमनपेक्ष्य समुदायशक्तिमात्रेणार्थबोधकत्वं रूढत्वम्-रथन्तरमित्यादौ। अवयवार्थसंवलितसमुदायशक्त्याऽर्थबोधकत्वं योगरूढत्वम्-पङ्कज-मित्यात्र। अवयवशक्त्यैवार्थबोधकत्वं यौगिकत्वम्-पाचिका, पाठिकेत्यादौ। अवयव-शक्त्या समुदायशक्त्या चार्थबोधकत्वं यौगिकरूढत्वम्। मण्डपानकर्तृपरोऽपि गृहविशेष-परोऽपि मण्डपशब्द उदाहरणमिति विवेकः। व्यपेक्षापक्षे दूषणं शक्तिसाधकम्। हरिरप्याह-

समासे खलु भिन्नैव शक्तिः पङ्कजशब्दवत्।
बहूनां वृत्तिधर्माणां वचनैरेव साधने॥
स्यान्महद् गौरवं तस्मादेकार्थीभाव आश्रितः[1]॥ इति।

पङ्कजशब्दे योगार्थस्वीकारे शैवालादेरपि प्रत्ययः स्यात्। वृत्तिधर्माः-विशेषलिङ्ग-सङ्ख्याद्ययोगादयः, "सविशेषणानां वृत्तिर्न" इत्यादिवचनैरेव साध्याः, इति तत्तद्वचन-स्वीकार एव गौरवम्। मम तु एकार्थीभावस्वीकारादवयवार्थाभावाद्विशेषणाद्ययोगो न्यायसिद्धः, वचनं च न कर्तव्यं न्यायसिद्धं चेति लाघवम्। व्यपेक्षायां दूषणान्तरमाह-

चकारादिनिषेधोऽथ बहुव्युत्पत्तिभञ्जनम्।
कर्त्तव्यं ते, न्यायसिद्धं त्वस्माकं तदिति स्थितिः[2]॥

घटपटाविति द्वन्द्वे साहित्यद्योतकचकारनिषेधस्त्वया कर्त्तव्याः। आदिना घनश्याम इत्यादौ इवशब्दस्य। मम तु साहित्याद्यवच्छिन्ने शक्तिस्वीकारात् "उक्तार्थानामप्रयोग" इति न्यायात्तेषामप्रयोगः। बहुव्युत्पत्तिभञ्जमिति-अषष्ठ्यर्थबहुव्रीहौ प्राप्तोदक इत्यादौ पृथक्शक्तिवादिनां मते प्राप्तिकर्तृभिन्नमुदकमित्यादिबोधोत्तरं तत्सम्बन्धिग्रामलक्षणायामपि उदककर्तृकप्राप्तिकर्म ग्राम इत्यर्थालाभे प्राप्ते प्राप्तेति क्तप्रत्ययस्य कर्त्रर्थकस्य कर्मार्था लक्षणा ततोऽपि "समानविभक्तिकनामार्थयोरभेद एव संसर्ग" इति व्युत्पत्या उदकाभिन्नं प्राप्तिकर्मेति स्यात्। उदकस्य कर्तृतया प्राप्तावन्वये तु नामार्थयोरभेदान्वय-व्युत्पत्तिभञ्जनं स्यादिति तात्पर्यं "नामार्थप्रकारकशब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति विभक्त्यर्थो-पस्थितेः कारणत्वं" इति व्युत्पत्तिभञ्जनञ्च। मम तु पृथक् शक्त्यनङ्गीकारात् विशिष्टस्यव विशिष्टार्थवाचकत्वात् नामार्थद्वयाभावान्न क्वचिदनुपत्तिरित्यलम्।

वस्तुतस्तु व्याकरणदर्शने समासशक्तिविषयिणी महती विवेचना वैयाकरण-

---

1. वैयाकरणभूषणसारसमासशक्तिनिर्णये कारिका 31
2. वैयाकरणभूषणसारसमासशक्तिनिर्णये कारिका 32

सिद्धान्तकारिका – वैयाकरणभूषणसार – वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषादिग्रन्थेषु तत्तच्छास्त्रसिद्धान्तानुसारं शास्त्रकारेण कृता। विषयविवेचनदृष्टया विदुषां विभिन्नमतमतान्तरसत्वेऽप्यत्र विद्वद्भिः खण्डनमण्डनपूर्वकं निर्णीतः सर्वसम्मतसिद्धान्तः समुपस्थापितः समासादिपञ्चवृत्तिष्ववयवविशिष्टसमुदायेऽर्थाभिधानरूपा शक्तिर्भवति नत्ववयवे। अस्मादेव कारणात् "रथन्तरम्" "सप्तपर्णः" "शुश्रूषा" इत्यादिवृत्तिविशिष्टशब्देषु अवयवार्थो न भाषते अत एव वैयाकरणोद्भटो नागेशभट्टो वक्ति-"समासादिपञ्चसु विशिष्ट एव शक्तिः नत्ववयवे" इति शम्।

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

पातञ्जले महाभाष्ये उपवर्णितं कृषिविज्ञानम्

–डॉ. मधुकेश्वरभट्टः

सहायकाचार्यः, व्याकरणम्,

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, नवदेहली

उमाजानिजटाकलापगलितमन्दाकिनीव पूततमेयं सुरभारती। नैकानि अनर्घ्यरत्नानि बिभ्राणा रत्नगर्भा वसुन्धरेव नानाज्ञानविज्ञानरत्नानि निगूहन्ती विराजतेतमामियं गैर्वाणी। अमुष्यां भाषायामेव वेदाः, शास्त्राणि, पुराणानि, काव्यानि च विलसन्तीति जानीते पण्डितपामरसन्दोहः। मुखं व्याकरणं स्मृतम्[1] इति पाणिनीयशिक्षावचनात् वेदाङ्गेषु व्याकरणशास्त्रस्य प्राधान्यं न केवलं वैयाकरणैः अपि तु सर्वैरपि शास्त्रचणसन्दोहैः ऊर्यकारि। पाणिनिना उप्तं, कात्यायनेन पुष्पितं, भगवता पतञ्जलिना फलितं व्याकरणशास्त्रम् अद्यापि विलालसीति लोके। तत्रापि पातञ्जलमहाभाष्यस्य भाषासौष्ठवं कठिनस्यापि विषयस्य सुलभतया प्रतिपादनं सर्वत्र शब्दस्य शब्दार्थस्यापि सफलत्वमित्यादिगुणसन्दोहमवलोक्य कस्य चेतो न चित्रीयेत्। तथा चावादि पुण्यराजेन वाक्यपदीयकारिकाव्याख्यावसरे **"तच्च भाष्यं न केवलं व्याकरणस्य निबन्धनं यावत्सर्वेषां न्यायबीजानां बोद्धव्यमित्यत एव सर्वन्यायबीजहेतुत्वादेव महच्छब्देन विशेष्य महाभाष्यमित्युच्यते लोके"**[2] इति। एवं वाक्यपदीये द्वितीये काण्डे ऊचे महाभाष्यवैभवम्–

प्रायेण संक्षेपरूचीनल्पविद्यापरिग्रहान्।
सम्प्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेस्तमुपागते।।

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरूणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने।।[3]

महाभाष्यं न केवलं व्याकरणसम्बद्धं किन्तु लौकिकविषयाणां विज्ञानस्य च भाण्डागारो विद्यते। महाभाष्यावलोकनेन महाभाष्यकारस्य समये भारतस्य दशा

1. पाणिनीयशिक्षा 42
2. वाक्यपदीयकारिकाव्याख्याने
3. वाक्यपदीयम् 476-477

कीदृशी आसीत्? कथं चैतद्देशीयाः कालम् अयापयन्? कृष्यादिकं तदा कीदृशम् आसीत्? इति ज्ञातुं प्रभवामः। यद्यपि तज्ज्ञानस्य प्रत्यक्षं तादृशसामग्र्यभावादशक्यमपि भाष्यप्रदत्तोदाहरणादिना अनुमातुं शक्यं स्यात्। यतः स्वाभाविकोऽयं तत्कालव्यवहार-प्रतिबिम्बं सामाजिकानां लौकिकेष्वाचारेषु अवतरति किमुत विशिष्टग्रन्थप्रणीत-ऋषिव्यवहारेषु।

विषयप्रवेशः

कृषिकर्म भारतीयानां जीवनमूलाधारो विद्यते। भारते काचन भूमिः नदीमातृका भूमिः काचित् देवमातृका भूमिश्च दृश्यते। कृषिमवलम्ब्यैव अधिका जनाः जीवनं यापयन्ति। तथापि अधुना कृषिकर्मणि नूतनाः पद्धतयः सन्दृश्यन्ते। किन्तु महाभाष्य-काराणां काले कृषिपद्धतिः कीदृशी आसीदिति प्रबन्धे उपस्थाप्यते।

कृषिः-

"वर्णो वर्णेन"[1] इति सूत्रे भाष्ये "इह हि सर्वे मनुष्याः अल्पेनाल्पेन महतो महतोऽर्थानाकाङ्क्षन्ति। एकेन माषेण शतसहस्रम् एकेन कुद्दालपदेन खारीसहस्रम्" इत्यवादि। सर्वेषां मनुष्याणामयं स्वभावः यदल्पेन प्रयत्नेनाल्पेन मूल्येन वा महती कार्यसिद्धिः स्यादिति। एकमाषसुवर्णेन शतं वस्त्राणि अपीच्छन्ति, अथवा उप्तेनैकेनमाषेण सहस्रसंख्याकान् माषान् अपि ईप्सन्ति। तथा कुद्दालपदेनैकेन-खनित्राग्रस्थितपरिमित-धान्येन-तादृशधन्यवापेन, अथवा खननार्थं भूम्यां पातितः कुद्दालः यत्परिमितेन क्षेत्रेण खारीणां सहस्रमिच्छन्ति। कर्षकाणामयं व्यवहारः एकस्मिन् दिवसे एकेन हलेन यावत् क्षेत्रं कर्ष्टुं शक्यं तदैव उच्यते एकहलं क्षेत्रमिति। तथैकेन कुद्दालपदमिति, एकेन कुद्दालपदपरिमितिक्षेत्रेण खारीसहस्रमिच्छन्तीति तद्भावः। एकेन इयद्धनं भवति इयद्धनं चापेक्षते- इत्येतादृशं क्षेत्रविषयकं संशोधनं तदानीमासादिति निश्चयेन ज्ञायते। खारीशब्दः हिन्दीभाषायां मण- इत्याख्येन परिमाणविशेषे व्यवहारो भवति। खारीसहस्रं मणसंज्ञाकानां षट्सहस्राणामेकेन कुद्दालपरिमितक्षेत्रेण उत्पादनमिच्छन्ति। एवं कुद्दालपरिमितक्षेत्रं यथा एकहलं क्षेत्रं भाषायां एकड़-इत्याख्यात् किञ्चिद् न्यूनं प्रायो व्यवह्रियते। एकेन हलेन यावत्कर्ष्टुं क्षेत्रं शक्यं तस्य तृतीयो भागः एकेन पुरुषेण कुद्दालेन कर्ष्टुं शक्यमित्यर्थः। एकड़- इत्यस्य तृतीयो भागः कुद्दालपरिमितं क्षेत्रं स्यात्। एकस्मिन् कुद्दालपरिमिते क्षेत्रे तदा खारीशतं (त्रिंशत्संख्याकाः द्रोणाः) भवन्ति स्म इत्युनुमीयते। ईदृशी धान्योत्पत्तिः तदासीत् इति ज्ञायते।

---

1. अष्टा 2-1-69

अदेवमातृका कृषिः-

धान्यानामुत्पादने यादृशो व्यवहारः जनानां तेनैतज्ज्ञायते- न केवलं वर्षाकालैव शालीनुदपादयन् किन्तु अवर्षायां हेमन्तकालादावपि शालीनुदपीपदन्निति। तद्यथा "मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च"[1] इति सूत्रे भाष्ये ऊचे "अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति। तद्यथा शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते ताभ्यश्च पानीयं पीयते, उपस्पृश्यते च शालयश्च भाव्यन्ते" इति व्यवहारदर्शनात् शाल्यर्थं कुल्यानां बहुप्रचारः आसीदिति निश्चिनुमः। अत एव "बहुगुणवतुडति संख्या"[2] इत्यादौ शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते इति पातञ्जले उक्तिः संगच्छते। कुल्यशब्दश्च कृत्रिमनदीवाचको भवति। "कुल्याल्पा कृत्रिमा सरित्"[3] इत्यमरकोशकृत्प्रयोगात् कुल्या जलप्रवाहिका अल्पा नदी भवति। तथाविधानां कुल्यानां निर्माणेन समृद्धं धान्यं लभ्यते इत्यनुमीयते।

कृषिकर्माणि-

कर्षकाणां क्रियाकलापोऽपि उपावर्णि भाष्ये तद्यथा "कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः"[4] इत्यत्र "कथं ज्ञायते भिद्यते कुसूलेनेति। न चान्यः कर्ता दृश्यते क्रिया चोपलभ्यते। किञ्च भो विग्रहवतैव क्रियायाः कर्त्रा भवितव्यम्, न पुनर्वातातपकाला अपि कर्तारः स्युः। भवेत्सिद्धं यदि वातातपकालानामन्यतमः कर्ता स्यात्। यस्तु खलु निवाते निरभिवर्षे अचिरकालकृतकुसूलः स्वयमेव भिद्यते तस्य नान्यः कर्ता भवति अन्यदतः कुसूलात्। यद्यपि तावदत्रैतच्छक्यते वक्तुं यत्रान्यः कर्ता नास्ति। इह तु कथं लूयते केदारः स्वयमेवेति। यत्रासौ देवदत्तो दात्रहस्तः समन्ततो विपरिपतन् दृश्यते। अत्रापि यासौ सुकरता नाम तस्या नान्यः कर्ता भवति अन्यदतः केदारात्" इति। अयमर्थः भिद्यते कुसूलः स्वयमेव इत्यत्र कसूलस्य कथं कर्तृत्वमित्याक्षिप्य न चान्यः कर्ता दृश्यते क्रिया चोपलभ्यते अतः कोऽपि कर्ता अवश्यमाश्रयणीयः स च अन्याभावत्कुसूल एव। विग्रहवतैव शरीरेणैव केचन कर्त्रा भवितव्यमिति न किन्तु वातातपादयोऽपि कर्तारः। एवमपि यत्र वातवर्षदिकं नास्ति नूतनश्चकुसूलः स्वयमेव भिद्यते तत्र कुसूलः एव कर्ता। कुसूलविषये तत्रान्यः कर्ता नास्ति। किन्तु यत्रान्यः कर्ता दृश्यते तत्रापि लूयते केदारः स्वयमेवेति कथं? तत्र दात्रहस्तो देवदत्तः इतस्ततः धावन् दृश्यते तत्र देवदत्त एव कर्ता इति वक्तुं युक्तम् इति चेत् तत्रेदं

---

1. अष्टा 6-1-50
2. अष्टा 1-1-23
3. अमरकोषः 1-296
4. अष्टा 3-1-87

समाधनम्- अत्र या सुकरता तस्याः कर्ता केदार एव नान्यः कर्तेति निर्णयः। एवं च लूयते केदारः भिद्यते कुसूलः इत्यादौ केदारादीनां कर्तृत्वमुपपद्यते। कुसूलः- अर्धभित्तिसदृशो मृत्तिकाभिः पाषणैर्वा क्षेत्रादीनां संरक्षणार्थं निर्मीयते। यदा दात्रखनित्रहस्तो देवदत्तः केदारं लुनाति तदा केदारगतसौकर्यातिशयात् देवदत्तस्य परिक्लेशो न, केदारश्च लूनो भवति तदा कर्मणः कर्तृत्वविवक्षया लूयते केदारः इति भवति। यदा क्षेत्रे अधिकजलसंचयो जायते तत्र तच्च शालीनां नावश्यकं तदा नालिकया क्षेत्राज्जलं निष्कास्यते। यदाधिकजलसंचयात् दात्रसंसर्गमात्रेण नालिका जायते तदा केदारस्य कर्तृत्वम् इत्यर्थः। यथेदानीं जलसंचयापकरणे कर्षका दक्षा भवन्ति तथैव प्रागपि व्यवहार आसीत्।

क्षेत्रपरीक्षा-

धान्येषु नैके प्रकाराः विद्यन्ते तथैव क्षेत्रेषु नैके प्रकारा भवन्ति। एतद्गुणविशिष्टे क्षेत्रे असौ धान्यविशेषः उद्भवति इति ज्ञानाय क्षेत्रं परीक्षन्ते। भाष्यकाराणां कालेऽपि एतादृशी विचिकित्सा आसीत्। तथा चोच्यते "कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः"[1] इति सूत्रे "सम्पद्यन्ते यवाः सम्पद्यन्ते शालय" इति। सम्पद्यन्तेऽस्मिन् क्षेत्रे शालय इति। अस्मिन् क्षेत्रे शालयो भविष्यन्ति अस्मिंश्च यवा भविष्यन्तीत्यनेनास्मिन् क्षेत्रे यवापेक्षया समीचीनाः शालयः सम्भविष्यन्तीत्यर्थो गम्यते। एतच्च तदैव युज्यते यदा क्षेत्राणां धन्यादीनां विशिष्टोऽभ्यासः सम्पत्स्येत।

क्षेत्रमितिः-

कृषिकर्म यस्मिन् क्षेत्रे प्रवर्तते तत्र क्षेत्रमितेः स्वामिसम्बन्धस्य च ज्ञानमावश्यकम्। तदर्थमत्रावधेयम्-"मपर्यन्तस्य"[2] इति सूत्रे "अयमन्तशब्दोऽस्त्येव सह तेन वर्तते। तद्यथा मर्यादान्तं देवदत्तस्य क्षेत्रम्, सह मर्यादयेति गम्यते। अस्ति प्राक् तस्माद्वर्तते। तद्यथा नद्यन्तं देवदत्तस्य क्षेत्रमिति प्राक् नद्या इति गम्यते। तद्यः सह तेन वर्तते तस्येदं ग्रहणं यथा विज्ञायेत। नैतदस्ति प्रयोजनम्। सर्वत्रैवान्तशब्दः सह तेन वर्तते। अथ कथं नद्यन्तं देवदत्तस्य क्षेत्रमिति? नद्याः क्षेत्रत्वे सम्भवो नास्तीति कृत्वा प्राक् नद्या इति गम्यते" इत्युक्तम् अत्र क्षेत्राणां मर्यादाप्युक्ता। एवं पर्यन्तस्य इति सूत्रे "पर्यन्तस्येति किमर्थमुच्यते, मान्तस्येत्येव वक्तव्यमित्याक्षिप्य अन्तशब्दस्य व्यभिचारदर्शनात् परिग्रहणमकारि इत्युक्तम्। अन्तशब्दः सर्वत्रदृष्टापचार एव नद्यन्तं देवदत्तस्य क्षेत्रमित्यादौ नद्याः क्षेत्रत्वासम्भवान्न नद्यन्तपदेन नद्याः क्षेत्रे समावेश इति

1. अष्टा 5-4-50
2. अष्टा 7-2-91

तद्भावः। अत्र देवदत्तस्य क्षेत्रमिति क्षेत्रादीनां स्वामिसम्बन्धे बोधितः। यथा मर्यादा इत्यनेदानीं क्षेत्रसीम्नि पाषाणादीन्युपन्यस्यते, तदा इदं क्षेत्रं देवदत्तस्य न तु यज्ञदत्तस्य इति गम्यते, तथैव तदापि व्यवहारः आसीदिति ज्ञायते।

कर्षकः-

कर्षकपदवाच्याः के भवन्ति इत्यवलोकनमपि सुसम्बद्धं स्यात्। तथा हि "हेतुमति च"[1] इति सूत्रे ण्यिच्प्रत्ययोत्पत्तिविचारवेलायां "कृष्यादिषु चानुत्पत्तिर्वक्तव्या। एकान्ते तूष्णीमासीन उच्यते पञ्चभिः हलैः कृषतीति। तत्र भवितव्यं पञ्चभिर्हलैः कर्षयतीति"। तदा वार्तिककारैः अवदि "कृष्यादिषु चानुत्पतिर्नाना क्रियाणां कृष्यर्थत्वात्"। "कृष्यादिषु चानुत्पत्तिः सिद्धा कुतः नानाक्रियाणां कृष्यर्थत्वात्। नाना क्रियाः कृषेरर्थाः। नावश्यं कृषतिर्विलेखने एव वर्तते किं तर्हि? प्रतिविधनेऽपि वर्तते। यदसौ भक्तबीजबलीवर्दैः प्रतिविधनं करोति स कृष्यर्थः"। अतश्च प्रतिविधनेऽपि वर्तते कृष्यादिधतोर्णिजनुत्पत्तिः वक्तव्या यतः तूष्णीमासीनोऽपि-अकिञ्चित्कुर्वाणोऽपि देवदत्तः पञ्चभिर्हलैः कृषति इति स्यात् इत्याक्षेपः कृतः तदा वार्तिककारः समाधत्ते पञ्चभिः हलैः कृषतीत्यत्रा णिचः प्राप्तिरेव नेति, णिचः अनुत्पत्तिर्वक्तव्या यतो हि नानाक्रियार्थकः कृषधातुः इति। कृषधातुः न केवलं विलेखनमात्रार्थे किन्तु विलेखनप्रेरणे, विलेखनोपकारकरणे विलेखनविषये प्रतिविधनकरणेष्वर्थेषु च विद्यते। तथा च यत्र स्वयं कृषति तत्रापि देवदत्तः कृषति, यदा देवदत्तस्य भृत्याः कृषन्ति तत्रापि देवदत्तः कृषति, यत्र च देवदत्तस्यांशभागिनः कृषन्ति तत्रापि देवदत्तस्य प्रतिविधनकर्तृत्वात् देवदत्तः कृषति इति च व्यवहारो भवति। एवञ्च तदानीन्तने समये कर्षकपदवाच्याः यः स्वयं कृषति यो भृत्यद्वारा, यो भागदानेन यश्च बीजबलीवर्दादिसम्पादनेन ते सर्वेऽपि इति निर्णयः। कृषिः एकसाध्या न बहूनां साहाय्यसमवधाने एव सम्पन्ना भवति। यः कृषति सः कर्षक इत्येवोपादाने न तेनैकेन समीचीना कृषिःस्यात् न च धन्यसमृद्धिश्च स्यादिति।

शालिप्रकाराः-

धन्यानां प्रकारा अपि भिन्नास्तद्देशविशेषणविशिष्टा भिन्नरूचयश्च यथेदानीम् अवलोक्यन्ते तथा तदानीमप्यासन्। तच्च यथा "वर्णो वर्णेन"[2] इति सूत्रेलोहितशालिमान् ग्रामः इत्युदाहारि। केचिच्च शालयो लोहितवर्णा भवन्ति अपरे न। कस्मिंश्चिद्ग्रामे

---

1. अष्टा 3-1-26
2. अष्टा 2-1-69

विशिष्टवर्णाः शालयः सम्भवन्ति। क्वचिच्च ग्रामः सर्वबीजी भवति, कश्चिच्च न तथेत्येतदपि तस्मिन्नेव सूत्रे सर्वबीजी ग्रामः इत्युदाहरणादवसीयते।

उपसंहारः-

पातञ्जलमहाभाष्यं न केवलं पदसाधुत्वं व्याकरोति किन्तु सर्वज्ञानविज्ञाननिकरो विद्यते। न केवलं कृषिविज्ञानं, वस्त्रविन्यसकला चिकित्साविषयः सामाजिकव्यवहारश्च-महाभाष्यात् विज्ञायते। अतः अभियुक्तिः प्रसिद्धा "महाभाष्यं वा पठनीयम्, महाराज्यं वा पालनीयम्" इति।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

प्राचीनभारतीयभाषाविद्वद्भिः प्रदत्तम् अमूल्यं योगदानम् संस्कृतशास्त्रे रसायनविज्ञानम्

-डा. रावूरि गायत्रीमुरलीकृष्णः

सहायकाचार्यः, शिक्षाविभागः,
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, नवदेहली

जीवजगत्यस्मिन् शास्त्रज्ञानम् एव सज्ज्ञानं वर्तते। यतोहि शास्त्रेषु अनेके शैक्षिकविषयाः शास्त्रसम्मताः दरीदृश्यन्ते । मानवीयशास्त्रीयजैवपरिमण्डले संस्कृतशास्त्रं तु प्राणवायुरिव वेविद्यते इति कथने नास्ति संशीतिः। यथा प्रोक्तं ऋग्वेदे–

यददो वात ते गृहे-अमृतस्य निधिर्हितः।
ततो नो देहि जीवसे॥[1]

वेदेषु उपवेदेषु उपनिषत्सु ब्राह्मणग्रन्थेषु पुराणेषु दर्शनेषु वेदाङ्गेषु च बहुत्र आधुनिकवैज्ञानिक सिद्धान्तानां समतौल्यसिद्धान्ताः अतिप्राचीनवैदिककालतः प्रतिपादिताः दृश्यन्ते। अनन्यशास्त्रसमन्वितम् इदं विभूषितं भारतीयसंस्कृतविज्ञानं समग्रविश्वेन पूजितञ्च। एतद् भारतीयशास्त्रं षड्दर्शनान्वितं मन्वादिस्मृतिसहितं तन्त्रश्रौतधर्मशास्त्रसङ्गीतकाव्यादिभिः सुशोभितं रसेत्यादिवैमानिकाणुशास्त्रसमन्वितम् च राराज्यते। संस्कृतं निखिलवैदिकलौकिकशास्त्रवाङ्मयं भूत्वा विश्वसृष्टेः आरभ्य अतिरहस्य- वैज्ञानिकविषयान् अद्य प्रभृति प्रसारयामास। अत एवोच्यते **"संस्कृतं नाम दैवीवाक् अन्वाख्याता महर्षिभिः"** इति।

संस्कृतभाषा आर्यभाषाणां जननी आर्येतरभाषाणां च पोषिणीव विराजते। प्रचीनतमेयं भाषा सर्वाभ्यः भाषाभ्यः गरीयसी। अमुष्याः भाषायाः वाङ्मयसम्पत्तिः अति विस्तृता। नान्यासु भाषासु एतादृशविस्तृतवाङ्मयसम्पत्तिः दृश्यते। अनुसन्धानप्रसङ्गे प्रामुख्येण प्रामाणिकतायै शास्त्रीयभाषाग्रन्थाः एव स्वीक्रियन्ते। अमुष्याः संस्कृतभाषायाः वाङ्मये चतुर्दशविद्याः, इतिहासद्वयं, साहित्यशास्त्रम् आधुनिकसंस्कृतकृतयश्च समाह्रियन्ते। यथा–

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रञ्च विद्याह्येताश्चतुर्दश॥

1. ऋग्वेदः 10-186-3

शिक्षाव्याकरणं छन्दो, निरुक्तं ज्योतिषं तथा।
कल्पश्चेति षडङ्गानि वेदस्याहुर्मनीषिणः॥

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डुक्यतित्तिरिः।
ऐतरेयञ्च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा॥

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
अनापलिङ्गकूस्कानि पुराणानि प्रचक्षते॥

तथैव च षोडशस्मृतयः, साहित्यशास्त्रान्तरभूतानां कालिदासादीनां कृतयः, मम्मटादीनाम् आलाङ्कारिकग्रन्थाश्च अन्तर्भवन्ति। अतः अस्मिन् शास्त्रवाङ्मये यः लौकिक-पारलौकिकज्ञानस्य निधिः वर्तते सः कामधेनुरिव ज्ञानविज्ञानपोषको विद्यते।

संस्कृतजगति शास्त्रं तु निष्कलङ्कितम्, निर्विकारम्, निर्द्वन्द्वम्, शाश्वत-मात्मतत्वमिव राराजते। अतः सत्यमेवोक्तम्-**"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।"** इति। अनया सूक्त्या अत्यन्तं परिमार्जितं वैदुष्यपूर्णं गैर्वाण्या विभूषितम् बोभूयते शास्त्रम्। अत्र इयम् अतिशयोक्तिः न भविष्यति यत् शास्त्रज्ञानं विना मानवः मूल्यहीनः भवतीति। येन विना जीवनं सर्वथा सर्वदा पुरुषार्थरहितं रसविहीनञ्च दृश्यते। प्राच्यशास्त्रेषु विविधविषयाणां सम्यक् दिग्दर्शनं प्राक्कालादेव विद्यते। शास्त्रे आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकोद्देश्यानां च पूर्तये पूर्णसक्षमाः शैक्षिक-सिद्धान्ताः प्राचुर्येण विद्यन्ते। पाश्चात्याधुनिकविद्वांसः भारतीयशास्त्रज्ञैः प्रदत्तदिग्दर्शनैः चक्षुष्मन्तः निगद्यन्ते। गैगीर्वाण्यामस्यां पुरातननवीनशास्त्राणि समन्वितविधानानि वर्तन्ते। यत्र विविधशास्त्राणां समवायः विद्यते। यथा- आधुनिकविज्ञाने ये ये वैज्ञानिकसिद्धान्ताः सन्ति तेषां सर्वेषां भौतिकरसायनजन्तुशिल्पकृषिविज्ञानगणितज्योतिष-वृष्टिपर्यावरण-भूगर्भायुर्वेदप्रबन्धनशास्त्रविज्ञानमित्यादीनामादिरत्रैव दृश्यते। अतः शोधपत्रे अस्मिन् **प्राचीनभारतीयभाषाविद्वद्भिः प्रदत्तम् अमूल्यं योगदानम्- संस्कृतशास्त्रे रसायनविज्ञानम् (Science of Chemistry in Sanskrit&Shastra)** इति विषयः प्रस्तूयते।

1. प्राचीनभारतीयसंस्कृतशास्त्रे रसायनविज्ञानम्

रसायनविज्ञानं विज्ञानस्य सा शाखास्ति यत्र प्रकृतेः विद्यमानपदार्थानां रसानां च बृहदध्ययनं क्रियते। (Chemistry is a branch of science where study the defferent types of Elements eñisisted in the Nature-)

महर्षिभिः शास्त्रेषु एतेषाम् अनेकानेकरसायनानां पदार्थानाञ्च रासायनिकगुणधर्माणां वैशिष्ट्यानि वर्णितानि। यथा- शास्त्रेषु रजतः (Silver), सुवर्णः (Gold), ताम्रम् (Copper) इत्यादीनाम् अनेकानाम् अयसां लौहानाञ्च विषये विशेषतः प्रविधयः

प्रोक्ताः। भारतीयौषधशास्त्रज्ञस्य **आचार्यचरकस्य चरकसंहिता** इति ग्रन्थे शरीरस्थानप्रकरणे अनेकपदार्थानां विवरणं प्राप्यते। तत्र आचार्येण अनेकानेकपदार्थानां गुण-धर्माणां विस्तृतविवरणं प्रदत्तम्। तत्-तत् पदार्थानां लक्षणानि वैशिष्ट्यानि, वर्णः (Colour), रुचयः (Tast), आघ्राणम् (Smelling) इत्यादीनां प्रकाराणामनुगुणम् ओषधानां निर्माणं सम्भवति। तथैव भारतीयायुर्वेदज्ञेन **आचार्यवराहमिहिरेण** प्रणीतायां **बृहत्संहितायाम्** (Brihatta- sanhita) अस्थिरोगचिकित्सास्थाने वज्रलेपनं, वज्रसङ्घटनं (Orthopedic Treatment System) इत्यादिचिकित्सकीयप्रक्रियाणां व्याख्यानं विस्तृतेन प्रदत्तम्। यथा-

अष्टौ सीसकभागाः कंसस्य द्वौ तु रीतिकाभागः।
मयकथितो योगोऽयं विज्ञेयो वज्रसंघातः॥[1]

आमं तिन्दुकमामं कपित्थं पुष्पमपि शाल्मल्याः।
अतसी बिल्वैश्च युतः कल्कोऽयं वज्रलेपाख्यः॥

प्रासाद-हर्म्यवलभी-लिङ्गप्रतिमासु कूड्यकूपेषु।
संतप्तो दातव्यो वर्षसहस्रायुतस्थायी॥[2]

नागार्जुनेन अपि स्वीये **रसरत्नाकरसिद्धान्तग्रन्थे** सुवर्णादिपदार्थानां शुद्धीकरणाय एवं पारदसुवर्णगन्धकरसायनयुक्तं बोरक्स (Borañ) नामकरसायनेन सह समरसायनानां निर्माणार्थं तथा दिव्यदेहप्राप्त्यर्थम् अनेकानां सिद्धान्तानां प्रतिपादनं कृतम्। इत्थं रासायनिकपदार्थानां वर्गीकरणं रसरत्नसमुच्चये दशप्रकारेषु निर्दिष्टम्। यथा-

1. सामान्यरसः 2. रत्नम् 3. धातुः 4. महारसः 5. उपरसः 6. विषम् 7. क्षारम् 8. लवणम् 9. लौहभस्मः 10. आम्लम् इति। रसार्णवग्रन्थे मुख्यमहारसाः अष्टप्रकारकाः वर्णिताः-

माक्षिकं विमलं शैलं चपलं रसकस्तथा।
सस्यको दरदश्चैव स्रोतोऽञ्जनमथाष्टकम्॥[3]

1.1. **मुख्यरसायनपदार्थाः (Main Chemical Substances)** – प्रायः शास्त्रेषु प्रोक्तानां विविधरसानामाधुनिकनामभिः सह तुलनायाम् इत्थं लेखितुं शक्यते-

1. रसकम् / दरदम् [Calamine (जिंक Zn)]

2. अभ्रकम् [Mica]

---

1. बृहत्संहिता- बज्रलेप.- 8
2. बृहत्संहिता- वज्रलेप. 1-4
3. रसार्णवः 7. 2

3. शीलाजीतम् [Asphat/ Bitumen]

4. सास्यकम् [Copper Sulphate (Blue vitriol)]

5. वैक्रान्तम् [Fluorspar] Calcium Fluoride (CaF2)]

6. विमला [Cubic Sulphide of Iron (Fe2S8)]

7. माक्षिकम् [Copper Pyrites]

8. चपलम् [Hg.]

2. संस्कृतरसायनशास्त्रे विषपदार्थाः (Poisons Substances in the Shastra)

अस्माकं प्राकृतिकपरिवेशे स्वास्थ्यसंरक्षणार्थमुपकर्तुम् अनेके विषपदार्थाः वर्तन्ते। ये अनेकेभ्यः पुष्पेभ्यः पादपेभ्यः वृक्षेभ्यश्च उपलभ्यन्ते। ये विविधरासायनिक-क्रियाभ्यः पद्धतिभ्यश्च प्राप्यन्ते। तस्मात् तेभ्यः पादपेभ्यः, पयोभ्यः, जीवजन्तुभ्यश्च, विविधरासायनिकपद्धतिभ्यश्च जनितविषपदार्थाः दशाधिकाः विज्ञाताः। ये अनेकक्षाराम्लरूपेषु विद्यन्ते। यथा-क्षाराणि, अम्लानि च (Acids And Alkalies)। प्रायशः पुराकाले आधुनिके वा अनेकानेकपदार्थेषु वर्णेषु विस्फोटकपदार्थेषु सुगन्धपदार्थेषु औषधनिर्माणेषु च विषपदार्थानाम् अम्लक्षाराणि अत्यधिकतया उपयुज्यन्ते स्म। यथा–

ताम्रदाहजलैर्योगे तुत्यकम् अति शुभ्रं जायते।
क्षारत्रयं समाख्यातं यवस्वरजिकटङ्कणम्।[1]

त्रिक्षाराः टङ्कणक्षारो यवक्षारश्च सर्जिका।[2]

सर्वपदार्थद्रावणम् [(अम्लराजः) 3Hcl + HNo3 (Aqua Regia)] इत्याख्येन आम्लानि आकार्यन्ते स्म। रसार्णवग्रन्थे एतन्निर्माणपद्धतिः प्रदत्ता। यथा-

कासीसं सैन्धवं माक्षी सौवीरं व्योषगन्धकम्
सौर्वाचलं व्योषका च मालती-रससंभवः।
शिग्रुमूलरसैः सिक्तो विडोऽयं सर्वजारणः॥[3]

काशीसं (FeSo4 7H2), सैन्धवलवणम् [Rock salt (Nacl)], सौवर्चलम् (KNo3), विविधसुगन्धिपदार्थान् वृक्षेभ्यः सञ्चित्य कतिपयपर्णसारान् संयोज्य सर्वपदार्थद्रावणं निर्मीयते। दाहकक्षाराणि (Causfic Alcalis [NaoH] KoH) आचार्यसुश्रुतेन रचितायां **सुश्रुतशास्त्रचिकित्सायां व्रणचिकित्सास्थाने** क्षारसूत्रेण-

1. रसरत्नाकरसंहिता 10.68
2. रसार्णव. 5. 35-36
3. रसार्णव 9.2-3

व्रणचिकित्सा क्रियते स्म। तत्रैव क्षारचिकित्सापद्धतेः विकासः अपि अभवत्। धातुलवणेषु क्षारणकरणशक्तियुक्तत्वात् सुश्रुतः एतेषां नाम क्षाराणि इति चकार।

रसरत्नसमुच्चय इत्याख्ये ग्रन्थे वर्णितम्-रसायनशास्त्रे जैविकपरिवेशे लवणम् एकम् अति महत्त्वपूर्ण घटकं भवति। यस्य अनुपस्थित्या आधिक्येन वा उत्तमस्वास्थ्यं विशेषतया प्रभावितं भवति। शास्त्रे लवणस्य स्वरूपम् अनेकधा दृश्यते। यथा- लवणानि षट् उच्यन्ते-

सैन्धवं, वीडनम्, सौवार्चलं रोमकञ्च।
चुल्लिकालवणं सामुद्रिकं तथा॥[1]

उपरोक्तश्लोके लवणस्य षड्स्वरूपाणि प्रदत्तानि तेषामाधुनिकनामानि इत्थं वर्तन्ते-

1. सैन्धवलवणम् (NaCl$Na2s)
2. वीडनलवणमिश्रणम् (Aquaregia)
3. सौवर्चलम् (Kno_3] Potassium Nitrate)
4. चुलिकालवणम् (NH4 Cl)
5. रोमकलवणम् (Na C1 75%+Na_2So4 18% traces of Na_2Co_3 5%)
6. सामुद्रिकलवणम् (Na c1+$Mgcl_2$)

एतदतिरिच्य लवणनिर्माणस्य प्रक्रिया अत्यधिकपरिमाणे पुरातनग्रन्थेषु प्राप्यते। यथा-

1. सौराष्ट्रजम् [1]K2 So4 +Al_2 $(Sa)_3$ $24H_2O$
2. सौवर्चलम् (Potassium Nitrate)
3. मकरध्वजम् (Mercuric Sulphide)

अत्र आरोहणक्रमे षट्क्षयनिरोधकस्वभावयुक्ताः लौहपदार्थाः प्रदत्ताः । यथा-

सुवर्णः रजतं ताम्रं वङ्गभुजङ्गमाः।
लोहकं षड्विधं तच्च यथापूर्वं तद्क्षयम्॥

अर्थात् रजतम्, तगरम्, सुवर्णम्, सीसम्, ताम्रम्, अयस्, इत्यनेनैव क्रमेण क्रमशः एतस्मिन् आधुनिके काले वैद्युतरसायनश्रेण्यानुरूपम् (Electrochemical Series) अस्ति। परिमलद्रव्याणां निर्माणविधिविधानानि गन्धयुक्तिः, गन्धसारः, बृहत्संहिता, मानसोल्लासः, गन्धवादः इत्यादिषु पुरातनग्रन्थेषु वैशिष्ट्येन वर्णितम्। यथा- सुप्रसिद्धे

---

1. रसरत्नसमुच्चयः 10.67

अजन्ताकुड्यचित्रलेखने एतेषां पद्धतीनामुपयोगः कृतः। येन सहस्त्र-सहस्त्राधिक-वर्षपर्यन्तं विनष्टो भूत्वा प्रजाकर्षकाः विद्येरन् इदानीम् अपि विभूषिताः सन्ति। शास्त्रे रसायनशास्त्रस्य वर्णनम् ऋग्वेदे नासदीयसूक्ते मार्मिकरूपेण वर्णितम्। यथा-

नासदासीन्नोसदासीत् तदानीम् नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुत्कस्थशर्भन्नभः किमासीद् गहनं गभीरम्॥

नमृत्युरासीदमृतं न तर्हि न शर्त्यासीत् आहन्न आसीत् पुरकेतः।[1]

सम्प्रति समग्रविज्ञानजगत् निरन्तरं प्रयासरतं विद्यते यत् सृष्टिरुत्पत्तेः प्राग्न्तरिक्षे किम् आसीत्? तत्र कानि-कानि वस्तूनि आसन्? तेषाम् आकार-प्रकारो वा कीदृशः आसीत्? तत्र आकाशादीनाम् अपि अवकाशावसरः आसीत् न वा? अत्र विश्वसृष्टेः प्राक् जगत्स्वरूपं कथमासीदिति सम्यक् रूपेण न विवृतम्। ते सदैव नित्यं नवीनतथ्यानाम् अन्वेषणाय प्रयासरताः सन्ति। तैः प्राकल्पितैः सर्वेषां प्रश्नानां सम्यक् समाधानं भारतीयशास्त्रेषु प्रचुरतया वर्तते। शास्त्रे **अधातुजरसायनविज्ञानम् (Inorganic Chemistry)** - जैवोत्पत्तेः विकासाय संवर्धनाय च आधुनिकवैज्ञानिकयुगे धातुजाधातुजरसायनानां महत्त्वम् अत्यधिकं वर्तते। तेषां रसायनानां सम्यग्ज्ञानम् अनुप्रयोगश्च व्यावहारिकजीवने अति महत्त्वपूर्णं भवति। अथर्ववेदे अधातुजरसायनस्य वर्णनं द्रष्टव्यम्-हरितम् (सोना), अयस् (लोहा), श्याम् (ताँबा), लोहम् (लोहा) इत्यादिधातुनां वर्णनं भवति। यथा-

अयस्मये द्रुपदे।[2]
हरिते त्रीणि, अयसि त्रीणि तपसाविष्ठितानि।[3]
अयस्यान् विचृता बन्धपाशान्।[4]

अतः अधातुजरसायनविवरणे वैदिकशास्त्रेषु लौहशास्त्रादीनाम् उल्लेखः कृतः। अर्थशास्त्रस्य जनकेन आचार्यकौटिल्येन रचिते विश्वप्रथिते **अर्थशास्त्रग्रन्थे 10 मुखस्थितयन्त्राणां, 16 चलयन्त्राणां, 11 हलमुखास्त्राणां, 5 बाणानां षड्विधिःकवचानाम्** उल्लेखाः सन्ति। शास्त्रे धातुजरसायनविज्ञानम् (Organic Chemistry) - शास्त्रेषु धातुजस्य अथवा कार्बनिकरसायनस्य उल्लेखः स्पष्टतया प्राप्यते। यथा-यजुर्वेदे **आसवं देववीतये**[5] इत्येतस्मिन् मन्त्रे **'सोम'/आसवम्'** इति शब्दस्य अर्थः भवति उत्तेजकः, प्रेरकः, स्फूर्तिदायकः इति। **अश्नवत्**

1. ऋ.नासदीय सूक्तम् 10-129
2. अथ. 6.63.3
3. अथर्ववेद 5.28.1
4. अथर्व. 6.63.2
5. यजु.वे. 22.13

सोमसुत्वा[1] **मध्वो रसम्**[2] इत्यादीनां मन्त्राणामुल्लेखो विद्यते शास्त्रेषु। अस्यायमर्थः विद्यते यत् - सम्मिश्रणेन त्रिविधपदार्थाः भवन्ति। यथा- दध्याशिरः, गवाशिरः, यवाशिरः इति। आचार्यकौटिल्येन रचिते अर्थशास्त्रे **सुराध्यक्ष** इत्याख्ये अध्याये (2. 25) षड्विधानां सोमरसानामुल्लेखः प्राप्यते। यथा-

मैरेयः, मेदकः, प्रसन्नः, आसवः
अरिष्टः, मैरेयः, प्रसन्नः, मधुपदार्थाः।[3]

शास्त्रेषु 'ताम्रम्' (Cu) इत्यनेन सुवर्णनिर्माणम् (Formation of Gold from copper) कथं विधेयमिति सुवर्णनिर्माणविधिः अपि शास्त्रेषु प्रोक्तम्। येन साहाय्येन ताम्रम् इत्यस्य लोहस्य च सुवर्णरूपेण (Gold) परिवर्तनं सम्भवति। यदा ताम्रं रसकरसेन सह त्रिवारं तप्यते तदा सः स्वर्णे परिवर्तितो भवति। द्रष्टव्यं रसरत्नाकरग्रन्थे-

किमत्र चित्रं रसको रसेन
क्रमेण कृत्वाऽम्बुधरेण रञ्जितः।
करोति शुल्वं त्रिपुटेन काञ्चनम्॥

अर्थात् ताम्रम् इत्याख्यः पदार्थः रसकरसेन (Calamiñ) त्रिवारं तप्यते चेत्सुवर्णत्वेन परिणमति इति।

इत्थं शास्त्रेषु अनेकानि उदाहरणानि रसायनशास्त्रस्य समुपलभ्यन्ते। तेषां प्रयोगः आधुनिककाले संस्कृतज्ञैः कर्तुं न शक्यं यतः तेषां प्रमाणपत्रं केवलं कलासु विद्यते न कुत्रापि प्रयोगशालाः सन्ति। तस्मात् यद्यपि विज्ञानं संस्कृतज्ञैरधीयते तथापि तत्सर्वं केवलं काशीजलमिव गृहेषु पूजमानं विद्यते। अतः निवेदनमिदं विद्यते यत् शास्त्रं शास्त्रत्वेन अध्येतव्यं सप्रयोगं सप्रमाणं पठनीयं येन संस्कृतज्ञाः अपि वैज्ञानिकाः भवितुमर्हन्ति।

✦✦✦

1. ऋ. 1.113.18
2. ऋ. 5.43.4
3. कौटिल्य अर्थशास्त्रे, पृ. 147-150

संस्कृत-विमर्शः 2017 (अङ्कः-12) ISSN : 0975-1769

महाभारतीया वैदेशिकनीतिः

-डा. टी. महेन्द्रः

सहायकाचार्यः, विशिष्टसंस्कृताध्ययनकेन्द्रम्
जवाहरलालनेहरूविश्वविद्यालयः, नवदेहली

संस्कृतसाहित्ये निखिलशास्त्रसारभूतत्वेन राराजमानं महाभारतं स्वीयानितर-साधारणविशेषेण जेगीयते। लोकोपकारकाणि नाना शास्त्राणि तत्र अन्तर्निहितानि वर्तन्ते। अत एवेदमालोचकैः अक्षयद्रुम इति, मनीषिभिः पञ्चमवेद इति च प्रस्तूयते।

स्वराज्यस्थितप्रजायाः योगक्षेमाय प्रत्येकेन प्रजापालकेन आ प्राचीनकालाद् अद्यावधि वैदेशिकराजैः सह अनुष्ठीयमानः व्यवहारः एव वैदेशिकनीतिरित्याचक्षते। आधुनिके प्रपञ्चे बहवः देशाः देशान्तरेण सह युद्धं समाचरन्तः प्रजायाः प्राण-धनादीनां च नष्टं कुर्वन्तः अत्यन्तं नाशमनुभवन्तश्च संदृश्यन्ते। अस्याः स्थितेः मूलकारणं लोपभूयिष्ठवैदेशिकनीतिरेवेति मुक्तकण्ठेन वक्तुं शक्यते। यतो हि कापि समस्या वा भवतु पराक्रमापेक्षया उपायेनैव साधयन्ति धीराः। अत एवोच्यते 'उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः।[1] अस्यां स्थितौ राजनीतिदृशा अत्युत्तमकाल इति सङ्कीर्त्यमाने महाभारतकाले कीदृशी वैदेशिकनीतिरनुसृता आसीत्? तस्याः वैदेशिकनीतेः का प्रासङ्गिकता? इत्यत्र विचार्यते।

वैदेशिकनीतिः चतुर्विधोपायाश्च

महाभारतस्य परिशीलनेन ज्ञायते यत् वैदेशिकनीत्याचरणं साम-दान-भेद-दण्डाख्यानां चतुर्विधोपायानाम् आधारेणैव कृतमित्यवबुध्यते।[2] यद्यपि महाभारते दण्डं विहाय त्रिविधोपायानामुखेखोऽपि कृतो दृश्यते[3] तथापि तत्र प्राधान्येन चतुर्विधोपायानां प्रयोगः एव संदृश्यते।

1. हितोपदेशः 1.172
2. कथं सान्त्वेन दानेन भेदैर्दण्डेन वा पुनः। म. भा. आदि. 140.24
   साम्ना भेदेन दानेन दण्डेनैव च भारत। म. मा. भीष्म. 9.75
3. उपायैस्त्रिभिरादानमर्थस्याह बृहस्पतिः। म. मा. शान्ति. 69.23

महाभारतं कथयति यत् – भूपतिः सततमेतेषां चतुर्विधोपायानां प्रयोगे जागरुको भवेदिति। यतो हि धनुष्मता प्रयुक्तः इषु एकं हन्तुं समर्थो भवेत्, न वा, किन्तु मेधाविपुरुषस्य प्रज्ञया सराजकं राज्यं नाशयितुं शक्यते। तदुक्तञ्च–

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं सराजकम्।।[1]

तत्र विराटपर्वणि कृपाचार्येणाऽपि इदमेवाभाषितं यत् समबलेन सह सामदानोपायौ, अपरस्याधिक्ये दानोपायः, स्वस्याधिक्ये दण्डोपायश्च अवशिष्टैस्सह करादान–मारणादीन् समाश्रित राजा एव चिरं सुखमवाप्नोति।[2] शान्तिपर्वणः अनुसारं शत्रुपक्षसैन्यं प्रबले सति आदौ सामोपायः प्रयोज्यः इति, तद्विफले सति दाननीतिरादर्तव्येति ज्ञायते। अथ च भेदसहितं दानं सर्वदा प्रशंसास्पदमित्यावेदयति–

दण्डो हि बलवान् यत्र तत्र साम प्रयुज्यते।
प्रदानं सामपूर्वञ्च भेदमूलं प्रशंस्यते।।[3]

शुक्रनीतिकारेणापि अयमेवाशयः प्रकटितः।[4] मिताक्षर्यां अनुसारम् एते सामादिचतुर्विधोपायाः केवलं राज्यव्यवहारसम्बद्धविषया न, अपि तु सकललोकव्यवहार–विषयाः।[5]महाभारते वैदेशिकव्यवहारे एते उपायाः बहुधा उपयुक्ताः दृश्यन्ते। सभापर्व आवेदयति यद् अर्जुनः गुह्यकान् सामोपायेनैव वशीकृतवान् इति।[6] श्रीकृष्णोऽपि कर्णं सामोपायेन पाण्डवपक्षमानेतुम् आदौ 'भवान् पाण्डवानां ज्येष्ठभ्राता' इत्यवादीत्। तद्विफले सति 'भवानेव राजा भविष्यती'ति दानोपायमपि प्रयुक्तवान्। तदपि विफलीभूते सति तं भेदोपायेन वशीकर्तुकामस्सन् 'पाण्डवा इव कौरवाः त्वां न पूजयन्ति'।[7]

---

1. म. मा. उद्योग. 33.43
2. साम्ना दानेन भेदेन दण्डेन बलिकर्मणा।
   न्यायेनाक्रम्य च परान् बलाच्चानाम्य दुर्बलान्।।
   सान्तयित्वा तु मित्राणि बलं चाभाष्यतां सुखम्।
   सुकोशबलसंवृद्धः सम्यक् सिद्धिमवाप्स्यसि।।
   एवं सर्वं विनिश्चित्य व्यवसायं स्वधर्मतः।
   यथाकालं मनुष्येन्द्र! चिरं सुखमवाप्स्यसि।। म.भा. विराट. 29.11–12,14
3. म.भा.शान्ति. 102.27
4. प्रबलेऽरौ सामदाने सामभेदाधिके स्मृतौ।
   भेददण्डौ समे कार्यौ दण्डः पूज्यः प्रहीनके।।
5. एते सामादयो न केवलं राज्यव्यवहारविषयाः, अपि तु सकललोकव्यहारविषयाः।
   मिताक्षरी 1–346
6. म.भा. सभा. 28.4 7. म.भा.उद्योग. 140 अध्यायः

इत्यवीवदत्। किन्तु दृढमतिः कर्णः श्रीकृष्णेन प्रयुक्तान् नाना उपायान् तिरस्कृत्य कौरवपक्षे एवातिष्ठत्।[1]

महाभारते क्वचित् सन्धिविग्रहाख्ये षाड्गुण्यनीत्यङ्गे अपि प्रयुक्ते दृश्येते।[2] कौरवैः साकं सन्धिं कर्तुं पाण्डवाः श्रीकृष्णं दूतरूपेण दुर्योधनसमक्षं प्रैषयन्। तयोर्विवादं शान्त्या परिष्कर्तुकामुकेन श्रीकृष्णेन सर्वादौ 'भवन्तौ परस्परं भ्रातरा'विति सामोपायः, तद्विफले सति 'पाण्डवानां पक्षे एतावन्तः राजानः सन्ती'ति संश्रावणेन भेदोपायं तदपि विफलीभूते 'केवलं पञ्चग्रामान् प्रयच्छतु' इति दानोपायमपि प्रायुज्यत। किन्तु युद्धचिकीर्षुणा दुर्योधनेन प्राप्ततिरस्कारो श्रीकृष्णः दण्डः एवात्र युक्ततमोपयः इति निर्णीयत।[3] तत्फलितमेव कुरुक्षेत्रसङ्ग्रामः। अस्मिन्नेव सन्दर्भे कणिकः सामाद्युपायैः शत्रुः कथं जेयः इति धार्तराष्ट्राय प्रोवाच।[4]

शत्रुराज्यनीतिः

वस्तुतः महाभारतं मित्रराज्यापेक्षया शत्रुराज्यं प्रति का नीतिरनुसर्तव्या इति विषये एव दत्ताधरो दृश्यते। तत्र शत्रुराज्यं प्रति, मित्रमिव व्याहरिष्यमाणं शत्रुं प्रति च कथं प्रवर्तेतेति विषयाः अत्र स्पष्टतयोखिखिताः। स्वभावतः शत्रुस्सन्नपि केनचित् कारणेन मैत्रीं व्याहरिष्यमाणेन नृपेण सह सर्पयुतगृहादिव जागरुको भवेदति सूचयति।[5] तादृशेन सह वाचा विनीतं व्याहरन् एव हृदयेन क्षुर इव तीक्ष्णः भवेदिति वेदयति।[6] अत्र शुक्राचार्यः कथयति यत् कोमलया गिरा भाषमाण एव रिपोः छिद्रं जानीयादिति।[7] महाभारतं वैदेशिकनीत्यवसरे कपटस्वभावं न केवलमनुमतः अपि तु सबलं निर्दिष्टं वर्तते। तत्र कणिकः दुर्योधनाय उपदिशति यद् राजा यथासमयम् 'अन्धः स्यादन्धवेलायां बाधिर्यमपि चाश्रयेत्'[8] इति।

---

1. उद्योग. 141 अध्यायः
2. न रोचते विग्रहो मे पाण्डुपुत्रैः कथञ्चन। आदि. 195.1
   न हि ते विग्रहं वीराः कुर्वन्ति कुरुभिः सह। उद्योग. 20.14
3. उद्योग. 150.9–18
4. उद्योग. 140.24–49
5. शत्रुञ्च मित्ररूपेण सान्त्वेनैवाभिसान्त्वयेत्।
   नित्यशश्चोद्विजेत् तस्मात् गृहात् सर्पयुतादिव।। म.भा. शान्ति. 140.15
6. वाचा भृशं विनीतः स्यात् हृदयेन तथा क्षुरः।
   स्मितपूर्वाभिभाषी स्यात्सृष्टो रौद्राय कर्मणे।। म.भा. शान्ति. 140.66
7. प्रफुखवदनेनैव तथा कोमलया गिरा।
   क्षुरधारेण मनसा रिपोश्छिद्रं सुलक्षयेत्।। शुक्रनीतिः 4–118
8. म.भा. शान्ति. 140.12

कश्चित् नृपतिः राजान्तरेण नितान्तं परिपीड्यमानस्सन्नपि, तस्मै हानिम् उचिते समये एव कुर्यात् न तु यथेच्छया इति महाभारतमनुशास्ति-

वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः।
प्राप्तकालं तु विज्ञाय भिन्द्याद्घटमिवाश्मनि।।[1]

यः कोऽपि राजा सकलविधबलोपचये सत्यपि स्वस्य शत्रोः नाशः यथोचिते काले एव करणीयः इति न तु स्वेच्छया इत्यनेन वाक्येन ज्ञायते। महाभारतं शिक्षयति यत्- वर्धिष्णुना भूपतिना कथञ्चिदपि शत्रुशेषः कर्तव्य एवेति।[2] तथैव शस्त्रमुद्यम्य आयास्यमानः पुत्रादिबन्धुरपि भूतिमिच्छता राज्ञा हन्यः एवेति च प्रबोधयति।[3] यतो हि-

दण्डेनोपनतं शत्रुं यो राजा न नियच्छति।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा।।[4]

अत एव महाभारतं उद्घोषयति यत्-

अमित्रं नैव मुञ्चेत वदन्तं करुणान्यपि।
दुःखं तत्र न कर्तव्यं हन्यात्पूर्वापकारिणम्।।[5]

अपि च दानाद्युपायैः शत्रोः प्रभुमन्त्रादीः त्रिस्रः शक्तीः अमात्यादि-पञ्चप्रकृतीः स्वाम्यादिसप्तराज्याङ्गानि च नाशयेदिति सूचयति।[6]

शत्रुगृहं कथं प्रवेष्टव्यमित्यपि महाभारतं वेदयति-

अद्वारेण रिपोर्गेहं द्वारेण सुहृदो गृहान्।
प्रविशन्ति नरा धीरा द्वाराण्येतानि धर्मतः।।[7]

यद्यपि महाभारते शत्रुः सर्वदा वध्यः इति प्रोक्तं किन्तु तच्च अनैतिकरूपेण न कदापि कार्यमित्यपि ब्रूते[8]। अपि च यो राजा अमित्रमपि शरणागतं दीनमनुगृह्णाति

---

1. म.भा. शान्ति. 140.18
2. वधमेव प्रशंसन्ति शत्रूणामपकारिणाम्। म.भा. आदि. 140.10
3. पुत्रः सखा वा भ्राता वा पिता वा यदि वा गुरुः।
   रिपुस्थानेषु वर्तन्तो हन्तव्या भूतिमिच्छता।। म.भा. आदि. 140.52
4. म.भा. शान्ति. 140. 30 5. म.भा. शान्ति. 140. 52
6. हन्यादमित्रं दानेन तथा पूर्वापकारिणम्।
   हन्यात् त्रीन् पञ्च सप्तेति परपक्षस्य सर्वशः।। म.भा. 140.157
7. म.भा. सभा. 21.53
8. व्यसने न प्रहर्तव्यं न भीताय जिताय च। म.भा. शान्ति.96.15
   न मर्षणीयाः सङ्ग्रामे विश्रमन्तः श्रमान्विताः ।
   सपत्नागलानमनसो लब्धलक्ष्या विशेषतः।। म.भा. द्रोण. 48.23

स एव पुरुषश्रेष्ठः इति[1]।

अनेन शस्त्रमुद्यम्य आयस्यमानः बन्धुरपि हन्यः इत्येका नीतिः, शरणागते सति शत्रुरपि क्षन्तव्यः इति द्विप्रकारकी वैदेशिकनीतिः महाभारते संलक्ष्यते।

वैदेशिकप्रतिनिधयः

वैदेशिकव्यवहारेषु राजकीयप्रतिनिधय एव प्राणभूताः वर्तन्ते। यतो हि राजा प्रत्यक्षरूपेण साधयितुम् अशक्यानि कार्याणि एतैरैव साध्यन्ते स्म। अत एव आ प्राचीनकालात् तेषां माहात्म्यं सर्वत्रोट्टङ्कितं दृश्यते। दूतमुखा राजानः, चारचक्षुषः इत्याद्युक्तयः तत्प्रमापयन्ति। वैदेशिकनीत्याचारणावसरे महाभारतं द्विप्रकारिकां व्यवस्थां समादृतं दृश्यते। तौ एव दूतचारौ। एते उभावपि परराष्ट्रगतविषयसङ्ग्रहणे नियुक्तौ बभूवतुः। किन्तु तत्र चराभिधेयस्तु स्वराष्ट्रगतविषयसेकरणायापि क्वचित् नियुज्यते स्म। यद्यपि कर्मदृष्ट्या दूत-चारयोर्मध्ये नास्ति महान् भेदः। तथापि कार्यकरणशैल्या तु तौ निश्चप्रचं भेदं भजेते। तत्र दूताभिधेयः परराष्ट्रं समर्यादम् आधिकारिकरूपेण गते सति चारभिधेयस्तु रहस्यतया गच्छतीति तयोर्भेदः।

दूतः

प्राचीनानां मनु-शुक्राचार्य-कामन्दकदीनामिव महाभारतकालेऽपि दूतानां प्राधान्यं नितान्तमासीत्। तात्कालिकदूतः आधुनिकदूताभिधेयवत् विदेशे शाश्वतरूपेण नैव उवास। स च कमपि विशेषं कर्म उद्दिश्यैव विदेशयात्रामकार्षीत्। तत्र दूतः कीदृशैः लक्षणैरुपेतः स्यादिति विषयः उद्योगपर्वणि शान्तिपर्वणि च स्पष्टतया निदिष्टो वर्तते। उद्योगपर्वणः अनुसारं दूतः अस्तब्ध-अक्लीबाद्यष्टगुणोपेतः भवेदिति चोक्तम्-

अस्तब्धमक्लीबमदीर्घसूत्रं सानुक्रोशं श्लक्ष्णमहार्यमन्यैः।
अरोगजातीयमुदारवाक्यं दूतं वदन्त्यष्टगुणोपपन्नम्।।[2]

किन्तु शान्तिपर्व सप्तगुणोपेतः स्यादिति कथयति।

कुलीनः शीलसम्पन्नो वाग्मी दक्षः प्रियंवदः।
यथोक्तवादी स्मृतिमान् दूतः स्यात्सप्तभिर्गुणैः।।[3]

---

1. अमित्रमपि चेद्दीनं शरणैषिणमागतम्।
   व्यसने योऽनुगृह्णाति स वै पुरुषसत्तमः।। म.भा. अनु. 59.102
2. म. मा. उद्योग 38.27
3. म. मा. शान्ति 85.28

यद्यपि उभयत्र क्वचित् भेदो संदृश्यते, तथापि प्राचीनैः मन्वादिभिः[1] प्रोक्तैः लक्षाणैस्समं सत्कुलीनः शीलसम्पन्नः इतीदं शान्तिपर्वण्युक्तं लक्षणमेव युक्तियुक्तमिवाभाति।

महाभारते दूताः तेषां स्थानञ्च

महाभारतकाले दौत्यकर्म महद्वैशिष्ट्योपेतमासीत्। तत्र एतत्कर्म बहुभिः निरूढमिति संज्ञायते। राज्ञः द्रुपदस्य पुरोहितः कौरवसमक्षं दूतरूपेण जगाम।[2] धृतराष्ट्रोऽपि सञ्जयं दूतरूपेणैव प्रैषयत्।[3] उलूकोऽपि दुर्योधनदूतत्वेन पाण्डव-समक्षमगच्छत्।[4] पाण्डवानां दूतरूपेण श्रीकृष्णोऽपि हस्तिनापुरमगमत्।[5] एवं महाभारते दूतरूपेण बहवः कार्यमकार्षुरिति ज्ञायते।

महाभारतकालिकसामाजिक-राजनैतिकस्थितिः परवर्तिनि कालापेक्षया गौरवप्रदा एवासीत्। यतो हि धर्मस्य ह्रासगमने तस्मिन् कालेऽपि रामायणकालवद्[6] दूतः सर्वतो भावेन अवध्यः एवासीत्। कस्याञ्चिदपि आपदि दूतः अवध्यः इति, यथोक्तवादिनं दूतं यो क्षात्रधर्मरतो राजा हन्ति, सः न केवलं आमात्यैस्साकं निरयं प्रविशति अपि तु तत्पितरोऽपि भ्रूणहत्या-जन्यं पापं लभन्ते इति-

न तु हन्यान्नृपो जातु दूतं कस्याञ्चिदपादि।
दूतस्य हन्ता निरयमाविशेत्सचिवैः सह॥

---

1. दूतञ्चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।
   इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गमम्॥
   अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित्।
   वपुष्मान् वीतधीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते॥ मनु 7.63-64
   प्रगल्भः स्मृतिमान् वाग्मी शस्त्रे च निष्ठितः।
   अभ्यस्तकर्म नृपते दूतो भवितुमर्हति॥ कामन्दकनीतिसारः-12.2
   आयव्यप्रविज्ञाता सुमन्त्र स च कीर्तितः।
   इङ्गिताकारचेष्टज्ञः स्मृतिमान् देशकालवित्॥
   षाड्गुण्यमन्त्रविद्वाग्मी वीतभी दूत उच्यते॥ शुक्रनीतिः- 2.85-86
2. अयं च ब्राह्मण शीघ्रं मम राजन् पुरोहितः।
   प्रेष्यतां धृतराष्ट्राय वाक्यमस्मिन् समर्प्यताम्॥ म.भा. उद्योग. 4.26
3. म.भा. उद्योग. 20.1
4. म.भा. उद्योग. 22 अध्यायः
5. म.भा. उद्योग. 23 अध्यायः
6. ब्रुवन् परार्थं परवान् न दूतो वधमर्हति। रामायणम्-सुन्दरकाण्डः 52.21
   न्यस्तशस्त्रो गृहीतो वा न दूतो वधमर्हति॥ रामायणम्-युद्धकाण्डः 25.21

यथोक्तवादिनं दूतं क्षत्रधर्मरतो नृपः।
यो हन्यात्पितरस्तस्य भ्रूणहत्यामवाप्नुयुः॥[1]

यदा उलूकः दूतरूपेण दुर्योधनस्य सन्देशं श्रावयितुमभैषीत् तदा ''उलूक न भयं तेऽस्ति ब्रूहि त्वं विगतज्वरः''[2] इति युधिष्ठिरेण प्रोक्तेनानेन वाक्येन दूतानां कृते सन्देशश्रावणे भीतिर्न भवेदिति द्योतते। यद्यपि हिरण्यवर्मणः दूतेन द्रुपदाय अप्रियसन्देशः संश्रावि तथापि द्रुपदेन न कापि हानिर्विहिता।[3] यदा कृष्णः हस्तिनापुरं दूतरूपेण प्राविशत् तदा दुर्योधनः तं बन्धयितुं प्रायतत। किन्तु दूतरूपेण समागतः श्रीकृष्णः सर्वतोभावेन बन्धनयोग्यः नासीदिति धृतराष्ट्रवचनं संश्राव्य सः ततः निवृत्तः।[4] समग्रे महाभारते एतदेकमेव दूतं प्रति आचरितः असद्व्यवहारः संदृश्यते। अत्र दुर्योधनः श्रीकृष्णं दूतः इतिकृत्वा बन्धनाय न प्रायतत, अपि तु पाण्डवानां प्रबलसमर्थक इति। तच्च दुर्योधनेन स्पष्टमुक्तम्।[5]

अनेन महाभारतकाले दूतः सर्वदा अवध्यः इति, तस्य हन्ता निरयगामी भविष्यतीति ज्ञायते। दुर्योधनं विहाय न केनापि राज्ञा दूतेन साकम् अनुचितं व्याहृतमित्यपि अवबुध्यते।

चारव्यवस्था

विश्वस्मिन् विश्वे प्रादुर्भूतासु चारव्यवस्थासु वैदिककालिकचारव्यवस्था एव अत्यन्तं प्राचीना इत्यत्र नास्ति संशयलेशः। ततः प्रसृतेयं व्यवस्था अद्यावधि प्रचलन्ती एव अस्ति। महाभारतं राज्ञः अष्टविधबलेषु चारः अपि अन्यतमः इति

---

1. म.भा. शान्ति. 85.26-27
2. म. मा. उद्योग. 58-3
3. म. मा. उद्योग 192.18-19
4. म. भा. उद्योग 192.88-18
5. वयमेव हृषीकेशं निगृह्णीम बलादिव।
   प्रसह्य पुरुषव्याघ्रमिन्द्रो वैरोचनिं यथा।।
   श्रुत्वा गृहीतं वार्ष्णेय पाण्डवा हतचेतसः।
   निरुत्साहा भविष्यन्ति भग्नदंष्ट्रा इवोरगाः।।
   अयं ह्येषां महाबाहुः सर्वेषां शर्म वर्म च।
   अस्मिन् गृहीते वरदे ऋषभे सर्वसात्वताम्।।
   निरुद्यमा भविष्यन्ति पाण्डवाः सोमकैः सह। म. भा. उद्योग. 80.5-8

कथयति।[1] अनेन तस्मिन् काले चारमाहात्म्यम् अत्यन्तमासीदिति ऊहितुं शक्यते। तदानीन्तनराजा स्वराज्यगतविषयान् राज्यान्तर्गतविषयान् च चारमुखैनैव अज्ञासीत्। अत एव मन्वादिवत् महाभारतमपि नृपतिः चारचक्षुष इति ब्रवीति।[2]

चारकार्याणि

तत्र महाभारतं राज्ञा स्वराज्यस्थित-मन्त्रि-पुरोहित-सेनापत्यादीनाम् अष्टादशचार-पुरुषाणां पर्यवेक्षणाय राज्यान्तरविषये च पञ्चदशप्रदेशेषु पर्यवेक्षणार्थं चाराः नियोजनीयाः इति निर्दिशति।[3]

चारैः मन्त्रिपुरोहितादीन् रहस्यतया पर्यवेक्षणेन राज्ये उत्कोचादि-दुर्व्यवस्था नैव सम्भविष्यतीति आशयः। राज्यस्थ-प्रजाभिप्रायसङ्ग्रहणं शत्रुं वध्यः उत न, यदि वध्यः चेत् कदा? इत्यादिविषयाः राजा चारमुखेनैव जानाति स्म।[4]

राज्ञा एते चारा राज्यस्थितेषु उद्यान-विहार-देवालय-पानागार-कूप-पर्वत-वनादिप्रदेशेषु नियोज्याः इति महाभारतं वेदयति। येन प्रजायाः अभिप्रायः स्पष्टतया ज्ञातुं शक्येत।[5] पाण्डवा अज्ञातवासं कुत्र यापयन्ति इति ज्ञातुं कर्णः चारेभ्यः असूचयत् यत्'' स्फीताञ्जनपदाकुल-देशस्थ-गोष्ठीषु तीर्थेषु नदीकुञ्जेषु ग्रामेषु नगरेषु आश्रमेषु पर्वतेषु गुहासु च अन्विषेरन् इति।[6]

---

1. रथा नागा हयाश्चैव पादाताश्चैव पाण्डव।
   विष्टिर्नावश्चराश्चैव देशिका इति चाष्टमम्।।
   अङ्गान्येतानि कौरव्य प्रकाशानि बलस्य तु।। म. भा. शान्ति. 59. 41-42
2. बाह्यमभ्यन्तरं चैव पौरजानपदं तथा।
   चारैः सुविदितं कृत्वा ततः कर्म प्रयोजयेत्।।
   उदासीनारिमित्राणां सर्वमेव चिकीर्षितम्।
   पुरे जनपदे चैव ज्ञपतव्यं चारचक्षुषा।। म.भा.शान्ति. 86.19-20
3. मन्त्री पुरोहितश्चैव युवराजश्चमूपतिः।
   पचमो द्वारपालश्च षष्ठोऽन्तवेशिकस्तथा।
   चरान् विचारयेतत्तीर्थेष्वात्मनश्च परस्य च। म.भा. शान्ति. 89. 17-19
4. चारैर्विदित्वा शत्रूंश्च ये राज्ञामन्तरैषिणः।
   तानाप्तैः पुरुषैर्दूराद् घातयेथ नराधिप।। म.भा. आश्रम. 5.37-38
5. उद्यानेषु विहारेषु देवतायतनेषु च।
   पानागारेषु रथ्यासु सर्वतीर्थेषु चाप्यथ।।
   चत्वरेषु च कूपेषु पर्वतेषु वनेषु च।
   समवायेषु सर्वेषु सरित्सु च विचारयेत्।। म.भा.आदि 140.63-65
6. यथा न विद्युरन्योन्यं प्रणिधेयास्तया हि ते। म. मा. शा. 69.9

रहस्यानुपालनं कुर्वन् स्वराष्ट्र-परराष्ट्रगतविषयसेकरणं चरस्य मुख्यं कर्म। यदि अन्येन राज्ञा अयं परराष्ट्रस्य चारः इति विदिते सति तस्य स्थितिः अत्यन्तं शोचनीया भवति स्म । अतः महाभारतम् अनुयशासयति यद् चारः अन्येन ज्ञेयः न भेवत् इति।[1] महाभारतानुसारं मेधाविनः एव चाररूपेण नियोज्येरन्। ये च यथासन्दर्भं प्रवर्तयितुं क्षमाः आसन्। अत एव महाभारतकाले चारनियुक्तिः अत्यन्तं जागरुकतया क्रियते स्म।

आधुनिके काले यद्यपि वैदेशिकनीतिः प्रत्येकं राष्ट्रं भिद्यते तथापि सूक्ष्मतया परिशीलनेन विज्ञायते यत् प्रत्येकं राष्ट्रं यथाशक्ति परस्परसम्मानपूर्वकं सामोपायामाध्यमेनैव स्वकर्म साधयितुं प्रयतते इति, तद्विफले सत्येव दानभेदादिद्यन्योपायान् आश्रियते। चारकार्येषु दूतकर्मण्यपि तात्कालिकपद्धतेः अनुसरणमद्यापि क्रियते इति तत्कालिकवैदेशिकनीतेः वैशिष्ट्यं स्पष्टतया द्योतते।

सन्दर्भग्रन्थाः

महाभारतम्- नीलकण्ठीयव्याख्यासहितम्, चित्रकला प्रेस्, पुणे,1932.

महाभारतम्- सं सात्वलेकर,श्रीपाददामोदर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी,1952

महाभारतम्- सं सुक्तङ्कर वी.एस्,भण्डारकरप्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिरम्, पुणे 1956

Altekar, A.S., State and government in ancient India, Motilal banarasidas, Delhi, reprint 1984.

Chaudhari, p.k., Political concepts in ancient India, S.chand's company , New Delhi,1977.

Dandekar, R.N., The Mahabharata revisited, sahitya academy, New Delhi, 1990.

Goel, Aruna., Good governance and ancient sanskrit literature, deep &deep publications,Delhi, 2003.

Michael., (Ed) The concept of Rajadharma, Sandeep Prakasan, New Delhi, 2005.

Sukthankar, V.S., On the meaning of the Mahabharata, The Asiatic Society of Bombay,1957.

Spellman, John w., Political theory of Ancient India, Oxford University Press, New Delhi,1964.

✦✦✦

1. चारस्त्वविदितः कार्यः। शान्ति. 140.40

An Appraisal of Indian Culture in Sanskrit Inscriptions of Cambodia

Prof. Dr. C. Upender Rao
Professor of Sanskrit and Pali,
Special Centre For Sanskrit Studies,
Jawaharlal Nehru University,
New Delhi 110067, India

Abstract:

The richness of Sanskrit inscriptions in Kambuja, known popularly as Cambodia is phenomenal. Though the central characteristics of these Sanskrit inscriptions set on the eulogy of the kings and the descriptions of their numerous religious and village endowments, yet we also trace interestingly in these inscriptions the rich information of a variety of Indian cultural aspects. The following information of Indian culture and civilization can be found in these inscriptions- Śiva, Viṣṇu and other Hindu Gods, Details of Hindu Purāṇas, Vedic Tradition, Tāntricism and Buddhism, Literary aspects and texts of Sanskrit literature (Dharmaśāstra and Vyākaraṇa included), and the Hindu social order. A microscopic study on these aspects is presented by citing the original Sanskrit verses mentioned in inscriptions with their methodical explanation.

Introduction:

Cambodia is officially known as Kingdom of Cambodia which is one of the environmentally rich countries situated in South East Asia. Cambodia and India possess a long relation from ancient time. The arrival of Indian scholars had improved the Cambodian culture. In very ancient period Cambodia was known as *Kambuja-deśa*. *Īśāṇapura* was its capital city in the 7th century A.D. But from 9th to 13th centuries the Aṅgkor Empire had flourished with its new capital *'Yaśodharapura'* near the present day Siem Reap city. Cambodia has the magnificent

past. The only reliable source to know its history is the stone inscriptions and luckily most of them were collected during the French rule in Cambodia. The language used in most of these stone inscriptions was the Sanskrit, which was widely used in India during that period. These Sanskrit inscriptions are the real sources to reconstruct the history of Cambodia. The inscriptions in ancient Kambuja constitute the most valuable information of Sanskrit and Sanskrit based Indian culture, they serve like epigraphic records of India. They are the only evidences for recognizing the flourishing situation of Sanskrit language and literature in Cambodia which is situated far off from India. They suggest about the survival of Indian language and culture for more than 800 years. A large number of Sanskrit inscriptions have been found all over the Cambodia from 5th to 14th century A.D.

Number of Sanskrit inscriptions published as far back as 1885 and many other came into the notice of scholars from time to time especially after the foundation of the 'Ecole Francaise d'Extreme orient' in 1900. But for many years, scholars, mainly Indians were unaware of this fact. Ironically, the study of ancient Indian culture in south-east Asia is still in its infancy in India. This happened mainly due to the fact that the researches of recent past, ongoing and other information which gained momentum during the French rule was mainly developed in French and other foreign languages like Dutch and these languages are not known to most of the Indian scholars. The other reason being the lack of well established academic relations between South East Asia and India may be due to the political compulsions of many countries, especially of Cambodia in south East Asia. The only popularly known foreign language in India is English, in which a little information was available about the South-East Asia, till some years ago.

But the first systematic collection of Sanskrit inscriptions was made in Cambodia by M. Aymonier during French rule. Sanskrit inscriptions were edited by M. A. Barth and M. A. Bargaigne in two parts. In present century the epigraphic work was taken up systematically by 'Ecole Francaise' at Hanoi. M. Finot and George Coedès have published number of new Sanskrit inscriptions. Among them George Coedès undertook the publication of new Sanskrit inscriptions both in Sanskrit and Khmer, but the Sanskrit version was presented in roman script and not in Devanāgarī script. In the series

entitled "Collection de texts et documents sur L'Indochini" published by Ecole Francaise we can find the Sanskrit inscriptions of Cambodia. Its first volume was published in 1937, second 1942 and the third in 1951. A complete set of the new inscriptions was published in 6 volumes between 1926 and 1937 A.D.

Very few Indian Scholars have also published the Sanskrit inscriptions of Kambuja. Dr. R. C. Majumdar has published 300 such Sanskrit inscriptions under the name of 'Inscriptions of Kambuja' which was published in 1963 from Calcutta. His main objective of publishing these 300 Sanskrit inscriptions was to help Indian Sanskrit Scholar, particularly those who trained in orthodox schools for getting an idea of Sanskrit learning in Cambodia[1].

History:

Kambuja was much larger than the present Cambodia, which comprised the cochin-china and the parts of Laos and Thailand and across this country was flowing the mighty river Mekong which can be compared to river Gaṅgā in India. The Mekong itself derived from a Sanskrit word *'Mā-Gaṅgā'* and according to the local tradition within the Cambodia this country was named 'Kambuja' after the *'Kambu Svāyambhuva'*, a king of *Ārya-deśa* and this *Ārya-deśa* is the present India. The careful study of these Sanskrit inscriptions reveals the gradual development of kingdoms and the dynasties of kings in Kambuja.

Śrutavarman and *Śreṣṭha-varman* were the first historical kings. *Śreṣṭhapura* was the capital of Kambuja at that time. Later started the dynasty of *Bhava varman,* in the middle of 6th century A.D. this king made his capital *Bhavapura*. His brother *Mahendra varman* and his son *Īśāna varnan* extended the kingdom of Kambuja. *Jaya varman* 1st was the first king of his family. Later *Jayavarman* 2nd who had ascended the throne in 802 A.D. freed Kambuja from *Jāva*. He, after trying several places finally set capital in *Hariharālaya* in the Angkor region. Later *Jayavarman*-III then *Indra varman* have ruled. Then the famous king *Yaśovarman* (A.D. 889 C.-900 C.) who ordered for number of Sanskrit inscriptions in his kingdom had ruled Kambuja. In later period many kings have ruled and all they were the lovers of Sanskrit language and made numerous Sanskrit inscriptions in

1. Inscriptions of Kambuja, preface- i

Kambuja.

The subject matter of inscriptions:

Several facts related to ancient Kambuja can be understood by going through these Sanskrit inscriptions. Mainly, the reconstruction of social and religious history of Kambuja and many other interesting facts can be unveiled. The most important topics of these inscriptions are tribute of Kings and details of religious donations. Among these two topics, the tribute of Kings gives many historical facts such as the accession, reigning of the Kings. These facts help us highly in fixing the chronology of the Kings and dynasties of Kambuja with absolute precision. In India too, one can find such historical information through ancient Indian inscriptions, which were prepared not only in Sanskrit, but also in various Indian languages. The compositions of *Praśastis* of ancient India have followed the same practise of royal eulogy and religious endowments. The religious donations mentioned in ancient Sanskrit inscriptions contain abundant material for reconstruction of religious system of ancient Kambuja, because they contain the long lists of articles of daily worships such as utensils, other necessities, belonging to individuals and temples. They also contain the detailed accounts of properties (both movable and immovable) belonging to the temples and various other matters connected to the economic and social situations of that temple.

The most of the Sanskrit inscriptions found in Kambuja are *Śaivite* in character but some belong to *Vaiṣṇava* and few of them belong to Buddhist texts also, though it sounds surprising as Buddhism is the main religion in Cambodia now. Indeed, these inscriptions prove the fact of association of Hindu traditions by royal families of Cambodia. Even today the Buddhism is the state religion in that country for many years. We must understand that all these Sanskrit inscriptions were basically prepared by the Royal families and therefore obviously *Śaivism* and *Vaiṣṇavism* are the significant themes of these inscriptions.

Śaivism and Vaiṣṇavism:

All Sanskrit inscriptions of Kambuja reveal the Indian Culture and civilisations in all aspects. When Indian teachers and Kings reached and settled in Kambuja in 1st century A. D. the local people were almost semi-savages without wearing their clothes, but gradually Indian

social and religious ideas were deeply implanted in them. They started worshipping Śiva, Viṣṇu and Buddha. The interesting fact is that they worshipped Viṣṇu and Buddha side by side, and this system continues even today in Cambodia. Many religious sects of India like; Bhāgavaṭha, Pāñcarātra and Paśupata were prevalent in Cambodia. The Devadasi system and the caste system were also there. Vedāṅgas and Upavedas and other Vedic literature were studied in Kambuja. The adaption of purely Indian names was prevalent among not only kings and nobles but also among common people of the society.

The baying temple inscriptions dated 546 A.D. engraved on a single face of a sandstone stele contains 12 Sanskrit verses composed in *Vaṁśastha, Upajāti, Vaitālikā* and *Anuṣṭubh* meters. The inscription records the pious works of a *brāhmaṇa* named *Vidyāvindu* who was a grandson of *Dhruva* (Mr. Barth calls him *Vidyādivindvanta*) and grandson of *Dhruva Puṇyakīrti*[1]. The complete rendering of this inscription is not available as some fragments of verses were dilapidated. But the word *Dhruva Puṇyakīrti* appears to be an epithet.

The Sdokak thom stele inscription of King *Udayādityavarman* is historically an important inscription among all Kambuja inscriptions, it relates the history and religious foundation of a priestly family for two centuries and a half (802 - 1052 A.D.) and incidentally gives account of various things of this priest family and the details starting from *Jayavarman II* to *Udayādityavarman II.* This inscription was edited by Finot[2]. The temple sdokak thom is 15 miles away to the northwest of Sisophon. The inscription contains 192 lines in Sanskrit, 29 lines in Khmer followed by 2 lines in Sanskrit and 117 lines in Khmer. The Sanskrit text consists of 110 verses; the meters which were used to compose this inscription are *Śloka, Indravajra, Upendravajra, Mālinī* etc. Several facts can be revealed by the intense study of this inscription and several names of Hindu Gods can be found in it. The inscription starts with a salutation to God *Ṣiva* - "*Namaḥ ṣivāyāstu yadātmabhāvo..*" In verse no.4 it also mentions the God *Viṣṇu*-

Lakṣmīpatirvvovatu yasya lakṣmīr-
vakṣasthitā kaustubha-bhūṣaṇāya

---

1. *Dwijātisūnurdwijasattamasya dhruvasya napta dhruvapuṇyakīrte....verse 7 Vidyādivindvanta-gruhītanāmnā tenaikatanena śubha-kriyāsu.....verse 8*
2. In BEFEO. XV (2) p53 and Aymonier (II. 250)

Snihyāmi sāhaṁ kaṭhinasvabhāve-
ṣvapyāśriteṣvyatra sadeti nūnam[1]

His majesty *Paramaśivāloka* founded the town of *Yaṣodhara-pura* and took the royal guard from there to *Hariharālaya*. Then the King erected the central mountain *Vāmaśiva,* the preceptor installed the *liṅga* in it with the aid of Royal service and informed the King. He was anxious to make another foundation and requested the King to grant him a land in *Varṇavijaya* close to *Bhadragiri* which belonged to *Steṅ añ rudrācarya.* He founded their villages called *Bhadrapattana* and *Bhadrāvāsa*. The King gave him the *liṅga* more than two cubits high of the central mountain to be installed at *Bhadrapattana*. He also gave an image of *Bhagavatī* which was installed in the country of *Bhadrāvāsa* in the land of *Bhadrapaṭṭaṇa*.[2]

In the kingdom of *Śrī Sūryavarman* interestingly, he installed the images of *Śankara* (Lord Śiva), *Śārṅgī (Viṣṇu)* and *Saraswatī* (Goddess of education) in *Bhadrapaṭṭaṇa* following the rules of Sanskrit scriptures, and worshipped them for a long period[3].

In this way the entire Sdokak thom stele inscription of *Udayādityavarman* is full of the descriptions of various Hindu Gods and Goddesses and Tāntrism and the use of actual *tāntric* texts which are well known in India.

Literary Aspects:

Sanskrit inscriptions were found in many countries but the Sanskrit inscriptions found in Kambuja are indeed the extraordinary compositions as they were written in a beautiful and almost matured impeccable Sanskrit *Kāvya* style. It is not difficult to understand the Sanskrit scholarship of Sanskrit scholars, who were living in Kambuja,

---

1. Sdokak thom stele inscription of King *Udayādityavarman-verse 4*
2. *Sa bhadrapaṭṭaṇabhikhye tatra bhūmyam kṛte pure*
   Kṣoṇīndraḥ sthāpayāmāsa gurvartham lingamaiśwaram.... verse 45
   Sa bhogam pradadou tasmai karaṅka-kalaśādikam
   gavādidraviṇam bhūri dāsadāsi-śatadwayam.....verse 46
   Sa bhadrapaṭṭṇa-kṣoṇyam bhadrāvāsapure kṛte
   nyadhānnimāṁ sarasvatyaḥ śivāśrama udāradhīḥ.....verse 48
   Pure tatra kṛte liṅgamaiśwaraṁ sa kṛtīśvaraḥ
   Sthāpayāmāsa vidhinā dhanyadhīḥ kulabhūtaye.....verse 50
3. *Srīsūryavarmaṇo rājye so'rccāṁ śaṅkara-śārṅgiṇoḥ*
   Sarasvatyāśca vidhinā nidadhe bhadrapaṭṭṇa.....verse 60

and their thorough acquaintance with different meters of Sanskrit poetics and most developed rules and conventions of rhetoric and prosody. The Vat thipedi inscription of *Īśānavarman II* dated 832 A.D. is a fine example for this[1]. The Vat Thipedi (*Adhipathi* in Sanskrit) is a name of a small temple in the district of Siem Reap. This inscription is written in Sanskrit and contains 19 verses in it.

After invocation of *Śiva, Viṣṇu, Brahma* and *Umā,* it continues a eulogy of King *Yaṣovarman* (He ascended the throne in 811 A. D. of *Śaka* era) and of his two sons, *Harśavarman I* and *Īśānavarman II.* These three Kings had highly honored a learned ascetic named, *Śikhāśiva* whose learning and virtues are highly described in this inscription.[2]

This Vat thipedi inscription of *Īśānavarman II* offers a good specimen of *(Gauḍī-rīti* of Sanskrit poetics). The French scholar G. Coedes had regarded the author to be the inhabitant of *Gauḍa* region. The exquisite *Kāvya* style can be found in the following verses of the inscriptions -

Namo'naṅgāṅga-nirbhaṅga-saṅgine'pi virāgiṇe
aṅganāpaghanāliṅga-līnārdhāṅgāya śambhave....*verse 1*

Pātu vaḥ puṇḍarīkakṣavakṣo-vikṣiptakaustubham
Lakṣmīstanamukhākliṣṭa-kaṣaṇakṣāma-cāndanam....
verse 2

Bodadhva-dhvāntasaṁrodha-vinirdhūta-prajādhiye
dhvānta-dhvad-dvedanādarddhi-medhase vedhase namaḥ..
verse 3

In eastern Baray stele inscription of *Yaśovarman,* we can find figures of speech used in many verses e.g. one of the verses of this inscription explains the composer's profound knowledge of Sanskrit poetics.

Krodhādivahnayoyasya na manākśekurīkṣitum
Tannivāseśvaraśiro-gaṅgāraya-bhayādiva

Which means the fires of anger etc. could not venture to disturb the mind of *Śiva* as if they are afraid by the waters of river *Ganges*

---

1. The inscription was edited by G. Coedes in 'Melange sylvain Levi', p. 213 and noticed by Ayemonier (II.379)
2. Verses 1- 5

which is on his head. Here, we can find a figure of speech named *Utprekṣā.* According to Sanskrit poetics the words; *manye, śaṅke* reveal *Utprekṣā* and the words *iva* also is capable of revealing *Utprekṣā*[1].

King *Yaśovarman* was described as a conqueror of Poet *Pravarasena.* The poet *Pravarasena* and his famous *Prākṛt* poem, '*Setubandha*' are very phenomenal in Indian *Prākṛt* Literature. By this we can understand that not only Sanskrit even *Prākṛt* has entered from India into Kambuja[2].

Vedic Literature:

In Pre Rup stele inscription of *Rajendravarman* dated 883 A. D. (edited by G. Coedes) (*I C*- 73) one can find many references of Vedic scriptures. It testifies to an intimate knowledge of literature on the part of the author. Apart from allusion to epic and Puraṇic legends and mythology there are evident references to *Atharvaveda, Rāmāyaṇa, Mahābhārata* and *Pāṇini.* One of the verses reveals the knowledge of *Atharvaveda* which its composer possessed.

Vyatītavatyām śaradi-krameṇa
diścakravālāttatavappalakśamyā
Hemanta-lakśmīrabhiśektumāśaḍ
yamyogyamātharvaṇikīva-siddhiḥ....*verse 94*

Likewise, *Vedas, Vendāṅgas* and *Upāṅgas* were mentioned in various verses of Sanskrit inscriptions of Kambuja.

Rāmāyaṇā and Mahābhārata:

In the same Pre Rup stele inscription of Rajendravarman dated 883 A. D. we can find the references of *Rāmāyaṇā* and *Mahābhārata*. The enemies of the King were afraid like the demon *Mārīca* was afraid of *Rāma*[3]. In another verse of the same inscription the legend of *Mahābhārata* can be found. In this verse all important names of warriors of *Mahābhārata* are revealed like; *Yudhiṣṭhira, Bhīṣma, Duryodhana*

---

1. *Manye ṣaṅke dhṛvam prāyaḥ nūnam ityevamādibhiḥ*
   utprekṣā vyajyate śabdaiḥ iva śabdo'pi tādṛśaḥ
2. *Yenapravarasenena dharmasetum vivṛṇvatā*
   paraḥ pravaraseno'pi jitaḥ prākṛta-setukṛt.....verse 34
3. *Mārīca iva rāmasya nāmādyekākśarāśrava*
   yasyārirājo vīro'pi jagāmānanyajām bhiyam

etc[1]. Also a subsequent verse reveals the legend of *Mahābhāratha*[2].

Purāṇās:

The Pre Rup stele inscription of Rajendravarman dated 883 A.D. reveals the knowledge of purāṇās in many places describing the qualities of the King *Rājendravarma.* The author of the inscription says that in which way Lord Kṛṣṇa had protected the cows by lifting a mountain named *govardhana* steadily in the same way the King had ruled the earth[3].

Vyākaraṇā:

Vyākaraṇā, the science of grammar is considered to be the most important sciences in ancient India (*prathame hi vidvāṁso vaiyākaraṇāḥ* etc - *Ānandavardhana* in the 1st *Udyota* of *Dhvanyālokā*). The Pre Rup stele inscription of *Rājendravarman* dated 883 A.D. also gives the profound knowledge of Sanskrit grammar of its composer. Describing the qualities of the king the poet says,

Nakevalam padavidhou yaḍvāgvarṇṇa-vidhāvapi
vyāpṛtā nopameyaiva samartha-paribhāśaya.[4]

In this verse the poet describes the method of ruling the way of the King giving the example of *Paribhāṣa sūtra* of grammar. This inscription begins with the eulogy of Lord *Śiva, Brahma, Vāsudev* and *Nārayaṇā*.

A new poem named *Manohara* seems to be referred by the author of this inscription in verse 221. The author also mentions the *Yogācara* system of Buddhism in verse 225. This verse also reveals the other important philosophical names of Buddhism[5]. Few verses (268-273) refer to the religious foundations of the King and verses from 277 to 285 mention the construction of a temple (Pre Rup) where this inscription was engraved. It was built in 883 śaka era (=961 A. D.)

---

1. Verse 83 of Pre Rup stele inscription of *Rājendravarman* dated 883 A.D.
2. Ibid, Verse 85
3. *Gomaṇḍalasyopakṛtiñcikīrṣu-runmūlayan-bhūmibhṛtam bhujena govarddhanam kṛṣṇa ivāspade yo bhūyassvakīye kṛtavānakampyam.. verse 86*
4. Verse 209 (Pre Rup stele inscription of *Rājendravarman* dated 883 A.D.)
5. Ibid, Verse 275

and dedicated to *lingarājendra-bhadreśvara*.

The Sdok kak thom stele inscription of *Udayādityavarman* (Edited by Finote) consists of 130 Sanskrit verses composed in various meters were used. Some of the meters used in this inscription are *Śloka, Indravajra, Upendravajra, Malinī, Aupacchandasikā, Vasantatilakā, Puṣpitāgrā and Samavṛtta.* Likewise, Pre Rup stele inscription of *Rajendravarman* also consists of many Sanskrit meters such as *Vamśasthā, Upajāti, Vasantatilakā, Mandākrāntā, Śardūlavikrīdita, Sragdharā and āryā.*

The four Eastern Baray inscriptions of king Yaśovarman were written in North Indian script. Each one of these inscriptions contain the 108 verses. They have many parameters of *Āśramas* in which fresh arrivals from India lived and they were not acquainted with the local script of Kambuja and therefore they followed their own script. Such migrations were depicted in several inscriptions.[1]

✦✦✦

1. See the Prah Bat stele inscription of Yaśovarman dated 811 A.D.. Prah Einkosei inscription of *Jayavarman V*, Dated 890 and 892 A.D. , Prasat kok Po inscription of *Jayavarman VI Dated 1018 etc.*